वैदिक व्याख्यान माला

१ मधुच्छन्दा ऋषिका अग्निमें आदर्श पुरुषका दर्शन।
२ वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त।
३ अपना स्वराज्य।
४ श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति और सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घायु।
५ व्यक्तिवाद और समाजवाद। ६ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।
७ वैयक्तिक दिव्य जीवन और राष्ट्रीय उन्नति।
८ सप्त व्याहृति। ९ वैदिक राष्ट्रगीत। १० वैदिक राष्ट्रशासन।

सजिल्द ५) रु.



वैदिक व्याख्यान माला – प्रथम व्याख्यान

ब्रह्मर्षि मधुच्छन्दाने किया हुआ

अग्नि देवतामें

आदर्श पुरुषका दर्शन

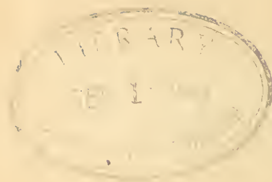
लेखक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

स्वाध्यायमण्डल, ' आनन्दाश्रम ', किल्ला-पारडी, जि. सूरत



मूल्य छः आने



ॐ

ब्रह्मर्षि मधुच्छन्दाने किया हुआ

अग्नि देवतामें आदर्श पुरुषका दर्शन



आज हम ऋग्वेदके प्रथम अग्नि सूक्तका मनन करना चाहते हैं। इस सूक्तका प्रथम मंत्र इस तरह ऋग्वेदके प्रारम्भमें आता है—

ऋग्वेदका प्रारंभ

अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ॥
होतारं रत्नधातमम् ॥ १ ॥

इस मन्त्रके प्रारम्भमें " अग्नि " पद है और इस अग्नि पदका प्रारंभ ' अ ' अक्षरसे होता है,। यही ' अ ' अक्षर ओंकारमें भी पहिला अक्षर है।

अकारका महत्त्व

अकारका संस्कृतभाषामें क्या, पर जगत्की सभी भाषाओंमें बडा ऊंचा स्थान है। अकारका जितना प्रयोग हर एक भाषामें होता है; उतना प्रयोग किसी अन्य अक्षरका नहीं होता। इस अकारसे ही भाषाके सभी अक्षर बनते हैं। मानो ' अ ' कारने सब भाषाओंके सभी अक्षरोंके रूप धारण करके सब भाषाएँ बना दी हैं। मानो ' अ ' कार ही सभी भाषाओंमें व्याप्त हुआ है। इसी मंत्रमें देखिये– अ (आ) १४, इ (ई) ४, उ १, ऋ १, ए २ और ओ २ बार आगये हैं। अन्य अक्षर इसी तरह अकारकी अपेक्षासे बहुत कम बार आगये हैं। इस तरह अकारका प्रयोग भाषाओंमें अधिक है। जिस तरह ब्रह्म सब विश्व-- रूपमें व्याप्त है अतः ' विश्वरूप ' कहा जाता है, उसी तरह यह ' अ ' कार भाषाके सब शब्दोंमें व्याप्त है। इसी लिए ओंकारमें यह अक्षर प्रथम स्थानमें रहा है और ऋग्वेदका भी इसी अक्षरसे प्रारम्भ हुआ है। अर्थात् ऋग्वेदमें भी अकार ही प्रथमाक्षर है।

ओंकार

ओंकार प्रत्येक मंत्रके प्रारम्भमें बोला जाता है। यह ओंकार अत्यन्त पवित्र तथा बडा उपयोगी उपदेश देता है। ओंकारमें " अ-उ-म् " ये तीन अक्षर हैं। ' अ ' ऋग्वेदके प्रारम्भमें है। ' उ ' यजुर्वेदके मध्य (वा० य० २०।९०के अन्त) में है, तथा ' म् ' सामवेद (गानग्रन्थों) के अन्तमें है। इस तरह तीनों वेदोंसे ये तीन अक्षर लेकर ओंकार बनां है। ऐसा वर्णन उपनिषदोंमें आया है और वह सत्य है।

ओंकारका ' अ ' कार मुखके कण्ठस्थानमें प्रारम्भमें ही उत्पन्न होनेवाला अक्षर है। कण्ठमें इसके नीचेके स्थानमें किसी अन्य अक्षरकी उत्पत्ति होती नहीं है। इसलिए ' अ ' आदिम या प्रथम अक्षर है। इसलिए यह अकार सब भाषाओंका आदि वा प्रारम्भ है। ' उ ' कारका मुखमें अन्तिम स्थानमें उच्चारण होता है। मुखसे उकारके स्थानसे बाहरके स्थानमें किसी अन्य अक्षरका उच्चारण नहीं हो सकता। इसलिए उकारको अन्त्य अक्षर कहते हैं। अकार और उकारके मध्यमें नाना प्रकारके अक्षर उच्चारे जाते हैं, और वे सब अक्षर ' अ ' और ' उ ' के बीचमें समाविष्ट होते हैं। इसीलिए भाषाका आदि ' अ ' कार और अन्त्य ' उ ' कार, इन आदि अन्त्योंके ग्रहण करनेसे बीचके सभी अक्षरोंका ग्रहण हो जाता है।

म् म् म्…………

उ प त ट च क अ

मुख गला

म्

अ—उ

इसलिए अ-उ-के ग्रहणसे सब भाषाओंके संपूर्ण सार-स्वतका ग्रहण हुआ। अब मकारके उच्चारणके स्थानका विचार ही शेष रहा है, इस मकारका स्थान नासिका है। नासिका स्थानका उच्चारण मुख बन्द करके भी होता है और चाहे तो खुला मुख रख कर भी होता है। ओंकारके उच्चारणोंमें मकार है जो ओंकार के अन्तमें शामिल किया है। अ-उ-म् इन तीन अक्षरोंसे क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद इन तीन वेदोंका ग्रहण होता है। अतः ओंकार संपूर्ण वेदका संक्षिप्त रूप है।

वेदके लक्षण

जिन मन्त्रोंकी पाद व्यवस्था होती है, वे ऋग्वेद मंत्र हैं। जब ये मन्त्र ताल स्वरमें आलापोंके साथ गाये जाते हैं तब वेही साम कहलाते हैं। साम शब्दमें ' सा-अम ' ये दो पद हैं। ' सा ' का अर्थ ऋचा और ' अम ' का अर्थ आलाप है, इसलिये सामका अर्थ पादबद्ध मन्त्रोंका गान ऐसा है। और जो गद्य मन्त्र होते हैं, उनका नाम यजुः है। ओंकारसे वे तीनों वेद बताये गये हैं। ऋग्वेदमें नाना देवताओंके मिषसे आदर्श दिव्य पुरुषका गुण वर्णन किया गया है। यजुर्वेदमें प्रशस्त कर्म करनेका उपदेश है और सामगानसे उद्विग्न हुए मनको शान्ति प्राप्त होती है। ओंकारके ' अ ' अक्षरका भाव, अकार सब अक्षरोंमें आदि होनेके कारण, " आदि होना वा प्रथम बनना " है। ' उ ' अक्षर अन्तिम श्रेष्ठ अवस्थाको प्राप्त करनेका बोध करता है। और ' म ' अक्षर माननीय होनेकी सूचना देता है। अर्थात्—

१ अ- आदि होना, प्रथम होना,

२ उ- उत्तम होना, श्रेष्ठ बनना,

३ म्- माननीय होना, सन्मानके योग्य होना,

ये तीन अक्षर मनुष्यको ये तीन उपदेश देते हैं कि (१) तुम सबमें प्रथम बनो, (२) सबमें श्रेष्ठ बनो और (३) सबके सम्मानके योग्य बनो। इन तीनों उपदेशोंका सामूहिक नाम ओंकार है। ओम्‌की व्युत्पत्ति ' अवति इति ' ओम् ' अर्थात् जो संरक्षण करता है वही ' ओम् ' है। संरक्षणमें आदि, उत्तम और माननीय होना सम्मिलित है। इसीलिए ओंकार मन्त्रोंके प्रारम्भमें बोला जाता है। मन्त्रका उपदेश ऐसा श्रेष्ठ बननेकी साधना बताता है।

अब देखिये, अपने आजके मननके लिए हमने लिये हुए प्रथम मन्त्रका प्रारम्भ अकारसे हुआ है; यह अकार बताता है कि साधकोंको प्रथम स्थान प्राप्त करनेका यत्न करना चाहिए अपनी जातिमें प्रथम बनना चाहिये, अग्रणी बनना चाहिये। यह बात इस मंत्रमें किस तरह बतायी है वह देखिए।

प्रकट अर्थ और गुह्य अर्थ

मन्त्रके प्रारम्भमें ' अग्निं ईडे ' ये दो पद हैं। " मैं अग्निकी स्तुति करता हूँ " यह इन दो पदोंका प्रकट अर्थ है। वेदके मन्त्रोंमें एक प्रकट अर्थ होता है और दूसरा गुप्त वा गुह्य अर्थ होता है। यह गुह्य अर्थ मनन करनेसे व्यक्त होता है। यही अर्थ मुख्य और साधकको उन्नतिका सरल मार्ग बतानेवाला है।

मनन करनेके लिये मन्त्र

' मन्त्र ' उसका नाम है जो मनन करनेका विषय होता है। ' मननात् मन्त्रः ' मनन करनेके पद समुदायको मन्त्र कहते हैं।

मनन करनेके लिये ही मन्त्र होनेके कारण बिना मनन किये उनसे लाभ नहीं हो सकता। जो लोग केवल मन्त्र पाठ करते हैं और केवल प्रकट अर्थको ही देखते हैं; उनको वेद-मन्त्रोंसे वह लाभ नहीं हो सकता, कि जो मनन करनेसे होता है।

ऋषि, देवता, छन्द

मनन करनेके समय ऋषि, देवता और छन्द देखना चाहिए। इस सूक्तका ऋषि 'मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः' है। देवता 'अग्नि' और छन्द 'गायत्री' है। मधुच्छन्दा विश्वामित्रका पुत्र है। 'विश्वामित्रः सर्वमित्रः' जो सबके साथ मित्रताका व्यवहार करता है, उसका नाम विश्वामित्र है। इसका पुत्र मधुच्छन्दा है। मधुरिमाका विश्वमें अनुभव करनेका जिसको उत्तम छन्द या व्यसन है। सर्वमित्रकी ही ऐसी उत्तम सन्तान हो सकती है। सबके साथ मित्रता करना, मित्रकी दृष्टिसे सबकी ओर देखना और सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त मधुरिमाका साक्षात्कार करना, इस ऋषिका स्वभाव है। इस मन्त्रका छन्द गायत्री है। जो " गायन्तं त्रायते " गान करनेवालेका संरक्षण करती है वह गायत्री है। इस मन्त्रका मननपूर्वक गुह्य अर्थ देखकर, उसके अनुसार आचरण करनेवालेका निःसन्देह संरक्षण होगा। यह इस मन्त्रके मनन करनेका महत्व है। इसी लिए हम इस मन्त्रका मनन करते हैं।

अग्निं ईडे

" अग्निं ईडे " इन दो पदोंमें ' ईडे ' पदका अर्थ स्तुति करता हूँ, वर्णन करता हूँ, प्रशंसा करता हूँ, सत्कार करता हूँ, आदर करता हूँ ऐसा है। जिसका आदर करना है, वह आदरणीय वस्तु 'अग्नि' पदसे बतायी है। " ज्वलिष्यामि अहं-इति-अग्निः दध्रे " मैं जलता रहूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा अग्निने उत्पन्न होते ही की, ऐसा वर्णन ऐतरेय उपनिषद्में किया है। स्वयं जलना और विश्वको प्रकाश देना यह अग्निका स्वभाव है।

आत्मसमर्पणका आदर्श

विश्वमें प्रकाश फैलानेके लिए, विश्वके अज्ञान अन्धकारको दूर करनेके लिए, यह अग्नि स्वयं जलता रहता है, विश्वकल्याणके लिए अपनी पूर्णाहुति देता है। इस कारण अग्नि पूर्ण त्यागका, आत्मसमर्पणका प्रतीक है। यह जब तक जीवित रहेगा, तबतक जलता ही रहेगा। यह आत्मसमर्पण करता ही रहेगा, अपने जीवनके अन्तिम क्षणतक आत्मसमर्पण करके विश्वकी सेवा करनेके लिए प्रकाश देता ही रहेगा। लोग इसके प्रकाशका उपयोग करें वा न करें, पर यह अपने प्रकाशसे विश्वभरमें उजाला फैलानेका कार्य करता ही रहेगा। यह आत्म-यज्ञ करनेका उत्तम आदर्श है।

उच्चगतिसे प्रगति करना

यहाँ अग्निका एक और गुण विचारकी दृष्टिसे देखने योग्य है। " अग्नेः ऊर्ध्व-ज्वलनं " अर्थात् अग्नि जलता रहता है वह ऊर्ध्व दिशासे जलता है, उसकी ज्वालाएं ऊर्ध्व दिशासे उपर जाती हैं, कभी नीचेकी ओर नहीं जाती। अपने जीवनके अन्तिम क्षण तक इसकी ज्योति उच्च गतिसे ही जायगी, कभी नीचेकी अवस्थामें नहीं जायगी। यह उच्च दिशासे ही अपनी प्रगति करता है, नीच अवस्थामें जाता ही नहीं। " अगति गच्छति इति अग्निः " जो गतिमान है, जो स्वभावसे उच्च दिशासे प्रगति करता और कराता है, वह अग्नि है। जो उच्चदिशासे जाता है, वही नेता सन्मानके योग्य है। जो अधोगतिको पहुंचानेवाला है, वह सन्मानको किस तरह प्राप्त हो सकेगा। यह अग्निका स्वभावधर्म उसकी प्रशंसा कराता है।

अपने प्रकाशसे मार्गदर्शन

प्रकाश देनेवाला अपने प्रकाशसे विश्वको मार्ग बताता है। कितने मार्ग हैं और उनमें कौनसा मार्ग उत्तम है और किस मार्गमें कंटक, पत्थर, गढे वा हिंसक पशु नहीं हैं ? किस मार्गमें भय नहीं है और कौनसा मार्ग सरल है इसका ज्ञान प्रकाश रहनेसे ही हो सकता है। इस तरह अपने प्रकाशसे विश्वको ' मार्ग दर्शन ' करना यहाँ अग्निका गुण हमें विदित हुआ।

अग्रणी

जो अपने प्रकाशसे मार्गदर्शन करता है, वही अन्तिम प्राप्तव्य स्थान तक ले जाता है। इसीलिए अग्निकी व्युत्पत्ति निरुक्तकार ऐसी मानते हैं- " अग्रे-नी, अग्रनी, अग्रणी, अग्-रनी, अग्-नी, अग्नि " अर्थात् अग्रणी ही अग्नि कहलाता है। लोग भाषामें अग्रणी नेताको कहते हैं। नेता भी अन्तिम प्राप्तव्य स्थान तक अनुयायियोंको ले जानेवालेका नाम है। अपने प्रकाशसे नेता अपने अनुयायियोंको मार्ग बतावे, प्राप्तव्य स्थान प्राप्त होनेतक बीचमें ही न छो

निःसन्देह प्राप्तव्य स्थानको प्रमाद रहित रीतिसे पहुँचावे, वही अग्रणी है और वही अग्नि है। मानो अग्रणीका संक्षिप्त नाम ही अग्नि है।

इतने विवरणसे इस बातका पता लगा कि—

(१) जो प्रकाश देता है, (२) जो आत्म समर्पण करता है, (३) मार्ग बताता है, (४) जो अन्तिम उच्च अवस्था तक अनुयायियोंको पहुँचाता है, (५) जो बीचमें अधूरी अवस्थामें अनुयायियोंको नहीं छोडता, (६) जो प्रमाद नहीं करता, और (७) जो उच्च दिशामें प्रगति करता और करवाता है। उस अग्रणीकी मैं प्रशंसा करता हूँ, उसका मैं आदर करता हूँ. उसीकी मैं स्तुति करता हूँ। यह ' अग्निं ईडे ' का रहस्य-पूर्ण अर्थ इस समय तक किये मननसे प्राप्त हुआ।

सन्मानके अयोग्य

अब अर्थापत्तिसे इसके विरुद्ध जो होगा, वह सन्मानके योग्य नहीं होगा। अर्थात् (१) जो प्रकाशसे मार्ग नहीं बतायेगा, (२) जो अज्ञान वा भ्रान्त विचार फैलावेगा, (३) जो अयोग्य नीच मार्गसे ले जायगा, (४) अन्तिम सिद्धि तक न पहुँचाते हुए अनुयायियोंको जो बीचमें ही छोड देगा, इस तरह पूर्वोक्त शुभ गुणोंके विरुद्ध जो अशुभ गुणवाला होगा, वह आदरणीय बनने योग्य नहीं है।

पूर्ण हित करनेवाला

' अग्निं ईडे ' इस वेद वचनके मननसे यह बोध प्राप्त हुआ। इसके बाद अग्निका विशेषण ' पुरोहितं ' आया है ' पुरोहितं ' का अर्थ (पुरः हितं) ' पुरस्तात् हितं ' अर्थात् अपने समीप रखा हुआ, समीप रहकर हित करने वाला, अथवा पूर्ण रीतिसे हित करनेवाला ऐसा होता है। यह पूर्वोक्त अग्रणी रूप अग्नि समीप रहकर हित करनेवाला अथवा पूर्ण रीतिसे हित करनेवाला है। यह अग्रणी प्रकाश बता कर अनुयायियोंको सन्मार्गसे ले जाकर पूर्ण अन्तिम उच्च अवस्था तक पहुँचानेवाला, निःसन्देह सिद्धि तक पहुँचानेवाला होता है। अर्थात् जो पूर्ण हित करनेवाला न हो और समीपस्थ भी न हो, परन्तु अहित करनेवाला हो वह आदरके योग्य नहीं है। " पुरोहितं अग्निं ईडे " इसका अर्थ यह हुआ कि " पूर्ण हित करनेवाले अन्तिम पूर्ण अवस्था तक पहुँचानेके लिए मार्ग बतानेवाले अग्रणी नेताका हम सत्कार करते हैं। " जो इसके विपरीत होगा वह हमारे आदरके योग्य नहीं होगा।

सत्कार-संगठन-दानरूप यज्ञ

इसके पश्चात् मन्त्रके पद " यज्ञस्य देवं " ये हैं। ' देव ' शब्दका अर्थ प्रकाश करनेवाला, दाता, उत्तम व्यवहार चलानेवाला और तेजस्वी ऐसा है। यज्ञ वह सत्कर्म है कि इसमें पूजनीयोंके सत्कार होते हैं। आपस की संघटना की जाती है और निर्बलोंको सहायता दीजाती है। ये सत्कार, संगठन, दानरूप त्रिविध कर्म यज्ञके होते हैं। " यज् देवपूजा-संगतिकरण-दानेषु " इस धातुसे यज्ञ पद बनता है। यज्ञमें ये तीन शुभ कर्म अवश्य होने चाहिए। यह अग्नि ऐसे शुभ कर्मोंका प्रकाशक है, दर्शक है, बतानेवाला है। यहाँ पूर्वोक्त अग्निके गुणोंमें और तीन गुण सम्मिलित हुए हैं। अग्रणी पूजनीय विबुधोंका सत्कार करे, अनुयायियोंमें संगति अर्थात् संगठन का बल बढावे और निर्बलोंको, उनकी आवश्यक शक्ति प्रदान कर, बलवान बनावे। निर्बलता चार प्रकारकी होती है। (१) ज्ञानके अभावके कारण होनेवाली निर्बलता, (२) शौर्य, वीर्य, धैर्य आदि क्षात्र गुणोंके अभावके कारण होनेवाली अशक्तता, (३) धन, कृषि, वाणिज्य आदिके न होनेसे बननेवाली आर्थिक निर्बलता, (४) और चौथी निर्बलता वह है कि जो शिल्पके अभावसे होती है। इनमेंसे एक एक निर्बलता व्यक्तिका और राष्ट्रका घात करनेवाली है। फिर जहाँ चारों निर्बलताएँ हों वहाँ कितना अनर्थ होगा, इसका ज्ञान विचार करनेवाले लोग प्राप्त कर सकते हैं। यज्ञमें जो दान है वह इन निर्बलताओंको दूर करनेके लिए है। इस तरहके यज्ञोंका प्रकाशक यह अग्रणी देव है। अर्थात् इन शुभ प्रशस्त कर्मोंको करने वाला है और इन कर्मोंके द्वारा लोगोंका सुख बढानेवाला है। इस तरहके कर्म करनेवाले अग्रणीका हम आदर करते हैं। इसके विरुद्ध वर्तन करनेवालेका हम आदर नहीं करते। यह मार्गदर्शन इन शब्दोंके अर्थ द्वारा हुआ है।

ऋतुओंके समय यज्ञ

इससे अगला पद " ऋत्विजं " है, यह अग्निका

विशेषण है " ऋतौ ऋतौ यजते, स ऋत्विक्, तं ऋत्विजं " जिस ऋतुमें जैसा यजन करना चाहिए वैसा जो यथा योग्य रीतिसे करता है, प्रमाद नहीं करता, वह ऋत्विक् कहलाता है। दो ऋतुओंकी संधिके समय जल-वायुमें उष्णता और शीतलतामें परिवर्तन होता है। इस लिए ऋतु संधिमें व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। इन व्याधियों के रोगबीज जलवायुमेंसे हटानेके लिए विशेष विशेष प्रकार के यज्ञ होते हैं। इस विषयमें गोपथ ब्राह्मणमें कहा है—

ऋतु संधिषु वै व्याधिर्जायते।
ऋतु संधिषु यज्ञाः क्रियन्ते॥ गोपथ ब्राह्मण

अर्थात् ऋतु संधियोंमें रोग उत्पन्न होते हैं, इसलिए उनके निवारणार्थ ऋतुओंके सन्धि समयमें यज्ञ करने होते हैं। इस तरह ऋतु संधिमें कौनसे रोग होते हैं और उनके निवारणार्थ किस तरहका यज्ञ किस रीतिसे करना चाहिए। इस यज्ञशास्त्रका ज्ञान जिसको है, उसको ऋत्विक् कहते हैं। किन औषधियोंका प्रयोग यज्ञमें किस तरह करनेसे किस रोगका शमन होता है। इसका यथावत् ज्ञान ऋत्विक् को चाहिए। ऐसा ऋत्विक् ही अग्रणीरूप अग्नि है।

जो इस तरह योग्य ऋतुमें योग्य हवन करके रोग शमन करनेवाला होगा उसका हम आदर करेंगे और जिसमें इसका ज्ञान न होगा उसका हम समादर नहीं करेंगे, यह भाव " ऋत्विजं अग्निं ईडे " इन पदों का है।

दाता और आदाता

मन्त्रमें अगला अग्निका विशेषण " होतारम् " आया है। " होतारं " के तीन अर्थ हैं। दाता, आदाता और आह्वानकर्ता। दान देनेवाला, लेनेवाला और विबुधोंको बुलानेवाला। देवताओंको, ज्ञानियोंको, विबुधोंको, श्रेष्ठोंको अग्नि यज्ञमें बुलाता है। जो यज्ञ करता है उनको धन, यश और उच्च स्थान देता है। तथा अर्पण किये हुए वस्तुका स्वीकार भी करता है। ये तीन कार्य करनेवाला 'होता' कहलाता है। यह अग्रणी इस तरहका 'होता' है। जो योग्य वस्तुको लेता है, सत्पात्रमें दान करता है और विबुधोंको बुलाकर अपने पास यज्ञ स्थानमें सत्कार करके रखता है। उस अग्रणीका हम सन्मान करते हैं। यह तात्पर्य " होतारं अग्निं ईडे " इन तीन पदोंका है।

अर्थापत्तिसे इन्हीं पदोंसे यह बोध मिलता है कि जो सत्पात्रमें दान नहीं करता, अथवा कुपात्रमें दान करता है, जो योग्य वस्तुका स्वीकार नहीं करता, परन्तु अयोग्य वस्तुओंका संग्रह करता है। तथा जो विबुधोंको अपने पास नहीं लाता, परन्तु दुष्टों दुर्जनों वा आततायियों को अपने पास रखता है, इसका किसी को आदर नहीं करना चाहिए।

रत्नोंका धारण करनेवाला

मन्त्रका अन्तिम पद " रत्नधातमं " है। " रत्नानि धारयति इति रत्नधाः, अतिशयेन रत्नधाः रत्नधातमः तं रत्नधातमं " अर्थात्–जो अपने अनुयायियोंको रत्नोंका अथवा रमणीय पदार्थोंका प्रदान करता है और उनसे उनका धारण करवाता है। अथवा अनुयायियोंके सुन्दर वस्त्र, प्रावरण आभूषणादिकोंके धारण करनेसे जो प्रसन्न होता है, आनन्दित होता है वह नेता 'रत्नधातमं' कहलाता है।

अर्थापत्तिसे जो अपने अनुयायिओंको विपत्तिमें रखता है, वह आदरणीय नहीं है। यहाँ इतने विवरणसे प्रथम मन्त्रका रहस्य अर्थ और अर्थापत्तिसे निकलनेवाला भाव समझमें आया।

यहाँ तक जो प्रथम मन्त्रका मनन हुआ उसका संक्षिप्त भाव नीचेकी तालिकामें हम देते हैं।

प्रथम मन्त्रकी बोधदर्शक तालिका

मन्त्रके पद	अर्थ-बोध	अर्थापत्तिसे विरोधी भाव
१- पुरोहितः	१ समीपस्थित ।	१ दूरस्थित ।
	२ सम्पूर्ण हित करनेवाला।	२ अहित करनेवाला, घातक ।
२- यज्ञस्य देवः	३ सत्कार संगठन दानरूप कार्यका का प्रकाशक ।	३ द्रोह, विघटना, लूट आदि उपद्रव करनेवाला ।
३- ऋत्विज्	४ ऋतुके अनुसार हवन करनेवाला ।	४ ऋतुके विरुद्ध कार्य करनेवाला ।
४- होता	५ ज्ञान धनादिका दाता।	५ कन्जूस, दान न देनेवाला ।
	६ (सद्भावोंका) स्वीकर्ता ।	६ असद्भाव पास रखनेवाला ।
	७ विबुधोंको अपने साथ लानेवाला ।	७ दुष्टोंको अपने साथ रखनेवाला ।
५- रत्नधातमः	८ अनुयायिओंको रत्नोंका धारण करानेवाला ।	८ अनुयायियोंको विपत्तिमें रखनेवाला ।
६- अग्निः	९ स्वयं जलकर विश्वको प्रकाश देनेवाला।	९ अज्ञान अन्धकारका फैलाव करनेवाला ।
	१० सन्मार्ग बतानेवाला ।	१० बुरे मार्गसे ले जानेवाला ।
	११ अनुयायियोंको उच्चस्थान तक पहुँचानेवाला ।	११ अनुयायियोंको गिरानेवाला ।
	१२ उच्चादिशामें प्रगति करनेवाला।	१२ हीन अवस्थाको पहुँचानेवाला।
	१३ उच्च प्रगति करनेवाला, अन्तिम उच्च अवस्था तक पहुँचानेवाला ।	१३ बीचमें ही छोड देनेवाला ।
७- ईडे	१४ ऐसे नेताका हम आदर करते हैं, यह नेता प्रशंसनीय है, वर्णनीय है ।	१४ ऐसे घातकका हम कभी आदर नहीं करेंगे, यह निन्दनीय है।

इस मन्त्रके मननसे मनुष्यको उन्नत होनेके लिये किस तरह अपना आचरण करना चाहिए, इसका बोध मिलता है। यहाँ अग्नि देव मनुष्यके सामने आदर्श विभूति करके रखा गया है । मनुष्य स्वयं ज्ञान प्राप्त करके ज्ञानी बने, दूसरोंको ज्ञान देकर ज्ञानी बनावे, स्वयं सन्मार्गसे चले और दूसरोंको सन्मार्गसे चलावे । स्वयं उच्च आदर्श पर चले और दूसरोंको उच्च आदर्श पर चलावे । स्वयं तेजस्वी बने और अनुयायियोंको तेजस्वी बनावे । लोगोंको मार्ग

दर्शन करके उनको उच्च अवस्थामें ले जाना अपना कर्तव्य समझे इत्यादि ऊपर दिए हुए अग्नि देवताके गुण अपने अन्दर धारण करनेका यत्न करे। जो इन गुणोंको पूर्ण रीति से अपने अन्दर ढालेगा और इन गुणोंसे पूर्ण होगा, वही सर्वश्रेष्ठ वन्दनीय नेता बनेगा इसमें सन्देह नहीं।

इस मन्त्रका मनन करनेवाले साधक पूर्वोक्त अग्नि पदके सर्व विशेषणोंसे बोधित होनेवाले शुभ गुणोंको अपने अन्दर किस तरह ढाल सकते हैं, इसका अपनी परिस्थितिके अनुसार विचार करें और उन शुभ गुणोंको अपने अन्दर ढालनेका यत्न करें।

अग्नि नाम चूल्हेमें जलनेवाले अग्निका प्रसिद्ध है। परन्तु यहाँका अग्नि शब्द केवल आगका ही बोधक नहीं है। इसी मन्त्रमें " पुरोहित, ऋत्विज्, होता " ये शब्द यज्ञ कर्ता ऋत्विजोंके वाचक हैं। ये साक्षात् आगके वाचक नहीं हो सकते, इसलिए इस मन्त्रके अग्नि पदका भाव केवल आगकी अपेक्षा कुछ विशेष है। देखिये यजुर्वेदमें एक मन्त्र है...

प्रजापति अग्नि है

तदेवाग्निः, तदादित्यः, तद्वायुः, तदुचन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं, तद्ब्रह्म, ता आपः, स प्रजापतिः॥
यजुर्वेद अ० ३२

इस मन्त्रमें तच्छब्दसे अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, अर्थात् वीर्य, ब्रह्म, आप् अर्थात् जल और प्रजापति अर्थात् प्रजापालक राजा इनका बोध होता है। यहाँका ' तत् ' शब्द जो एक अद्वितीय सद्वस्तु है, जिसको परमात्मा, परमब्रह्म तथा सत्य कहते हैं; उसका वाचक है। अर्थात् यहाँका अग्नि शब्द परमात्माका वाचक है, वैसा ही प्रजापति अर्थात राजाका भी वाचक है। इस विषयमें निम्न लिखित मन्त्र देखनेके योग्य है—

एक सत्के अनेक नाम

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्॥ एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
ऋ० १।१६४।४६

एक ही सत् वस्तु है, उसको ज्ञानी लोग इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा कहते हैं। अर्थात् अग्नि शब्द एक सद्वस्तुका-परमात्माका वाचक है। इस तरह यहाँका अग्नि शब्द परमात्मा, प्रजापालक राजाका वाचक समझना योग्य है। और ऐसे अर्थ लेकर अग्निके मन्त्रोंका मनन करना चाहिये।

*

परमात्मा और जीव आत्मा

जितने नाम परमात्माके हैं, उतने नाम जीव आत्माके भी होते हैं। जीव परमात्माका अमृत पुत्र है। " अमृतस्य पुत्राः " ऐसा वेद मन्त्रमें कहा है। गीतामें भी–

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

ईश्वरका ही अंश जीव हुआ है। यहाँ महासागर और एक जलबिन्दु, सूर्य और एक किरण, अग्नि–दावानल और एक चिनगारी ऐसा वर्णन परमात्मा और जीवात्माका उपनिषदोंमें आता है। इस कारण परमात्माके सब नाम जीवके भी नाम होते हैं। अतः ' अग्नि ' पदका अर्थ ' परमेश्वर ' पूर्व स्थानमें कहा है, वैसा ही पूर्वोक्त कारणसे ' जीव-आत्मा ' यह भी अर्थ लेना योग्य है। इस तरह ' अग्नि ' पदके अर्थ (१) परमात्मा (२) जीवात्मा (३) प्रजापालक प्रजापति, राजा तथा शासक इतने हुए। परमात्मा विश्वका अग्रणी, नेता, समीपस्थित, पूर्ण हित करनेवाला, ऋतुके अनुसार यजन करनेवाला, सत्कर्मका प्रकाशक, दाता अदाता, विबुधोंको आह्वान करनेवाला, बुलानेवाला, सब रमणीय पदार्थोंका धारण करने और करानेवाला है जीवके शरीरमें जो इन्द्रिय हैं वे बडे रमणीय हैं, सुन्दर हैं, वे रत्नोंसे भी अधिक मूल्यवान हैं। इन अमूल्य अवयवोंका धारण उसने कराया है। इस तरह परमात्मा वाचक भाव इस मंत्रका है। इसी तरह जीव वाचक भी अर्थ इसीसे स्पष्ट होता है।

शरीरधारी मनुष्य अपने अन्दर विद्याका तेज बढावे अज्ञानियोंको मार्गदर्शन करे, उनको शुभ मार्गसे ले जावे उच्च अवस्था तक पहुँचावे, शुभ कर्म स्वयं करे और दूसरोंसे करावे, ऋतुओंके अनुकूल अपना व्यवहार करे, अपने अनुयायियोंको सहायता देवे और उनको रत्न देकर उन्नत करे।

राजा भी प्रजाको उन्नत करे, सन्मार्गसे ले जावे, ऋतु समयमें यज्ञ कराके राष्ट्रका आरोग्य बढावे और प्रजाक

आर्थिक स्थितिका सुधार करें, सब प्रजा रत्न-धारी बने ऐसी राष्ट्रकी सुस्थिति सुधार कर उन्नत करें।

नरका नारायण

इस तरह अनेक प्रकारसे बोध इस मन्त्रसे मिलता है। जो विचार पूर्वक मन्त्रके पदोंका मनन करनेसे प्राप्त हो सकता है। साधक मनुष्य इस अर्थको अपने जीवनमें ढालनेका यत्न करे। नरका नारायण बनेगा, जीवका शिव बनेगा। नर की अन्तिम अवस्था नारायण भाव प्राप्त करने की है। इसलिए नारायणके, परमात्माके, परमेश्वरके गुणोंका वर्णन मन्त्रोंमें किया है। यह परमात्माके गुणोंका वर्णन इसलिये किया है, कि इन गुणोंको मनुष्य अपने अन्दर ढाले और ब्राह्मी स्थिति, नारायण भाव, परमात्म भाव प्राप्त करे। मन्त्रका वर्णन इस तरह साधकका मार्ग दर्शन करता है। आगे—

अग्निःपूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।
स देवाँ एह वक्षति ॥ २ ॥

इस द्वितीय मन्त्रमें कहा है कि 'ऐसे अग्रणी अग्निकी प्रशंसा प्राचीन ऋषि करते रहे और अर्वाचीन ऋषि भी करते हैं।' अर्थात् भविष्यमें होनेवाले ऋषि भी ऐसे अग्रणीकी प्रशंसा निःसन्देह गायेंगे। क्यों नहीं गायेंगे? "जो तेजस्वी है, जो दूसरोंको सन्मार्ग बताता है और अन्तिम उच्च अवस्था तक पहुँचाता है, सत्कार-संगति-दाना-त्मक प्रशंसित कर्म करता और कराता है; ऋतुके अनुसार यज्ञ करके आरोग्य बढाता है, दान देता है, शुभ पदार्थोंका संग्रह करता है, सज्जनोंको अपने साथ रखता है, और अपने अनुयायियोंको रत्नादि रमणीय वस्तुओंको पहनाता है, उनकी सांपत्तिक स्थिति अधिक उन्नत करता है।" ऐसे श्रेष्ठ नेता, राजा या मनुष्यकी भूत कालके, वर्तमान कालके और भविष्य कालके सब कवि ज्ञानी लोग प्रशंसा गाते हैं। यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, क्योंकि ऐसे श्रेष्ठ नेताकी चारों ओर प्रशंसा होगी ही। जो इन शुभ गुणोंसे प्रकाशित होगा, उसकी सब कवि सदा प्रशंसा करेंगे ही।

विबुधोंकी संगतिमें रहना।

'स देवान् इह आवक्षति' ऐसा द्वितीय मन्त्रका अन्तिम वचन है। यह अग्नि स्वरूपी अग्रणी अनेक विबुधोंको अपने साथ लाता है। उनको आदरसे स्थानापन्न करता है। नेता, अग्रणी, राजा अथवा शासकके ये कर्तव्य ही हैं। शासक ऐसा ही अपने शासन क्षेत्रमें करे। विबुधोंकी परिषद रूपी यज्ञको सफल बनावे।

आगे तृतीय मन्त्र ऐसा है--

अग्निना रयिमश्नवत्पोषमेव दिवेदिवे।
यशसं वीरवत्तमम् ॥ ३ ॥

(अग्निना रयिं अश्नवत्) अग्निसे धन प्राप्त होता है, (अग्निना दिवे दिवे पोषं एव अश्नवत्) प्रति दिन पुष्टी भी अग्निसे मिलती है और (अग्निना वीरव--त्तमं यशसं अश्नवत्) जिसके साथ वीर रहते हैं, ऐसा यश भी इससे प्राप्त होता है।"

धन, पोषण और यश

धन, पोषण, और वीरोंसे युक्त यश इनकी प्राप्ति अग्नि-से, अग्रणी नेताकी आयोजनासे, होती है। रयिका अर्थ धन, ऐश्वर्य, शोभा, वैभव कान्ति आदि है, पोषका अर्थ पुष्टी, पोषण, शक्ति संवर्धन, बलका संवर्धन, संगठन, सब प्रकारकी बलकी वृद्धि है। और वीरोंसे युक्त यश भी प्राप्त होता है। यशका अर्थ कीर्ति, नामकी प्रसिद्धी है। यहां 'वीरवत्तमं यशसं' ये शब्द हैं। अत्यन्त वीरोंसे युक्त यश मिलता है। 'वीर' का अर्थ औरस 'पुत्र' सन्तान और शूर वीर' है। जो यश मिले वह औरस शूर पुत्रोंके साथ मिले। नहीं तो घरमें धन है, यश भी चारों दिशाओंमें फैला है, हृष्ट पुष्टता भी जैसी चाहिए वैसी है, पर घरमें सन्तान नहीं, बाल बच्चे नहीं, औरस पुत्र नहीं। अथवा पुत्र भी रहे, तो वे निर्बल, रोगी, डरपोक, निर्बुद्धि, अनाडी, व्यवहार--शून्य, दुर्बुद्धि, ऐसे हों तो वे क्या कामके? इसलिए मन्त्रमें कहा है कि 'वीर वत्-तम यश' मिलना चाहिये। अत्यन्त प्रखर वीर भावसे युक्त पुत्रपौत्र घरमें रहें। सन्तान अपने कुलकी, धनकी, बलकी और यशकी सुरक्षा करनेमें समर्थ हों। सबल, प्रभावी, समर्थ, नीरोग, धैर्यवान्, सुबुद्ध, ज्ञान विज्ञान सम्पन्न, व्यवहारमें चतुर, सुबुद्धि युक्त, कर्ममें कुशल ऐसे सुपुत्र घरमें हों और धन यश और पोषण भी मिले। तब सच्चा आनन्द होगा।

इस मन्त्रमें ' रयि, पोष, यश, ' यह क्रम है। यह क्रम भी मनन करने योग्य है। प्रथम धन प्राप्त हो। धन प्राप्त होनेपर उसका उपयोग अपना पोषण होनेके कार्योंमें होता रहे। पोषणमें अपने व्यक्तिका पोषण और यह व्यक्ति जिस समाजका अंग है, उस समाजका भी पोषण होना चाहिए। क्योंकि व्यक्ति समाजपुरुषका अंग है और अङ्गने अङ्गीकी सेवाके लिए योग्य समर्पण करना ही चाहिए। यही यज्ञ है। इस तरह प्राप्त धनका उपयोग व्यक्ति और समाज तथा राष्ट्रका पोषण होनेके लिए करना चाहिए।

केवल धन नहीं

किसी किसी समय धन प्राप्त होनेपर, वे धनी नाना प्रकारके दुष्ट व्यसनोंमें, स्त्री-मद्यपान-जुआ आदि दुष्ट व्यसनोंमें उस धनका दुरुपयोग करते हैं और स्वयं नष्ट होते हैं, और अपने समाजको भी नष्ट करते हैं। ऐसा न हो और धनका उपयोग व्यक्ति और समाजके पोषणमें ही होता रहे, बिगाडमें धन न लगे, यह उत्तम सूचना यहाँ दी है। ' रयि-पोष ' इनका यह सम्बन्ध बहुत मननीय है। धनसे पोषण ही होना चाहिए। पुष्टी, बलकी वृद्धि ही होनी चाहिए, इसके विपरीत परिणाम नहीं होना चाहिए। यह महत्वकी बात इस ' धन-पुष्टी ' के क्रमसे ध्यानमें आती है।

केवल धन और केवल पोषण भी नहीं

अब और देखिये कि धन मिला और पुष्टि होकर बल भी बढा, तो भी भय है। धन और बल इन दोनोंका मेल होनेके बाद भी दुष्ट व्यसन लोग करते हैं और मरते हैं। कौरवों और रावणके पास धन भी था और वे सब दुष्ट अच्छी तरह हृष्ट पुष्ट भी थे। उनमें कोई कृश और दुर्बल था ही नहीं। पर उनका क्या बना? वे सब विनष्ट हुए। इतिहास बता रहा है कि केवल ' रयि, पोष ' धन और पुष्टता होनेसे मनुष्य उन्नत नहीं हो सकता। उन्नतिके ये साधन हैं इसमें सन्देह नहीं है; पर केवल ये ही धन और बल रहे, तो मनुष्य असन्मार्ग से जाकर नष्ट भ्रष्ट भी हो सकता है। इसलिए आगे मन्त्रमें कहा है कि " वीरवत्तमं यशसं " अत्यन्त प्रभावी वीरता जिसके साथ रहती है, ऐसा सुयश भी मिलना चाहिये। दुष्ट दुर्व्यसनोंमें फंसनेवाले धनिकों और हृष्ट पुष्ट मनुष्योंको यह सुयश नहीं मिल सकता। और यश मिला भी तो वीरोंके साथ, वीर सुपुत्रोंके साथ रहनेवाला सुयश तो दुष्टोंको प्राप्त हो ही नहीं सकता। इसलिए धनिकोंको चाहिए कि वे अपना धन बढावें, उसका उपयोग व्यक्ति और समाजका पोषण करनेमें और बल बढानेमें करें और वीर पुरुषों और प्रभावी सुपुत्रोंके साथ रहनेवाला यश भी प्राप्त करें। यह उत्तम कार्यक्रम इस मन्त्रने दिया है।

आगे चतुर्थ मन्त्र कहता है-

अग्ने यं अध्वरं विश्वतः परिभूरसि।
स इद्देवेषु गच्छति ॥ ४ ॥

' हे अग्ने! तू (यं अ-ध्वरं) जिस हिंसारहित यज्ञको (विश्वतः परिभूः असि) चारों ओरसे सुरक्षा करता है, (सः इत् देवेषु गच्छति) वही निःसंदेह देवोंतक पहुंचता है। '

हिंसा रहित कर्म

इस मन्त्रमें " अग्नि हिंसा रहित कर्मकी चारों ओरसे सुरक्षा करता है, " ऐसा कहा है। ' अ-ध्वर' शब्द इस दृष्टीसे महत्त्वपूर्ण है। ' ध्वरा हिंसा, तदभावः अध्वरः ' ध्वराका अर्थ है ' हिंसा, कुटिलता, टेढी चाल, कपट, घात पात '। जिस कर्ममें ये दुष्ट भाव नहीं होते उसका नाम अध्वर है। यज्ञका यह नाम है। पूर्व स्थानमें हमने यज्ञके तीन भाव देखे हैं, " (१) पूजनीयोंका सत्कार, (२) संगठन या संगतिकरण, और (३) निर्बलोंकी सहायता। " यज्ञमें ये तीन लक्षण होने चाहिये। जहां यह त्रिविध कर्म होता है वही यज्ञ कहलाता है। इनमें (४) " हिंसा और कुटिलताका न होना " भी और एक भाव संमिलित है, ऐसा समझना चाहिये।

इस तरहसे हिंसा कुटिलता क्रूरता रहित, सत्कार संगति दानमय उत्तम कर्मकी सुरक्षा अग्नि करता है, यह भाव " अध्वरं विश्वतः परिभूः असि " इन पदोंका है। जहां सत्कारके योग्य सज्जनोंका आदर होता है, जनताकी संघटना जिससे होती है, निर्बलोंको शक्तिका प्रदान जिसमें होता है तथा जिसमें हिंसा, कुटिलता, छलकपट, क्रूरता नहीं रहती, वह यज्ञ है और इसका संरक्षण अग्रणीको करना

चाहिये। इस कर्ममें किसी भी कारण अयोग्य दुष्टोंका समादर नहीं होना चाहिये, समाजकी विघटना नहीं होनी चाहिये, समाजकी निर्बलता नहीं बढनी चाहिये और हिंसा क्रूरता छल कपट आदि नहीं होने चाहिये। ऐसे दुष्ट कर्मोंका संरक्षण नहीं होना चाहिये। अग्नि देव ऐसे दुष्ट कर्मोंका और ऐसे दुष्ट कर्म करनेवालोंका संरक्षण नहीं करता, यह बतानेके लिये ही " अध्वरं परिभूः असि " ऐसे पद मंत्रोंमें रखे हैं और कहा है कि कुटिलता छल कपट रहित शुभ कर्मोंका ही संरक्षण अग्रणीको करना चाहिये।

राष्ट्रीय शासन

राष्ट्रका शासक, प्रजाओंका पालक प्रजापति अपने राष्ट्रमें किन कर्मोंकी सुरक्षा करे, और किन कर्मोंको संरक्षण न दे, इसका ज्ञान भी इससे मिलता है। राष्ट्रमें सज्जनोंका संरक्षण हो, संघटना शक्ति बढे, अज्ञानियोंको ज्ञान मिले, निर्बल बलवान बनें, निर्धन धनी बनें, शिल्पी बढें, सब जनताका व्यवहार कुटिलता, क्रूरता, हिंसासे रहित हो, इस तरहके कर्मोंको राष्ट्रशासनमें उत्तेजना मिलनी चाहिये। इसके विपरीतके कुकर्म राष्ट्रमें होने नहीं चाहिये, यदि कोई करे तो उसको प्रतिबंध करना चाहिये, यह भाव इस मन्त्रभागका है।

' अध्वरः देवेषु गच्छति ' हिंसा रहित कर्म ही देवोंतक पहुंचता है, देवोंको पसंद होता है, विबुध ऐसे कर्मकी ही प्रशंसा करते हैं। जो कर्म राक्षसोंको ही पसंद होंगे, वैसे कर्म करने नहीं चाहिये।

आगे पञ्चम मन्त्र यह है—

अग्निर्होता कवि क्रतुः सत्यः चित्रश्रवस्तमः ।
देवो देवेभिरागमत् ॥ ५ ॥

" यह (अग्निः) अग्नि रूप अग्रणी (होता) दाता, (कविक्रतुः) ज्ञानी और कर्म करनेवाला पुरुषार्थी, (सत्यः) सत्यव्यवहार करनेवाला, (चित्र-श्रवस्-तमः) अत्यंत अद्भुत यशसे युक्त (देवः) दिव्य विबुध (देवेभिः आगमत्) अपने साथ दिव्य विबुधोंको लेकर यहां आजावे। "

यहां अग्रणीके कुछ अधिक गुण बताये हैं-

(१) होता--दाता, स्वीकर्ता और विबुधोंको बुलानेवाला, (यह पद प्रथम मंत्रमें आया है।)

(२) कवि-क्रतुः— ' कविः= ' ज्ञानी, दूरदर्शी, सूक्ष्मदर्शी, विद्वान्, अतीन्द्रिय पदार्थोंको, भावोंको, साक्षात् करनेवाला, 'क्रतुः'=कर्मशील, पुरुषार्थी, उद्यमी, कर्ममें कुशल।

(३) चित्रः-श्रवः—तमः- अत्यंत विलक्षण यश जिसको मिलता है, पूर्ण यशस्वी, कीर्तिमान्, जिसका सुयश चारों ओर गाया जाता है।

(४) देवः-- प्रकाशक, दाता, उदार, दिव्य गुणोंसे युक्त।

अग्रणीके, राष्ट्रशासकके, प्रजापालकके ये गुण इस मंत्रमें बताये हैं। पूर्व मंत्रोंमें जो गुण विदित हुए हैं, उनमें ये संमिलित करने चाहिये। राजा, राजपुरुष, राष्ट्रके शासन कर्ममें नियुक्त होनेवाले पुरुष इन गुणोंसे युक्त हों। शासक दाता, ज्ञानियोंको लानेवाला, ज्ञानी, दूरदर्शी, कर्मकर्ता, उद्यमी, यशस्वी, दिव्यगुणोंका प्रकाशक हो। शासन कार्यके लिये ऐसे गुणी पुरुष ही नियुक्त किये जांय।

इससे अगला छठा मंत्र यह हैं।

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि ।
तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः ॥ ६ ॥

" हे (अंगिरः अंग अग्ने) अंगीय रसवत् प्रिय अग्ने ! (दाशुषे यत् भद्रं त्वं करिष्यसि) दाताका जो कल्याण तू करता है, (तत् तव इत् सत्यं) वह तेरा ही सच्चा कार्य है। दाताका कल्याण करना ही तुम्हारा सत्य कार्य है। प्रजापालक अपने राज्यमें उदार, दाता, जनताका उपकार करनेवाले जो हों, उनका कल्याण हो, वे सुरक्षित हों, उनको कोई उपद्रव न दें, ऐसा प्रबंध करें। अग्निदेव इन दाता यज्ञकर्ताका ही कल्याण करता है, वैसा ही अग्रणी करे, प्रजापति-प्रजापालक राजा भी वैसा ही करे। प्रत्येक मनुष्य ऐसा ही करे। ' यत् देवा अकुर्वन्, तत् करवाणि ' (शतपथ) जो देवता करते हैं, वैसा मैं करूंगा और देवत्वको प्राप्त होऊंगा। देवताओंका वर्णन इसीलिये किया जाता है कि, मनुष्य अपना आचरण वैसा करे

और श्रेष्ठ बनता जाय। राक्षसों, असुरोंका इतिहास इस-लिये दिया होता है कि, कोई मनुष्य राक्षसोंके समान दुराचरण न करे और अवनत न हो। यह साधकोंके लिये उत्तम मार्गदर्शन है।

सत्कर्म करनेवालेका संरक्षण होगा, उसका कल्याण होगा, उसको प्रतिबंध नहीं होगा। यह शासककी नीति होनी चाहिये। यह भाव इस मन्त्रसे प्रकट हो रहा है।

अंगरसकी विद्या

यहां 'अङ्गिरस्' पद है वह 'अंग-रस्' का बोधक है। शरीरके अंगोंमें एक प्रकारका जीवन रस होता है, उसका नाम 'अंग-रस्' है। सबका जीवन इस अंगीय रस पर अवलंबित है, इस कारण सबको यह अंगरस प्रिय है। इस मंत्रके 'अंगिरः अंग' ये पद इस अर्थके बोधक हैं। अंगिरस् ऋषिने अग्निकी सिद्धता सबसे प्रथम की, इसलिये अग्निको अंगिरा कहते हैं, ऐसा भी कहते हैं। परंतु 'आंगिरसी विद्या' आंगिरस ऋषियोंके पास थी, जिससे वे अंगीय रसमें योग्य परिवर्तन करा कर आरोग्यका साधन करते थे, यह भी प्रसिद्ध बात है। इसलिये अंग-रसकी विद्या बडी महत्त्वकी विद्या है। इस विद्याका संबंध अग्निसे है, जब तक शरीरमें उष्णता रहती है, तब तक ही अंगीय रस शरीरभर घूमता है, और शारीरिक अग्नि शान्त हुआ, शरीर ठंडा पड गया, तो वह अंगरस भी जहांका वहां सूख जाता है, यही मनुष्यका मृत्यु है। यह भाव 'अंगिरः, अंग' ये पद बता रहे हैं।

"अंगिराः अंगः भद्रं करिष्यति" अंगीय रस जो प्रत्येक अंग अंगमें व्याप्त है, वह मनुष्यका कल्याण करेगा, इस मंत्र भागका यह आशय है, जो मनुष्यको आरोग्य-दायक होनेका सूचक है। अब सप्तम मन्त्र देखिये—

उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्।
नमो भरन्त एमसि ॥ ७ ॥

"हे अग्ने! (वयं धिया) हम सब बुद्धिपूर्वक (दिवे दिवे दोषावस्तः) प्रतिदिन रातमें और दिनमें (नमः भरन्तः) अन्न तथा प्रणाम अर्पण करते हुए (त्वा आ उप इमसि) तुम्हारे पास आते हैं, तुम्हारी उपासना करते हैं, तुम्हारे समीप रहते हैं।"

प्रतिदिन सवेरे और शामको अग्निकी उपासना करनी चाहिये, अग्निमें हवन करना चाहिये, उसमें अन्न समर्पण करना चाहिये। सवेरे और शामको अग्निहोत्र करना चाहिये। 'नम' का अर्थ अन्न और नमन है, शस्त्र ऐसा भी इसका अर्थ है, पर वह यहां उपयोगी नहीं है।

जो मार्ग बताता है, उसको प्रतिदिन सवेरे और शामको अर्थात् दिनमें दो वार अन्न देना चाहिये। जो संरक्षण करता है, जो सहाय्य करता है, उसको प्रतिदिन कमसेकम दो वार अन्न मिलना चाहिये। यह बोध यहां मिलता है। मनुष्यको दिन भरमें दो वार अन्न सेवन करना चाहिये, यह यहांके वचनसे स्पष्ट हो जाता है। अब अष्टम मन्त्र देखिये—

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्।
वर्धमानं स्वे दमे ॥ ८ ॥

"(अध्वराणां राजन्तं) हिंसा रहित कर्मोंका प्रका-शक, (ऋतस्य गोपां) सत्यके संरक्षक, (दीदिविं) दिव्य प्रकाशक और (स्वे दमे वर्धमानं) अपने स्थानमें बढनेवालेके पास प्रतिदिन हम जाते हैं।"

इस मंत्रका अर्थ करनेके समय पूर्व मंत्रसे "दिवे दिवे वयं त्वा उप आ इमसि" ये पद लेने चाहिये। वैसे पद लेकर ऊपरका अर्थ किया है।

जिसके कर्ममें हिंसा, कुटिलता, क्रूरता, छलकपट, टेढापन आदि दुष्ट भाव नहीं हैं, अर्थात् जो कल्याणकारक शुभ कर्मोंको ही सब जनताके हितार्थ करता है, जो सत्य मार्गका पालन करता है, जो सरलतासे अपने व्यवहार करता है, ऋजुता जिसके जीवनमें है, जो अज्ञान दूर करके ज्ञानका प्रकाश करता है और जो अपने घरमें बढता है, घर, नगर, स्वदेशके स्वक्षेत्रमें जो बढता है, जो अपने क्षेत्रकी वृद्धि करता है, उसके साथ हम प्रतिदिन रहते हैं। इसके विप-रीत जो कुटिल आचरण करता है, जिसमें सरलता नहीं है, जो अज्ञान, मिथ्या ज्ञान, भ्रम फैलाता है, जो सदा दूसरेके घरमें रहकर उसको बढाता है, जो शत्रुका बल बढाता है, उसके पास हम कभी नहीं जायंगे। यह अष्टम मंत्रका विचार हुआ। अब नवम मंत्र देखिये-

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये ॥ ९ ॥

" हे अग्ने ! (सः) वह तू (सूनवे पिता इव) पुत्रको जैसा पिता सहज प्राप्त होता है, वैसा (नः सूपायनः भव) हमें सुगमतासे प्राप्त हो जाओ और (नः स्वस्तये सचस्व) हमारे कल्याणके लिये हमारे साथ रह ॥ "

पिता पुत्रका संबंध

पुत्र पिताको सुगमतासे प्राप्त होता है, और पिता पुत्रको सहज ही से प्राप्त होता है । पिता पुत्रका यह संबंध है । ऐसा ही संबंध पिता पुत्रमें रहना चाहिये । अथर्व वेदमें कहा है–

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥
अथर्ववेद

' भाई भाईका द्वेष न करे, बहन बहनका द्वेष न करे, भाई बहन तथा बहन भाईका द्वेष न करे, ये मिलजुलकर एक कार्य करते रहें, और आपसमें कल्याण कारक भाषण बोलते हुए आनन्दसे रहें । ' यह वैदिक घर है । घरमें ऐसी एकता चाहिये । घर, नगर, ग्राम, जाती तथा राष्ट्रमें इसी तरहकी एक वाक्यता चाहिये । पिता पुत्रको जैसा प्राप्त होता है, (सूनवे पिता इव) इस उपमासे और भी भाव बताया है, वह भी देखिये । प्रजापति प्रजाको सुगमतासे प्राप्त होता रहे, अग्रणी अनुयायियोंको सहज प्राप्त होवे, राजा तथा राजपुरुष परस्पर सहज ही से मिल सकें, परस्पर वार्तालाप कर सकें, परस्परके सुख दुःख परस्परको बता सकें, ऐसी परिस्थिति रहनी चाहिये । पिता पुत्रके वर्णनसे यह परस्पर मेल मिलापकी स्थिति सूचित की गयी है । पिता पुत्रको सहजहीसे प्राप्त होता है, पुत्र पिताके साथ बोलता है, अपनी आवश्यकताका निवेदन करता है, अपने सुख दुःख, प्रिय अप्रिय, हानि लाभ आदिका वर्णन करता है, वैसा राजा जनता, प्रजापति प्रजा, अग्रणी अनुयायी, नेता और जनताका संबंध रहे यह सूचना इस मंत्रसे मिलती है ।

कल्याणपूर्ण जीवन

' नः स्वस्तये सचस्व ' हमारे कल्याणके लिये सहायक हो, हमारा कल्याण कर । ' स्वस्ति ' का अर्थ (सु+अस्ति) अपना उत्तम अस्तित्व, अपना उत्तम जीवन, अपना उत्तम रहनसहन, अपना आनन्दमय जीवन होना चाहिये । इस स्थितिकी प्राप्तिके लिये यत्न करना चाहिये । यह सबके सामंजस्यसे ही हो सकता है, इसलिये इसी मंत्र भागमें कहा है कि ' स्वस्तये नः सचस्व ' हमारे कल्याणके लिये हमें संघटित कर । संघटनासे हमारा कल्याण हो ऐसी परिस्थिति निर्माण कर । नेतासे यह प्रार्थना है कि वह अनुयायियोंकी संघटना करके अनुयायियोंके कल्याण करनेकी आयोजना सिद्ध करे । जिससे अनुयायी सुसंघटित होकर अपने कल्याणका साधन करनेका यत्न करें और अभ्युदय तथा निःश्रेयस प्राप्त करें ।

सूक्तका प्रारंभ और अन्त

इस ऋग्वेदके प्रथम सूक्तके प्रथम मन्त्रका प्रारंभ ' अग्निं ईडे ' (प्रकाशदेवकी उपासना) से हुआ है और अन्तिम मन्त्रका अन्त ' सचस्व नः स्वस्तये ' (सिद्ध हो जाओ अपने कल्याणके लिये) ऐसा है । ' प्रकाशक ' से प्रारंभ और ' कल्याण ' में पर्यवसान इस सूक्तका हुआ है । सब लोग कल्याण (स्वस्ति) तो चाहते हैं, पर ' प्रकाश ' के मार्गपर रहनेके विना कल्याणकी प्राप्ति नहीं हो सकती । यह मुख्य बात साधकोंको ध्यानमें धारण करनी चाहिये । यदि कल्याण प्राप्त करनेकी इच्छा है, तब तो प्रकाश मार्गसे जाना चाहिये । जो अग्निकी उपासना करेगा, प्रकाशक देवका अनुसरण करेगा वह अन्तमें स्वस्तिको, कल्याणको, निःसंदेह प्राप्त करेगा ।

प्रत्येक मंत्रका उपदेश

१ प्रथम मन्त्र— (पुरोहितं अग्निं ईडे) पूर्ण हितकारी प्रकाशक देवकी उपासना,

२ द्वितीय मन्त्र— (पूर्वेभिः नूतनैः ऋषिभिः ईड्यः) प्राचीन अर्वाचीन ज्ञानी जिसकी उपासना करते हैं उसकी उपासना करना,

३ तृतीय मन्त्र— (रयिं पोषं वीरवत्तमं यशसं अश्नवत्) धन, पोषण और वीरतायुक्त यश प्राप्त करना,

४ चतुर्थ मन्त्र— (अध्वरं परिभूः) हिंसा कुटिलता रहित कर्मको करना,

५ पञ्चम मन्त्र— (कवि क्रतुः सत्यःश्रवस्तमः) ज्ञान, कर्म, और सत्यका आश्रय करके यश कमाना,

६ षष्ठ मन्त्र—(दाशुषे भद्रं) दाताका कल्याण होता है, यह सत्य नियम जानना,

७ सप्तम मन्त्र-- (दिवे दिवे दोषावस्तः नमो भरन्तः) प्रतिदिन दोवार हवन और अन्न समर्पण करना,

८ अष्टम मन्त्र— (राजन्तं अध्वराणां, ऋतस्य गोपां, स्वेदमे वर्धमानं) हिंसा रहित कर्म, ऋत मार्गका रक्षण, अपने घरमें संवर्धन, और प्रकाशसे मार्गदर्शन करना।

९ नवम मन्त्र-= (सूनवे पिता इव, सूपायनः, स्वस्तये सचस्व) पिता पुत्रको सहायक होता है वैसा अनुयायियोंको सहायक होना और संघटनासे सबका कल्याण करना।

इन नौ मंत्रोंका यह अतिसंक्षिप्त भाव है। इससे साधकके कल्याणका मार्ग साधकको अच्छी तरह दीख सकता है। व्यक्तिके तथा समाज वा राष्ट्रके कल्याणका सरल मार्ग यहां साधकोंके सन्मुख आगया है।

समुदायकी संघटना

यह सूक्त व्यक्ति और समुदायकी उन्नतिका मार्गदर्शन करता है। देखिये इस सूक्तमें शब्द-प्रयोग ऐसे हैं-

वयं नमो भरन्तः उप एमसि ॥ ७ ॥
स नः पितेव सूनवे सूपायनो भव ।
सचस्वा नः स्वस्तये ॥ ९ ॥

इनमें ' वयं, भरन्तः, नः, एमसि ' ये पद बहुवचनमें हैं। अतः हम सबका कल्याण, हम सबका स्वस्ति, हम सब मिलकर उपासना कर रहे हैं। यह एककी की हुई प्रार्थना नहीं है, समुदायका, जातीके हितका यहां संबंध स्पष्ट है। मिलकर सबके कल्याणकी साधना करनेका यहां सामुदायिक भाव है और यह महत्त्वका दृष्टिकोन है।

इस सूक्तका प्रारंभ ' अग्निं ईळे ' (मैं अग्निकी स्तुति करता हूं) इस एकवचनी प्रयोगसे हुआ है। मैं स्तुति करता हूं, यह प्रार्थना एक व्यक्ति करती है। परंतु इसी प्रथम मंत्रमें ' यज्ञ ' है। और यज्ञमें तो ' देव पूजा-संगति करण-दान ' होता है। और संगतिकरण तो अनेकोंकी संघटनासे ही हो सकता है। इसलिये प्रथम मन्त्रमें ही अनेक व्यक्तियों की संघटनाकी सूचना मिलती है।

द्वितीय मंत्रमें " पूर्वेभिः ऋषिभिः नूतनैः ईड्यः " प्राचीन और नवीन ऋषियों द्वारा प्रशंसित अग्निका वर्णन किया है। यहां अनेक ऋषि मिलकर स्तुति करते हैं, इससे यहां सामुदायिक प्रार्थना सूचित होती है। इसी मंत्रमें ' स देवान् इह आवक्षति ' (वह अनेक देवोंको यहां लाता है) ऐसा वर्णन है, अर्थात् यह ' अग्नि भी देवोंके संघके साथ रहनेवाला ' है। अकेला नहीं। उपासना करनेवाला भी ऋषि समुदाय और जिसकी उपासना करनी है, वह भी " दिव्य विबुधोंके समुदायके साथ विचरनेवाला " है अर्थात् अकेला नहीं। उपास्य भी समुदायमें विचरनेवाला और उसके उपासक भी सामुदायिक रीतिसे उपासना करनेवाले हैं। इससे यहां संघटना--की सूचना मिलती है।

चतुर्थ मन्त्रमें पुनः " सः इत् देवेषु गच्छति " अर्थात् हिंसा रहित कर्म सब देवोंके समुदायको प्राप्त होता है ऐसा कहा है। यहां भी देवोंके समुदायका सांघिक विचार है। हमारा यज्ञ देवोंके संघको प्रिय होना चाहिये। वही भाव पञ्चम मंत्रमें " देवो देवेभिः आगमत् " कहा है, अर्थात् ' यह अग्निदेव अनेक देवोंके साथ आता है। ' यह अकेला नहीं रहता, यह समुदायके साथ आता, समुदायके साथ यहां रहता और समुदायके साथ जाता है। समुदायके साथ हलचल करनेवाला यह है।

सप्तम और नवम मंत्रोंमें उपासकोंका समुदाय स्पष्ट दीखता है। अन्तिम ' नः स्वस्तये सचस्व ' हम सबके कल्याण के लिये समवेत हों। यह सामूहिक हितकी प्रार्थना है।

उपास्य देव भी देव समुदायमें रहता है और उपासक भी सबके कल्याणके लिये उपासना करता है। सामुदायिक हित, सामुदायिक कल्याण, सामुदायिक यशकी साधना करनी चाहिये। यह मनुष्यका ध्येय यहां स्पष्ट हुआ।

ऋत और सत्यका संरक्षण

' ऋत ' पद सत्य, सरलता, ऋजुताका भाव बताता है। ऋत और सत्य ये अटल नियम हैं। ऋत और सत्य पर सब विश्व ठहरा है। इसका रक्षण करनेवाला अग्निदेव है और उसकी प्रसन्नताके लिये उपासकोंको भी उन नियमोंका पालन करना चाहिये।

सूक्तसे बोध

इस सूक्तसे जो बोध प्राप्त होता है वह इतने विवरणसे स्पष्ट हुआ है। प्रथम मंत्रसे प्राप्त होनेवाला बोध हमने उस मन्त्रके विवरणके अन्तमें दिया है। शेष आठ मंत्रोंके बोधकी तालिका हम यहां देते हैं। पूर्व तालिकाके साथ इस तालिकाका साधक विचार करें—

मन्त्रके पद	अर्थ बोध	अर्थापत्तिसे विरोधी भाव
मं० २।१ पूर्वेभिः ऋषिभिः ईड्यः।	२।१ प्राचीनों और नवीनों द्वारा प्रशंसित होनेवाला ही आदरणीय है।	१ जिसकी कोई प्रशंसा नहीं करते वह आदरणीय नहीं है।
२ स देवान् इह आवहति	२ वह अपने साथ विबुधोंको लाता है; अतः आदरणीय है।	२ जिसके साथ ज्ञानी नहीं होते वह आदरणीय नहीं है।
३।१ रयिं पोषं वीरवत्तमं यशसं अश्नवत्।	३।१ धन, पोषण और वीरोंके साथ रहनेवाला यश प्राप्त करता है वह आदरणीय है।	३।१ दारिद्य, निर्बलता और दुर्बलोंके कारण होनेवाली दुष्कीर्ति बढानेवाला आदरणीय नहीं है।
४।१ अध्वरं यज्ञं विश्वतः परिभूः।	४।१ हिंसारहित शुभ कर्मका संरक्षण करनेवाला सन्माननीय है।	४।१ हिंसामय अशुभ कर्म करनेवाला सन्मानके अयोग्य है।
२ स देवेषु गच्छति।	४।२ ऐसे कर्म देवोंको प्राप्त होते हैं।	४।२ अशुभ कर्मोंसे राक्षस ही संतुष्ट होंगे।
५ कवि-क्रतुः सत्यः चित्र-श्रवस्तमः।	५ ज्ञानी कर्मकर्ता सत्यनिष्ठ यशस्वी होगा।	५ ज्ञानहीन आलसी असत्य आचरण करनेवाला कभी यश नहीं प्राप्त करेगा।
६ दाशुषे भद्रं करिष्यसि	६ दाताका कल्याण होगा।	६ दान न देनेवालेका कभी कल्याण नहीं होगा।
७ वयं त्वां नमोभरन्तः उपैमसि।	७ हम तुम्हारे पास अन्नका समर्पण करनेके लिये आते हैं। समर्पण करनेसे कल्याण होगा।	७ अपने लिये भोगना बुरा है।

८ अध्वराणां राजन्तं, ऋतस्य गोपां, स्वे, दमे वर्धमानं दीदिविं ।	८ हिंसारहित कर्म करो, ऋत का पालन करो, अपने घरमें बढो, प्रकाशमान बनो ।	८ हिंसा, असत्याचरण करने-वालेका नाश होगा । दूसरेके घरमें बढना ठीक नहीं, अन्धकारमें रहना हानिकारक है ।
९ सूनवे पिता इव सूपायनः भव ।	९ पुत्रको पिता जैसा प्राप्त होता है, वैसा जो नेता अनुयायियोंको प्राप्त होगा, वह आदरके योग्य है ।	९ जो पिता दुष्प्राप्य है वह आदरणीय नहीं हो सकता।

इस तरह संक्षेपसे इस सूक्तके उपदेश हैं। ये सब साधकों-को अपने जीवनमें ढालनेके लिये हैं। जो इस तरह मनन करके वेदके मंत्रोंमें बताये उपदेश अपने जीवनमें ढालेगा वह कल्याण प्राप्त करेगा।

अग्नि देवता

इस सूक्तमें देवता अग्नि है और वह हवनका अग्नि ही है, परंतु ऋषि उस अग्निमें "आदरणिय नेताकी, आदर्श ज्ञानीकी विभूति" देखता है और वैसा वह वर्णन करता है। इसलिये अग्निके मन्त्रोंमें आदर्श नेताका वर्णन है, वह कैसा है यही मनन पूर्वक साधकोंको देखना चाहिये। जो देखेंगे उनको अनेक उत्तमोत्तम बोध मिलेंगे। और जो उनको अपने जीवनमें ढालेगा वह आदर्श पुरुष बनेगा, वही सबका साध्य है। यही सब साधकोंको प्राप्त करना चाहिये।

प्रथम सूक्तका मनन समाप्त



ऋग्वेद-संहिता

इस ग्रन्थमें प्रारंभमें संस्कृत-भूमिका है, उसके पश्चात् **मण्डलानुक्रमणिका** तथा **अष्टकानुक्रमणिका** है, पश्चात् **ऋषिसूची** तथा **देवता-सूची** है। इसमें मण्डलों और अष्टकोंका क्रम तथा सूक्तक्रम भी दिया है। इतनाही नहीं, पर इस सूचीमें प्रत्येक सूक्तमें आये देवता कौनकौनसे मन्त्रमें हैं यह भी दर्शाया है। इसी तरह इसकी टिप्पणीमें वे देवता दिये हैं जो मन्त्रोंमें तो हैं, पर सर्वानुक्रमणीमें दिये नहीं हैं। यह सूची मन्त्रक्रमके अनुसार है, इसलिये प्रत्येक मंत्रमें कौनसा देवता है, यह हरकोई देख सकता है। इसके नंतर **अकारक्रमसे ऋषिसूची** है। प्रत्येक ऋषिके कितने मंत्र हैं और वे कहां हैं यह सब यहां दर्शाया है। इस सूचीमें इन ऋषियोंके गोत्र दिये हैं और प्रत्येक गोत्रमें कितने ऋषि हैं यह भी इसी सूचीमें है।

इसके पश्चात् **अनुवाक-सूत्र** स्पष्टीकरणके साथ दिया है। प्रत्येक अनुवाकमें कितने मंत्र हैं और वे कहां हैं, यह सब यहां बताया है। इसी तरह अध्यायानुक्रमणी वैसे ही स्पष्टीकरणके साथ यहां दी है।

इसके नंतर '**सांख्यायन-संहिता**' का पाठक्रम तथा '**बाष्कल संहिता**' का पाठक्रम दिया है।

इसके पश्चात् **संपूर्ण ऋग्वेद-संहिता** मण्डल और अष्टकोंके साथ दी है। इसमें **प्रत्येक मंत्र स्वतंत्र और पृथक् पृथक् छपा है। तथा मंत्रके चरण, मंत्रके अर्धभाग, मंत्रके बहुतसे पद पृथक् पृथक् दिये हैं** और प्रत्येक सूक्त पृथक् पृथक् स्पष्ट दर्शाया है। प्रति सूक्तके प्रारंभमें ऋषि, देवता और छन्द दिये हैं और मंत्रोक्त-देवत भी कई स्थानोंपर दर्शायी है।

इसके बाद मण्डलान्तर्गत तथा अष्टकान्तर्गत **सूक्त-संख्या वर्गसंख्या, मन्त्रसंख्या** तथा **अक्षरसंख्या** दर्शानेवाले कोष्टक दिये हैं।

नंतर सब **परिशिष्ट** दिये हैं तथा उनके पाठभेद भी दिये हैं। ऋग्वेदसंहिताके अन्यान्य शाखाओंमें जो अधिक सूक्त मिलते हैं वेही ये परिशिष्ट हैं। ये कुल ३७ हैं।

इसके पश्चात् **अष्टविकृतियाँ**, उनकी बनानेकी विधिके साथ दी है। इनकी विधि जानकर पाठक अन्याय मंत्रोंकी भी विकृतियाँ स्वयं कर सकते हैं। यहां **पञ्चसंधि** भी दिये हैं जो विशेष महत्त्वके हैं।

इसके पश्चात् **कात्यायनमुनि**- विरचित **सर्वानुक्रमणिका** टिप्पणीके साथ संपूर्ण दी है। उसके बाद **शौनकाचार्यकृत अनुवाकानुक्रमणी** है। इसके बाद छन्दोंके उदाहरण लक्षणोंके साथ दिये हैं। इसमें **११ छन्द** और उनके अनेक **उपछन्द** उदाहरणोंके साथ दिये हैं। इसके देखनेसे किस मन्त्रका कौनसा छन्द है इसका ज्ञान हो सकता है।

इसके बाद अकारक्रमसे ऋग्वेदके संपूर्ण **मंत्रोंको सूची** है। ये मंत्र अन्य वैदिक संहिताओंमें कहां हैं, उनका भी पता यहां दिया है। इससे ऋग्वेद मंत्र संहिताओंमें कहां हैं इसका ज्ञान हो सकता है।

इतनी सूचियोंके साथ इतने परिश्रमसे यह ऋग्वेद-संहिता छापी है। इस समय जो ऋग्वेदके ग्रंथ हैं उनमेंसे किसीमें इतने ज्ञानके साधन नहीं है। वेदका अनुसंधान करनेवालोंके लिये यह एक अनुपम साधन है। इसकी कुल पृष्ठसंख्या १०५० है। मूल्य केवल ६) डा. व्य. १॥) है।

मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल, 'आनन्दाश्रम,' पारडी (जि. सूरत.)

मुद्रक और प्रकाशक- **व० श्री० सातवलेकर,** बी. ए., भारत-मुद्रणालय, आनन्दाश्रम, किल्ला-पारडी (जि. सूरत)



वैदिक व्याख्यान माला - द्वितीय व्याख्यान

वैदिक अर्थव्यवस्था
और
स्वामित्वका सिद्धान्त

लेखक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

स्वाध्याय-मण्डल, ' आनन्दाश्रम ', किल्ला-पारडी, जि. सूरत

मूल्य छः आने

निवेदन



आज सर्व विश्वमें साम्यवाद, समाजवाद, राष्ट्रीयसमाजवाद, व्यक्तिवाद ऐसे अनेक वाद उपस्थित हुए हैं। इस सम्बन्धमें वेदका सिद्धान्त क्या है यह इस समय जनताको विदित होना उचित है। इसलिये यह निबन्ध लिखा है। आशा है इससे वैदिक अर्थ सिद्धान्त तथा स्वामित्वका सिद्धान्त पाठकोंके ध्यानमें आ जायगा। और वे आजकलके प्रचलित वादोंके साथ इन सिद्धान्तोंकी तुलना करेंगे और जो योग्य होगा वह अपनायेंगे जिससे सबका कल्याण होगा।

यहां वैदिकशासन व्यवस्थामें स्वयं अपने अनुशासनपर अधिक बल दिया जाता था। जनताको अनुशासनशील बनानेकी ही शिक्षा इस समय दी जाती थी। स्वयं जनताही इस सुशिक्षासे जाग्रत होकर अपनी स्वेच्छा प्रवृत्तिसे ही आर्थिक समताको अपने राष्ट्रमें प्रस्थापित करती थी। जिससे अर्थमूलक झगडे नहीं बढते थे, विद्वेष नहीं बढता था और सबको शान्ति तथा आनन्द प्राप्त होता था। यह व्यवस्था कितनी अच्छी है ? ऐसी व्यवस्था राष्ट्रमें बनानेके लिये सबको प्रयत्न करना चाहिये।

स्वाध्याय-मण्डल ' आनन्दाश्रम '
किल्ला-पारडी (जि. सूरत)
१।११।५१

लेखक
श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

ॐ

वैदिक अर्थव्यवस्था
और
स्वामित्वका सिद्धान्त

ब्रह्मा विष्णु महेश

पुराणकारोंने ब्रह्मा विष्णु और महेश ये तीन देव माने हैं और महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली ये तीन स्त्री शक्तियां उनके साथ रखी हैं। महासरस्वती 'विद्या' है, महालक्ष्मी 'धनसंपत्ति' है और महाकाली 'संहार-शक्ति' है। यहां धन विष्णुके पास रखा है जो संरक्षक देव है, यह बात विशेष महत्वकी है। संरक्षण तो प्रजाका करना होता है। प्रजाका पालन, प्रजाका संरक्षण, अन्तस्थ और बाहरके शत्रुओंसे प्रजाको सुरक्षित करके प्रजाका उत्तम योगक्षेम चलानेके लिये धन अवश्य चाहिये। इस लिये विष्णुके साथ लक्ष्मी है। यही "लक्ष्मी-नारायणका जोडा" है। नारायण ही विष्णु है। नरोंमें (नर-अयन) जो जाता है, नरोंके सुखदुःखोंका विचार प्रत्यक्ष उनकी स्थिति देखकर जो करता है, नरोंका संरक्षण जो करता है, वही नारायण है। इसीको प्रजारक्षणका कार्य ठीक तरह करनेके लिये धन चाहिये। यह लक्ष्मीनारायणके जोडेका भाव है। विष्णुके पास महालक्ष्मी है, सजी सजायी तरुणी सुन्दर स्त्री है, पर यहां संतान नहीं है। क्योंकि विष्णुभगवानूको प्रजारक्षणका कार्य इतना करना पडता है कि उसको अपने घरकी ओर देखनेके लिये भी फुरसत नहीं है, इसलिये उसे संतति नहीं हुई तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। प्रजा संरक्षणका कार्य जो राज्यका अधिकारी इतनी दक्षतासे करेगा, उसीसे प्रजाका संरक्षण उत्तम रीतिसे होगा।

विष्णुकी लक्ष्मी

विष्णुके पास प्रजासंरक्षण करनेके लिये ही संपत्ति है, उसके अपने उपभोगके लिये नहीं। जो धन है वह सब विष्णु प्रजारक्षणके कार्यमें लगाता है। इतना निःस्वार्थ राज्य-शासक होना चाहिये। यह आदर्श पुराणोंके लेखकोंने राजाओंके सामने रखा है। यह आदर्श आजके अपने विषय-के लिये हमें अत्यंत उपयोगी है, इसलिये पाठक इसे यहां अपने स्मरणमें रखें।

आजका मननका विषय "अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त" है। 'अर्थ' का तात्पर्य 'धन, ऐश्वर्य, संपत्ति, वैभव, पैसा, सुवर्ण, रत्न, आदि पदार्थ, जिनसे मनुष्य अपने आपको धन्य मान सकता है। वह सब अर्थ है।' गौवें, घोडे, रथ, दासदासी, घर, भूमि, स्त्री, पुत्र, राज्य, धनधान्य यह सब धन है। जिसके पास यह होता है वह अपने आपको धन्य मान सकता है। यह धन है और यही अर्थ है। इसकी व्यवस्था वैदिक प्रणालीमें किस तरह थी यह इस मननमें देखना है।

अब 'स्वामित्वका सिद्धान्त' यह है कि जो धन है, उस-पर अधिकार किसका है और वेदमें इस विषयमें क्या कहा है, इसका निर्णय आज देना है। संक्षेपसे 'धन और उसके स्वामी' का विचार आज करना है।

समाजवाद और साम्यवाद

इस समय जगत्में 'समाजवाद, साम्यवाद और व्यक्ति-वाद' के आन्दोलन चल रहे हैं। अनेक देशोंके गुट बने हुए हैं और वे अपने सिद्धान्तोंके प्रचारके लिये बडी बडी दलबंदियां करके तथा बडे भयानक घोरसंहारक युद्ध करके, दूसरे पक्षको संपूर्णतया विनष्ट करनेमें लगे हुए हैं। ऐसे घोर समयमें वेदके ऋषि इसका विचार कैसा करते रहे, वैदिक सिद्धान्तको अपने वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय व्यवहारमें किस तरह लाते रहे और उन्होंने अपनी अर्थ व्यवस्था किस तरह की थी और धनके ऊपरके अपने स्वा-मित्वके विषयमें उनके अन्दरकी विचारधारा कैसी थी, इस विषयमें यदि निश्चित मत जनताके सामने रखा जाय,

तो उसका विशेष उपयोग होगा। इसी उद्देश्यसे यह विषय आज अपने मननके लिये लिया है। पाठक इसका इस दृष्टीसे विचार करें, और जो निश्चय होगा उसका आचार करनेके लिये सिद्ध रहें।

धन किसका है ?

वेदमें 'कस्य स्वित् धनं' (यजु० ४०।१) यह एक वचन है। 'किसका भला धन है' अथवा 'भला किसका धन है ?' यह इसका उत्तान अर्थ है। हम सबको ही धन किसका है, इसका विचार करना चाहिये। यह प्रश्न इतना सहज स्पष्ट होनेवाला नहीं है। इसलिये ही यह प्रश्न वेदमें पूछा गया है।

'कस्य स्वित् धनं' यहांका 'स्वित्' बडा महत्त्वका शब्द है।

स्वित् प्रश्ने च वितर्के च। अमर ३।२४१ मेदिनीकोश।

'स्वित्' का अर्थ प्रश्न है और वितर्क है। 'भला किसका धन है ?' यह प्रश्न हुआ। विचार करनेवाला इसका उत्तर देवे। 'वितर्क' का अर्थ नाना प्रकारके पक्षों और उपपक्षोंका विवेक है। इस विवेकके स्वरूपमें 'स्वित्' का भाव समझना चाहिये। धन किसका है, यहां क्या धन व्यक्तिका है, अथवा समाजका है, वा जातीका है, वा राज्याधिकारीका है, वा विद्वानका है अथवा यज्ञके लिये है, किंवा परमेश्वरका है, ऐसे अनेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं, इन प्रश्नोंका विचार करके निर्णय देना चाहिये, इसका सूचक यहांका 'स्वित्' पद है।

'कस्य स्वित् धनं' यह प्रश्न है और विवेक करनेका स्थान भी यही है। अतः इसका सूक्ष्म दृष्टीसे विचार होना चाहिये। 'किसका भला धन है ?' यह प्रश्न है। परन्तु अनेक हकदारोंमें एकका धन है वा दूसरेका है, यह तर्क अथवा शंका भी इसमें है।

'स्वित्' का अर्थ 'निश्चय' भी है। इस निश्चयार्थमें 'क' का अर्थ 'प्रजापति' है। 'प्रजापतिर्वै कः' (श. ब्रा.) 'क' का अर्थ प्रजापति है। प्रजापति प्रजाके पालन कर्ताका नाम है। इस अर्थको लेकर 'कस्यस्वित् धनं' का अर्थ 'निःसंदेह सब धन प्रजापालकका है' ऐसा होता है। इस तरह 'कस्य स्वित् धनं' इस एक मंत्र भागके प्रश्न वितर्क और निश्चयरूप तीन अर्थ हुए। ये तीनों अर्थ अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं।

किसका धन है !

'धन किसका है ?' यह पहिला अर्थ है। इसमें यह बोधित होता है कि, धनपर अधिकार चलानेवाले अनेक हैं, उनमेंसे धन सचमुच किसका है ? क्या हम नहीं जानते कि धनपर अनेक अधिकार नहीं चला रहे हैं ! जिसके पास धन है वह तो यह धन 'मेरा' है ऐसा कहता ही है। उसके पुत्र भी कहते हैं कि पिताका धन हमारा है, चोर डाकू लुटेरे कहते हैं कि धन हमारा है, इसके साथ राजा कहता है कि यह धन मेरा है और प्रजासे कर लेकर उस धनको अपने धनकोशमें वह रख भी लेता है।

इतने इसपर स्वामित्व बतला रहे हैं, इसके अतिरिक्त यज्ञकर्ता यज्ञके लिये धनिकोंके पास धन मांगता है और धनी उसको धन देते भी हैं। इस तरह अनेक लोग धनपर अधिकार बताते हैं, इसलिये मंत्रमें पूछा है कि 'कस्य स्वित् धनं ?' भला धन किसका है ?

निर्बलका धन नहीं

किसी निर्बलके पास धन रहा, तो बलवान आजाता है और उसको थप्पड लगाकर उसका धन अपने पास ले लेता है। इससे धन निर्बलका तो नहीं कहा जा सकता। धन तो बलवानकाही है। क्योंकि निर्बलका धन सबल लूटता है और अपने अधिकारमें कर लेता है। निर्बलका अधिकार तो धनपर निःसंदेह नहीं हो सकता। इसलिये वेदमें अनेक वार कहा है कि—

सुवीरां रयिं आभर।

'उत्तम वीर जिसके साथ संरक्षण करनेके लिये हैं ऐसा धन हमें चाहिये।' अपने घरमें रहनेवालोंके अन्दर वीरता रहे, अथवा अपने पुत्र शूर हों, जो धनका संरक्षण कर सकें। तो वह सुवीरों अथवा वीर पुत्रोंसे संरक्षित धन अपने पास रह सकता है। इसलिये वीरका धन है ऐसा, हम कह सकते हैं।

वीर भी कभी न कभी मर जाता है, और सब धनको यहां छोडकर चला जाता है। इसलिये यह धन उस

वीरका है ऐसा हम कैसा कह सकेंगे ? मरनेके पश्चात् वह धन यहां ही पडा रहता है। इसलिये जैसा निर्बलका धन नहीं है वैसा ही शूरवीरका भी धन नहीं, क्योंकि शूरवीर भी मरते हैं और धन छोडकर चले जाते हैं। फिर किसका भला धन है ?

'प्रजापतिका धन है' (कस्य प्रजापतेः स्वित् धनं) निःसंदेह प्रजापतिका धन है।

यहां शिल्पी आकर कहते हैं हम शिल्पोंका निर्माण करते हैं और हम उन शिल्पोंसे धन निर्माण करते हैं, इसलिये हम धन निर्माण करनेवाले होनेके कारण धन हमारा है। किसान भी ऐसा ही बोलते हैं ! खेती हम कर रहे हैं, धान्य हम उत्पन्न कर रहे हैं और ये पूंजीपति घरमें बैठकर सब मक्खन खा रहे हैं। यह नहीं चलेगा। धन उसका है जो जमीनकी सेवा करता है। मजदूरों और किसानोंके संग निर्माण हो रहे हैं और वे कहते हैं कि धन हमारा है।

यहां वैश्य आकर बोलते हैं कि हम धन कारखानोंमें लगाते हैं, कलें और यन्त्र चलाते हैं, देश विदेशमें व्यापार करते हैं, नाना प्रकारकी योजनाएं करते हैं और इनसे धन निर्माण होता है, इसलिये इन योजनाओंको करनेवाले जो हम हैं उनका धन है। हम इन आयोजनाओंका प्रबंध न करेंगे तो शिल्पी मजदूर और किसान अकेले अकेले क्या कर सकेंगे। इसलिये बडी बडी आयोजनाओंका प्रबंध करनेवालोंका धन है।

यहां क्षत्रिय आते हैं और कहते हैं कि हम सबका संरक्षण करते हैं, लूट मार होने नहीं देते, दंगे और युद्ध हुए तो अपने जीवन संकटमें रखकर भी हम तुम सबका और तुम्हारी सब आयोजनाओंका संरक्षण करते हैं। हम न रहें तो 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' होगी और बली गुण्डे निर्बलोंको खा जायगे। इस कारण हमारे प्रयत्नोंसे धनका संरक्षण हो रहा है इसलिये धनपर हमारा अधिकार है।

इसमें ब्राह्मण भी आकर कहते हैं कि हम पूजा पाठ, यज्ञ याग आदि करते हैं, देवतोंकी शक्तिकी अनुकूलता संपादन करते हैं, इसलिये वृष्टि होती है, तुम्हारे सबके मनोंको शान्ति और समाधान मिलता है और उस समाधान वृत्तिसे तुम अनेक कार्य कर रहे हो और धन उत्पन्न हो रहा है, तुम्हारे सब व्यवहारोंके लिये जो अन्तःकरणका उत्साह चाहिये वह हमारे पूजा मंत्र पाठ होम हवनसे मिलता है, इसलिये धनपर अधिकार हमारा है।

*

स्वित्का भाव

इस तरह अपने अपने पक्षका समर्थन करनेका नाम वितर्क है। 'स्वित्' अव्ययका यह भाव है, तर्क वितर्क कुतर्क करना और अन्तिम निर्णय तक पहुंचना वितर्कका काम होता है। यह 'स्वित्' पदका कार्य है। 'स्वित्' पदमें 'सु+इत्' ऐसे दो पद विभाग हैं। 'सु' का अर्थ उत्तम और 'इत्' में 'इ' धातु 'प्रगति, अध्ययन, ज्ञानसंपादन और स्मरण' अर्थमें है। इन दो विभागोंसे (सु+इत्) स्वित् बना है अर्थात् इसका अर्थ 'उत्तम प्रगति, उत्तम ज्ञान संपादन, और प्राप्त ज्ञानका उत्तम स्मरण' करना है। 'कस्य स्वित् धनं' धन किसका होनेसे अथवा माननेसे सब जनताकी उत्तम प्रगति होगी, सबको उत्तमसे उत्तम ज्ञान मिलेगा और सबकी मेधा बुद्धि विशाल होगी इसका मनन करना यह स्वित्का भाव है। धन किसका है, किसके स्वामित्वमें धन रहे, इसके अन्दर जो प्रश्न है, और प्रश्नसे जो तर्क वितर्क चलाया जाता है, उसका आशय यह है। इस दृष्टिसे देखा जाय तो 'कस्य स्वित् धनं' इस मंत्र भागमें स्वित्का बड़ा ही महत्त्व है।

धनसे युद्ध

सब झगडे, कलह, स्पर्धा और युद्ध धनके कारण ही होते हैं। वेदमें 'महाधन' नाम युद्धका है। युद्ध और धनका संबंध इस तरह है। धन न रहा तो कौन किससे किस लिये युद्ध करेगा ? इसलिये वेदने युद्धका मूलकारण धन माना है और इसीलिये 'कस्य स्वित् धनं' यह धनके स्वामित्वका विचार भी वेद ही बता रहा है, वह इसलिये कि यह ज्ञान लोगोंको हो और लोग युद्धसे पीछे हटें और आनंदमें रहें।

मम-सत्यं

युद्धके नामोंमें 'मम-सत्यं' यह भी एक नाम वेदमें है। 'मेरा मत सत्य है, मैं कहता हूं वह सत्य है' इस आग्रहसे युद्ध होते हैं। इसीलिये 'कस्य स्वित् धनं

इसका विचार किया जा रहा है। यहां मेरी संमतिका दुराग्रह न हो उसपर झगडा खडा न हो। परंतु निष्पक्ष विचार हो और निर्णय किया जाय कि सचमुच धन किसका है ?

धनका बंटवारा

वेदमें युद्धनामोंमें ' वाजसाती ' युद्धका नाम है। ' वाजसाती ' का अर्थ ' धनका बटवारा, धनका योग्य विभाग है। धनका विभाग करनेके समय झगडे होते हैं। इसलिये इस बंटवारेके समय सबको मालूम होना चाहिये कि धन किसका है। सचमुच धनपर किसका अधिकार है। यहां आग्रह नहीं होना चाहिये, परंतु वितर्क पूर्वक इसका सुयोग्य निर्णय होना चाहिये।

क्या मेरा धन है !

ऊपर अनेक पक्षोंकी संमतियां कही हैं, जिनमें प्रत्येक पक्षका वक्ता कहता है कि ' धन मेरा है। ' क्या यह सत्य नहीं है। ऊपरके सब वक्ता अपने अपने पक्षका धन है ऐसा कह रहे हैं, पर उनके ध्यानमें यह नहीं आरहा है, कि प्रत्येकने अपना ही धन है ऐसा कहा, तो उन सबकी ही संमतिसे धन उन सबका सांजा है अथवा उनमेंसे किसीका भी नहीं, यह स्वयं सिद्ध हो जाता है।

प्रत्येक अपना धन है ऐसा कहेगा तो धन सबका होगा अथवा किसीका भी नहीं होगा। इसीलिये युद्ध करते हैं और जिसका पराभव होता है उसका धन विजयी योद्धा छीन लेता है और विजयी वीर कहता है कि ' यह सब धन मेरा है।' वीर अर्जुनका नाम ' धनंजय ' था। इसका अर्थ ही यह है कि वह युद्ध करता था, शत्रुका पराभव करता था, जय प्राप्त करता था और धन लाता था।

पर क्या इस तरह घातपात करके, लूटमार करके, खून खराबी करके धन लूटकर लाना मानवोंके लिये योग्य है ? यह तो पशुओंका काम है। वैसा ही मानव करते जांय ? यदि पशुओंसे मनुष्य श्रेष्ठ है, तो मननसे तर्क-वितर्क-सुतर्कसे ' कस्य स्वित् धनं ' किसका धन है इसका निर्णय मनुष्य करें, इसलिये यह प्रश्न वेदने सब लोगोंके सामने रखा है, कि मनुष्य पशु न बनें, मनुष्य मनन करके निश्चय करनेवाले मानव बनें और वे निश्चय करें कि ' धन किसका है ? '

एक सुलतान था, इसने अपनी आयु भरमें देश देशान्तर में जाकर, अपने साथ सहस्रों गुण्डोंको लेकर कतल और लूट करके अपने पास अगण्य धन इकट्ठा किया। पश्चात् वह मरने लगा, उस समय उसने कहा कि वह सब धन मेरे बिस्तरेके पास ढेर लगाकर रखो। सेवकोंने वैसा ही किया। हीरे, लाल, पाचू, मोती, सोना आदिके पर्वत जैसे ढेर उसकी मृत्यु शय्याके पास लगाये गये। वह उनकी ओर देखता था और रोता था। इस मृत्युके समय उसको पता लगा कि ' इस धनका स्वामी मैं नहीं हूँ। ' पर मृत्युके समय इस बातका ज्ञान उसको हुआ। पहिले निश्चय होता तो अच्छा हो जाता। इसीलिये वेदने कहा है कि ' कस्य स्वित् धनं ' इसका विचार करो ?

उसके मरनेके पश्चात् उसका पुत्र उस धनका स्वामी बना उसने भी अधिक लूटमार करके उस धनमें अधिक भरती की। वह भी मर गया और रोते रोते मर गया, पर अपने साथ उसमेंसे थोडा भी धन न लेजा सका, क्योंकि वस्तुतः वह धन उस व्यक्तिका नहीं था। उसने ' धन किसका है ' इसका विचार ही किया नहीं था। लूटमार करनेमें उसका समय चला गया। ' धन किसका है ' इस वचनका विचार करनेके लिये उसके पास समय ही नहीं रहा था ! ! !

नगरोंमें बडे बडे सेठसाहुकार धनी पूंजीपति अपने पास धनका संग्रह करके रखते हैं, मरते समय सब धनको यहां ही छोडकर अकेले चले जाते हैं। फिर उनका पुत्र स्वामी बन जाता है, पर वह भी वैसा ही सब धनको छोडकर मर जाता है। ऐसा होते होते जिस समय उसके वंशमें कोई संतान नहीं रहती, कोई वारसदार नहीं होता, उस समय वह सब धन सरकार अपने धनकोशमें जमा करती है। यहां वेद कहता है कि ' कस्य (प्रजापतेः) स्वित् धनं ' प्रजापालक राजाका यह सब धन है। जिसका धन था उसके पास चला गया।

प्रश्न— कस्य स्वित् धनं ?- किसका भला धन है ?

उत्तर— कस्य (प्रजापतेः) स्वित् धनं- प्रजाका पालन करनेवालेका निःसंदेह धन है।

एक ही मन्त्र भागमें प्रश्न भी है और उस प्रश्नका उत्तर भी है। वहां ' कः ' का ' कौन ' ऐसा एक अर्थ है और ' प्रजाको सुख देनेवाला पालक, सुख देनेवाला ' ऐसा

उसीका दूसरा अर्थ है । 'क' का ही अर्थ सुख तथा सुख-दायी ' ऐसा है । जो पालक जनताका सुख बढाता है और जनताको सुखी करनेके लिये ही प्रजापालन करता है उसका नाम 'क' है और उसका सब धन है । अर्थात् यह धन प्रजाके पालनके लिये है, न कि उस पालक व्यक्तिके उपभोगके लिये । प्रजाके सुखकी वृद्धि होनी चाहिये। 'विष्णु' प्रजाका पालन करता है इसलिये उसके पास 'महालक्ष्मी' (बडी संपत्ति) रहती है। यह धन इस तरह प्रजापालकके कोशमें जाना चाहिये और प्रजाका सुख बढानेके लिये उसका व्यय होना चाहिये यह यहां स्पष्ट हुआ ।

प्रजाका हित मुख्य है

आज भी 'व्यक्तिका हित और प्रजाका हित' इसका विरोध होता है, उस समय प्रजाका हित मुख्य और व्यक्तिका हित गौण माना जाता है। मान लीजिये कि किसी नगरमें सार्वजनिक हितके लिये बडा मार्ग करनेकी आवश्यकता हुई, तो बीचके वैयक्तिक स्वामित्वके मकान तोडे जाते हैं और सार्वजनिक हितका मार्ग तैयार किया जाता है, क्योंकि स्थान रूपी धन सार्वजनिक है, वैयक्तिक नहीं है । जबतक सार्वजनिक हितका विरोध नहीं होता, तबतक भले ही व्यक्तिके पास वह धन रहे। पर जिस समय सार्वजनिक हित उसको चाहेगा, उस समय वह सार्वजनिक हितके लिये लिया ही जायगा और उस समय वैयक्तिक स्वामित्व गौण होगा ।

सरकारी कर

दूसरा उदाहरण आजके राज्यशासनमें क्या हो रहा है यह देखिये, सरकार 'कर' प्रजासे लेती है। करोंमें 'साधारण कर, विशेषकर, अत्यंत विशेष कर' ऐसे अनेक प्रकारके कर होते हैं। साधारण कर षष्ठांश माना जाता है, प्रतिशतक १५ या १६ समझ लीजिये । 'विशेष कर' प्रतिशतक ५० तक लेते हैं और अत्यंत विशेष कर प्रतिशतक ९० या ९५ तक भी सरकार ले सकती है। साधारण कर सर्वसाधारण मानवोंसे षष्ठांश रूपमें लेते हैं, विशेष धनिकोंसे लाभका आधा तथा अत्यंत धनिकोंसे प्रतिशतक ९० या उससे भी अधिक सरकार लेती है । प्रत्येक सरकारको यह अधिकार है ऐसा सब विचारवान् लोग मानते हैं

और यूरोप, अमेरिका तथा भारतवर्षमें ये कर हैं इसलिये प्रजाका पालन करनेवाला शासक अपना धन वसूल करता है। 'प्रजापतेः स्वित् धनं' प्रजा पालकका धन है वह प्रजा पालकने वसूल किया। इतनाही इसका अर्थ है ।

युद्धादि विशेष प्रसंगोंमें इससे भी अधिक धन सरकार लेती है और वह योग्य है ऐसा सब विद्वान मानते हैं। इसका कारण यही है, कि प्रजाके हित करनेके लिये ही वह धन था, वह प्रजापालकने प्रजाका पालन और हित करनेके लिये ले लिया । अस्तु इस तरह आज भी 'प्रजापतिका धन है' ऐसा ही माना जाता है । वेदका वचन इस तरह अच्छे राज्य शासनोंमें स्वीकृत किया गया है। यहां तर्कके मननसे यह सिद्ध हुआ कि—

१ धन व्यक्तिका नहीं है,
२ धन प्रजापालकका है,
३ इस धनका उपयोग प्रजाके सुखका संवर्धन करनेके कार्योंमें ही प्रजापालकको करना चाहिये,
४ इस धनका उपयोग अपने निज भोग बढानेके लिये करनेका अधिकार प्रजापतिको नहीं है ।

यह सब भाव ध्यानमें धारण करके ही वेदमें 'कस्य स्वित् धनं' के पूर्व 'मा गृधः' (मत ललचाओ) ऐसी आज्ञा की है ।

लालच न कर

मनुष्य धनकी लालच करता है और इस धनका उपयोग अपने भोग बढानेमें करता ही रहता है। जिस समय एक व्यक्ति अत्यधिक धनका उपयोग अपने भोगोंके लिये करने लगता है, उस समय कई दूसरे लोग उतने भोगोंसे वंचित रहते हैं और उनको दुःख होने लगता है । ये दुःखी जीव उस स्वार्थी धनिकका द्वेष करने लगते हैं और इस तरह स्पर्धा बढती है और कलह, युद्ध और विनाशमें इसका पर्यवसान हो जाता है। इसलिये वेदने कहा कि 'धन प्रजापति का है, अतः कोई व्यक्ति लालच न करे ।' कितनी सावधानताकी यह आज्ञा है देखिये ।

मनुष्यके लिये भोग अवश्य है

मनुष्यको जीवित रहना ही है, शीघ्र मरना नहीं है। इसलिये दीर्घजीवन प्राप्त करनेके लिये, सुखसे रहनेके

लिये जितना अन्न वस्त्रका भोग चाहिये उतना तो उसको अवश्य ही मिलना चाहिये। इतना लेनेमें दोष भी नहीं है। इससे अधिक अथवा अत्यधिक लेना दोष है। परि-ग्रहवृत्ति ' अर्थात् अपने पास अत्यधिक भोगोंको संग्रहित करके रखनेकी इच्छासे दोष होते हैं और दुःख बढ जाते हैं। इसलिये ' अ-परिग्रह-वृत्ति ' धारण करनी चाहिये। जीवन निर्वाहके लिये आवश्यक उपभोग प्रत्येक व्यक्ति ले सकती है, उससे अधिक नहीं। इसी उद्देश्यसे कहा है कि ' मा गृधः ' (मत ललचाओ), अत्यावश्यक जीवन निर्वाहकी वस्तु लेना दोष नहीं, वह लालच भी नहीं। अनावश्यक भोग संग्रह करना दोष है। यही दोष समाजमें उपद्रव मचाता है।

उदाहरण देखिये कि एक मनुष्यके लिये दो चार कुडते चाहिये। उतने मनुष्य रखे और पहने। पर चार दर्जन कुडते करना और रखना यह व्यवहार दोष उत्पन्न करनेवाला है। इससे कपडे अन्य लोगोंको जीवन निर्वाहके लिये भी नहीं मिलते और वर्गकलह खडे हो जाते हैं इसी तरह अन्यान्य उपभोगोंके विषयमें समझना चाहिये। इसीलिये वेदने कहा है कि ' मा गृधः। कस्य स्वित् धनं। ' लालच न धर। धन किसका है अर्थात् धन प्रजापालकका है यह ध्यानमें धारण कर।

धनका अर्थ सब उपभोगके पदार्थ, ये सब धन प्रजा-पतिके हैं। प्रजापतिका अधिकार सब धनपर है। प्रजापालन के लिये उसके पास सब धन रहेगा और उसका उपयोग वह प्रजापालनके कार्य निभानेके लिये करेगा। ' प्रजापतिका धन है ' इतना कहनेसे जो प्रजाका अच्छी तरह पालन नहीं करता, उसका धनपर अधिकार नहीं है, यह आप ही आप सिद्ध हो चुका है।

(१) मा गृधः, (२) कस्य स्वित् धनं ' ये दो मंत्र भाग हैं और इनका अर्थ ऊपर दिया है। कई विद्वान इनको दो वचन न मानकर, अर्थात् इसका एक ही वचन मानकर अर्थ करते हैं। ' मा गृधः कस्य स्विद् धनं ' किसीके धनकी लालच न कर ऐसा इसका अर्थ ये समझते हैं। पर यह अर्थ अशुद्ध है। ' स्वित् ' का अर्थ ' प्रश्न और वितर्क ' है। ये भाव लेकर अर्थ करनेमें उनका भाव प्रकट नहीं हो सकता। इस तरहके अर्थपर दूसरी आपत्ति यह है कि किसी दूसरेके धनकी लालच न कर ' ऐसा इसका अर्थ माननेसे अपने पासके धनकी लालच करनेमें तो कोई प्रतिबंध नहीं है। एक लखपति और करोडपति अपने धनका उपयोग जैसा चाहिये वैसा करे, यह अर्थ समाजमें धनी और निर्धनमें विग्रह करनेवाला है। सचमुच समाजके सामने धनी अपने धनका उपयोग कैसा करे यही एक समस्या है। निर्धन बिचारा अपनी निर्धनतामें सडता ही रहता है, वह लालच तो क्या करेगा और वह परिग्रह भी कितना करेगा। धनी दूसरेके धनका लोभ न करे इतना ही कहनेसे सामाजिक अर्थकी समस्या दूर नहीं होगी। धनीके पास जो धनका संग्रह है, वह किसका है, उसपर स्वामित्व किसका है यह महत्त्वका प्रश्न है।

यज्ञके लिये धन है

सब धन यज्ञके लिये हैं यह वैदिक विचारधारा है। सब धन प्रजापालक प्रजापतिका है, यह ऊपर दिये मन्त्रका कथन है। यज्ञके लिये सब धन है ऐसा कहनेसे भी वह धन सब प्रजाके पालनके लिये लगना चाहिये, यही तात्पर्य उससे निकलता है। क्योंकि ' यज्ञ ' का अर्थ ही " (१) जिस कर्मसे श्रेष्ठोंका सत्कार होता है, (२) संगतिकरण अर्थात् प्रजाका संगठन होता है और (३) असहायकोंको आवश्यक सहायता मिलती है " यह है। ' सत्कार-संगति-दानात्मक कर्म ' यज्ञ कहलाता है। इससे प्रजाजनोंका कल्याण होगा ही। सब धन यज्ञके लिये है ऐसा कहनेसे सब धन प्रजाके हितके लिये है ऐसा ही सिद्ध होता है। यज्ञमें जो धन लगता है वह सब यज्ञकर्ताके उपभोगके लिये नहीं रहता, परन्तु सब जनोंके हितके लिये है। इसलिये यज्ञार्थ धन हुआ अथवा प्रजाहितके लिये लगा, तो भी किसी व्यक्तिके उपभोगके लिये वह नहीं आसकता। इसलिये " किसी दूसरेके धनकी अभि-लाषा न कर " यह अर्थ अशुद्ध है और हमने जो अर्थ किया है वही सत्य है। किसी दूसरेके धनकी अभिलाषा तो कोई कभी न करे, पर अपना धन भी अपना नहीं, वह यज्ञके लिये अथवा प्रजापालनके लिये है ऐसा मानना ही वैदिक धर्मकी विचार धाराके अनुसार योग्य है।

त्यागसे भोग

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि मनुष्य अपने धनका उप-

भोग कैसा करे ? इसका उत्तर वेदमंत्रने ऐसा दिया है। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' उसका त्यागसे भोग कर। यहां 'त्याग' का अर्थ 'दान' है। दानसे अपने धनका उपभोग करना चाहिये। यह एक अपूर्व उपदेश है।

(१) धन प्रजापालन करनेवाले प्रजाशासकका है।

(२) इसलिये धनकी लालच न कर।

(३) धनका उपभोग त्यागसे कर।

(१) कस्य (प्रजापतेः) स्वित् धनं, (२) मा गृधः, (३) तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः। ये तीन मन्त्र भाग क्रमपूर्वक देखनेसे इनका सच्चा आशय स्पष्टरूपसे अपने मनमें आ जाता है। वस्तुतः यह मन्त्र ऐसा है—

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः, मा गृधः, कस्य स्विद्धनम्। (यजु. ४०।१) हमने इसके तीन विभाग, उलटे क्रमसे विचारके लिये लिये हैं।

'धनका दानसे भोग कर, धनकी लालच न धर, धन निःसन्देह प्रजापालकका है।' यहां धनका दानसे भोग करनेकी आज्ञा है।

दान और भोग

धनका भोगसे भोग हो सकता है और धनका दानसे भी भोग हो सकता है। इसका मनन अधिक करना चाहिये। दानसे भोग होता है और भोगसे भी भोग होता है। इसमें श्रेष्ठ भोग कौनसा है और कनिष्ठ भोग कौनसा है इसका मनन करना चाहिये। देखिये, इसका विचार ऐसा है...

भोगसे भोग

भोगसे भोग वह है कि जो प्रत्येक मनुष्य अपने इंद्रियोंसे स्वयं करता है। इस भोगकी मर्यादा होती है। यह भोगसे भोग अमर्याद नहीं किया जा सकता। देखिये अपने घरमें लड्डू जिलेबियां बनीं हैं और इनका भोगसे भोग करना है, तो उनका सेवन हम उतना ही कर सकते हैं कि जितना हम पचन कर सकते हैं। अधिक नहीं कर सकते। यदि अधिक खाया जाय, तो वह पचन नहीं होगा और अपचनसे अनेक कष्ट उत्पन्न होंगे। इस तरह मुखसे अन्न भोग करनेमें ईश्वरकी मर्यादा लगी है। उस मर्यादाका उलंघन कोई नहीं कर सकता। कोई मनुष्य १० जिलेबियां खायेगा, कोई बीस खायेगा। अधिक खायेगा तो वे जिलेबियां इसका भोग करने लगेंगी और उस समय खानेवालेको बडा कष्ट होगा।

इसी तरह आपके दस घर हैं, पर आप किसी एक समय एक ही घरमें रह सकते हैं और एक ही कमरेमें रह सकते हैं। यहां ईश्वरकी मर्यादा लगी है, उसका उलंघन करके अनेक मकानोंमें एक ही समय रहना असंभव है। आपके घरमें अनेक गाडियां हैं, पर आप एक समय एक ही गाडीमें बैठ सकते हैं। एक समय दोचार गाडियोंमें बैठना किसी मनुष्यके लिये असंभव है। यह ईश्वरने मर्यादा नियत की है। आपके घरमें सैकडों कपडे हैं, पर एक समय आप दोचार ही कपडे पहन सकते हैं। एक ही समय सैकडों कपड पहनना मनुष्यके लिये अशक्य है।

मनुष्य अनेक विवाह कर सकता है, सैकडों स्त्रियां जनानखानेमें रखनेवाले नबाब अनेक हो चुके हैं। पर एक समयमें किंवा एक दिनमें अधिकाधिक स्त्रियोंका समागम होना अशक्य है। यहां मर्यादा लगी हुई है, उसका उलंघन मनुष्य नहीं कर सकता।

इतने उदाहरणोंसे स्पष्ट हुआ कि भोगसे भोग अल्प मर्यादातक ही संभव है। मनुष्यकी भोग भोगनेवाली इंद्रियां थक जाती हैं और मर्यादा उलंघन करके अधिक भोग कर नहीं सकती। इसका अनुभव प्रत्येक मनुष्य चाहे जिस किसी इंद्रियसे कर सकता है। इसलिये इसके अधिक स्पष्टीकरणकी आवश्यकता नहीं है।

दानसे भोग

अब दानसे भोग कैसा अमर्याद है देखिये। आप मिष्टान्न घरमें जितना चाहिये उतना कीजिये और लोगोंको खिलाइये। आप जितना अन्न तैयार कर सकते हैं और जितनेको खिला सकते हैं, उतना आप दान कीजिये। इनके तृप्त हुए मुखोंको देखकर जो आनंद आपको होगा वह अमर्याद आनंद है। आप अन्नदान, विद्यादान, धन दान जितना चाहे उतना कीजिये, दवाखाने खोलिये, अनेक प्रकारके दानोंसे जो जनताका उपकार हो सकता है करते रहिये। उन लोगोंके आनन्दित मुख देखकर जो दाताको आनन्द प्राप्त हो सकता है वह आनन्द अमर्याद

है। हजारों विद्यार्थी आपके विश्वविद्यालयसे विद्वान होकर बाहर आजायँगे, आपके दवाखानेसे प्रतिदिन हजारों रोगी रोगमुक्त होंगे, उनका अमर्याद आनन्द देखनेसे जो आनन्द आपको प्राप्त होगा, वह आनन्द दिव्य आनंद होगा और वह अमर्याद आनन्द होगा। अर्थात् दानसे जो भोग होता है वह यह है। इसका विस्तार अमर्याद, आनन्द भी अभौतिक और इसका क्षेत्र भी व्यापक तथा अत्यंत विस्तृत है। इसलिये वेद कहता है कि 'लालच न कर और 'दानसे भोग कर।' दान करते हुए तुम भी थोडासा भोग अपने लिये करो, वह तुम्हारा आनन्द बढायेगा। व्यवहारमें भी जनसंघपर उपकार करनेसे जो आनन्द होता है वह आनन्द किसी पदार्थके भोग करनेसे प्राप्त होनेवाले आनन्दसे सहस्रगुणा अधिक होता है। इसलिये 'दानसे भोगकर' (तेन त्यक्तेन भुंञ्जीथाः) यह वेदकी आज्ञा आप सबका सुख बढानेवाली है, प्रेम बढानेवाली है, अमर्याद आनन्द देनेवाली है।

यहांतक हमने वेदके तीन उपदेश देखे। उनका परस्पर संबंध भी है। वे उपदेश ये हैं—

(१) कस्य (प्रजापतेः) स्वित् धनं— सब धन निःसंदेह प्रजापतिका है, किसी व्यक्तिका नहीं इसलिये—

(२) मा गृधः— कोई व्यक्ति लालच न करे और—

(३) तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः— उस (धनका) दानसे भोग करे। भोगसे भोग नहीं।

ये तीन उपदेश वैदिक अर्थ व्यवस्थाका स्वरूप बता रहे हैं। (१) धन किसी व्यक्तिका नहीं, व्यक्ति मरनेवाली है, धन छोडकर व्यक्ति मरकर चली जाती है। समाज स्थायी रहता है इसलिये जो स्थायी रहता है उसका धन है। उस समाजकी पालना प्रजापति संस्थासे होती है, इसलिये सब धन प्रजापति संस्थाका है। (२) यदि यह मान लिया गया तो व्यक्तिको किसी धनकी लालचमें फंसना योग्य नहीं, यह स्वयं ही सिद्ध हो चुका है। यदि धन प्रजापालक संस्थाका है तो वह व्यक्तिका नहीं। भले ही धन व्यक्तिके पास रहे। पर वह व्यक्ति उसका विश्वस्त होकर रहे, उपभोग करनेवाला स्वामी नहीं। इस तरह धनपर आसक्ति छोडना मनुष्यका कर्तव्य हो जाता है। इतना होनेपर भी मनुष्य भोग करनेके विना जीवित रह नहीं सकता, इसलिये वह कैसा भोग करे? तो इस प्रश्नके उत्तरमें वेद कहता है कि (३) 'त्यागसे-दान देकर-जो बचता है, यज्ञ करके जो यज्ञशेष रहता है उस अमृतका भोग करे। ये तीनों उपदेश वैदिक अर्थ व्यवस्थाका स्वरूप दर्शा रहे हैं। सब धन यज्ञके लिये उत्पन्न हुआ है, इसका अर्थ यह है।

समाजके आधारसे व्यक्ति रहती है।

यज्ञकी कल्पना मूलतः कहांसे, किस सिद्धान्तसे उत्पन्न हुई यह भी यहां देखना चाहिये। इसलिये वेदने मानव समाजकी व्यवस्था दो शब्दोंसे कही है, वह सब देखिये—

जगत्यां जगत् (यजु० ४०।१)

'जगतीके आधारसे जगत् रहता है।' यह इस वचनका पदशः अर्थ है। पर इसका आशय क्या है? जगती किसका नाम है और जगत् किसको कहते हैं, यह विचारणीय विषय है। 'जगत्' का अर्थ (गच्छति इति जगत्) जो गतिमान है, जिसमें चलनवलनकी शक्ति है, जो अपनी प्रगति करता है वह जगत् है। पृथिवी स्वयं अपनी इर्द गिर्द तथा सूर्यके चारों ओर घूमती है, इसलिये पृथिवी और पृथिवीपरके सब पदार्थ गतिमान हैं। सूर्य अपनी ग्रहमालाके साथ बृहत्सूर्यके चारों ओर घूम रहा है। इसलिये संपूर्ण सूर्यमाला घूम रही है अतः गतिमान है। सब विश्व गतिमान है। इस विश्वमें कोई वस्तु गति रहित नहीं है। इसलिये प्रत्येक वस्तुको, वह गतिमान होनेसे, जगत् कह सकते हैं।

पर यदि गतिका अर्थ प्रगति माना जाय, तो केवल मनुष्य ही ऐसा है, कि जो प्रगति कर सकता है। मनुष्यमें स्वतंत्र बुद्धि है, इसलिये वह अपनी उच्च गति-प्रगति-भी कर सकता है और नीचगति-अधोगति-भी कर सकता है। मनुष्यको छोडकर अन्य प्राणी गतिमान तो हैं, पर उनमें स्वतंत्र प्रतिभा नहीं है, अपनी स्थिर बुद्धिसे-जन्म जात मतिसे-वे जैसे हैं वैसे ही रहते हैं। चिडियां देखिये, जिस तरह वे १०००० वर्ष पूर्व थीं वैसी ही आज हैं और वैसी ही १०००० वर्षोंके बाद भी रहेंगी। पर मनुष्यका वैसा नहीं, वह प्रगति करता है और अपनी अधोगति भी करता है। इसलिये सामान्यतः सब विश्वान्तर्गत पदार्थ 'जगत' कहलाते हैं परंतु पूर्ण रीतिसे मनुष्य ही 'जगत्' है, क्योंकि

मनुष्य सच्चा गतिमान है। जिस तरह प्रभावी पुत्र जिस माताका होता है, उस माताको ' पुत्रवती ' कहते हैं, नहीं तो बहुत स्त्रियां पुत्र उत्पन्न करती हैं और सूवरीको तो दस दस संतान होते हैं, पर उनको कोई नहीं पूछता। इसी तरह सब ही गतिमान् होनेसे ' जगत् ' कहलाये जायंगे, परंतु अपनी गतिको मनुष्य प्रगति करके अन्तमें वह परमपद प्राप्त कर सकता है, इसलिये मनुष्य ही अपनी गति संपन्नताका उत्तमोत्तम उपयोग करता है, अतः मनुष्य ही सच्चा गतिमान् है, अतएव सत्य अर्थसे ' जगत् ' है।

एक व्यक्तिको ' जगत् ' कहा जाता है और उन अनेक जगतोंकी समष्टिको ' जगती ' कहते हैं। इसकी तालिका ऐसी होती है...

जगत्	...	जगती
एक	...	बहुत
व्यष्टि	...	समष्टी
व्यक्ति	...	समाज
असंभूति	...	संभूति
असंभव	...	संभव
विनाश	...	अविनाश

यहां प्रश्न होता है कि क्या व्यक्ति स्थायी है अथवा समाज स्थायी है। व्यक्ति मरती है और समाज स्थायी रहता है यह अनुभव हर कोई जानता है। हिंदु व्यक्ति मरती है, परंतु हिंदुसमाज अजरामर है, स्थायी है। इसी तरह अन्य समाजोंके विषयमें जान सकते हैं। व्यक्ति मरती है, प्रत्येक व्यक्ति मरनेवाली है, और उन व्यक्तियोंका बना समाज स्थायी और अमर है, यह हम सर्वत्र देखते हैं। हिंदु व्यक्तियां मर रहीं हैं, पर हिंदु समाज दस सहस्र वर्षोंसे है और भविष्यमें भी रहेगा। तो धन मरनेवाले, नाश होनेवालेका नहीं हो सकता, धन तो स्थायी रहनेवाले समाजका ही हो सकता है, यह बात तो स्पष्ट ही है।

यहां प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि ' कस्य (प्रजापतेः) धनं ' इस मन्त्र भागका अर्थ ब्राह्मण वचनानुसार ' प्रजापतिका धन है ' ऐसा है। यहां कोई पूछ सकते हैं कि धन प्रजाका है वा प्रजापतिका है ? अर्थात् यहां धन जनताका है वा शासकका है। प्रजा और प्रजापतिमें स्थायी भाव किसका है ? उत्तरमें हम कह सकते हैं कि ' प्रजा ' स्थायी है और ' प्रजापति ' बदलनेवाला है। ' प्रजा ' स्थायी रहती है ' राजा ' बदलता रहता है। प्रजाका अर्थ ' लोक समूह, जनता, मानव समाज ' स्थायी है, ' राजा ' रहे या न रहे, ' पालन करनेवाला ' हो या न हो, प्रजा रहती है और रहेगी। इसलिये ' प्रजा ' मुख्य है और ' प्रजापति ' गौण है। प्रजाके रहनेपर प्रजापति रहेगा, परंतु प्रजापतिके कारण प्रजा रहती है ऐसा नहीं कह सकते।

राजा, पालक, शासककी कल्पना पीछेसे उत्पन्न हुई है। पहिले जनसमाज था। जनसमाज बहुत वर्षोंसे था, पश्चात् राजा होनेसे कुछ लाभ होते हैं, इसलिये राजा निर्माण किया गया। और कहा कि ' राजा रञ्जयते प्रजाः ' राजा वह है कि जो प्रजाका रञ्जन करता है। अर्थात् प्रजा निरपेक्ष है, राजा-शासक-पालक रहे या न रहे ' प्रजाजन ' तो रहेंगे। वेदमें कहा है—

' विराड् वा इदमग्र आसीत्

अथर्व० १५

' वि-राज् ' अर्थात् राजविहीन प्रजाजन ही पहिले थे। ' इस समय राजाकी कल्पना भी निर्माण नहीं हुई थी। पर उस समय प्रजाजन थे। लोक थे, जनता थी। पश्चात् शासककी कल्पना हुई है। अर्थात् जनसमाज शाश्वत अथवा मुख्य और शासक, प्रजापति गौण है। रञ्जन करनेवाला गौण होता है और जिसका वह रञ्जन करता है वह मुख्य होता है। प्रजाजन न रहे तो राजा रह ही नहीं सकता, परंतु राजा रहे या न रहे प्रजाजन तो रह सकते हैं।

' कस्य (प्रजापतेः) धनं ' इस मंत्रभागमें जो कहा है कि धन प्रजापतिका है, प्रजापालकका है, उसमें यह भाव है कि प्रजाकी पालनाके लिये ही धन है, क्योंकि प्रजा ही मुख्य है, पालक उस प्रजाका आद्य सेवक, पालन कर्म करनेके लिये नियुक्त किया कार्यवाहक है। प्रजा पालन अच्छीतरहसे करेगा तो वह कार्यालयमें रहेगा, प्रजाका पालन अच्छी तरहसे उससे न होने लगा, तो वह अपने स्थानसे हटाया भी जायगा। वेदमें एक प्रजापतिको हटाकर दूसरे प्रजापतिको उसके स्थानपर रखनेका वर्णन है।

वास्तोष्पतिं व्रतपां निरतक्षन् । ऋ० १०।६१।७

' नियमोंका पालन करनेवाले दूसरे प्रजापतिको पहिले प्रजापतिके स्थानपर नियत किया । ' पहिला प्रजापति नियम विरुद्ध कार्य कर रहा था, अतः उसको शासकके स्थानसे हटाया गया और नया दूसरा प्रजापति वहां नियुक्त किया गया ।

' राजसूय ' यज्ञ इसीलिये है । राजाका, शासकका चुनाव इस यज्ञमें होता है । प्रजा संमति देती है और वह राज्यका शासक होता है । अस्तु इसका तात्पर्य यह है कि प्रजा मुख्य है और सेवक गौण है । शासकके पास जो धन आता है वह जिसका शासन करना है उसके हित साधनके कार्यक्रम करनेके लिये है । अतः धन प्रजाका है और शासक उस धनका विश्वस्त है । शासक विश्वस्त करके रहे, उपभोक्ता न बने, यह भाव इस विवरणका है ।

राजा और प्रजाकी तुलना करके यहां बताया कि प्रजा मुख्य और राजा गौण है । परंतु राजगद्दीपर नियुक्त होनेपर वही सब प्रजाजनोंसे अधिक आदरणीय समझा जाता है । वह परम आद्य सेवक है तथापि प्रजाद्वारा वंदनीय है, अधिक सन्मानके योग्य है । उसके शासनसे राज्य बल-शाली विजयी और प्रभावी हो जाता है । शासनके सब कार्योंमें राजा ही अधिक वन्दनीय है । जिस समय वह राजा प्रजाघातके कार्य करने लगेगा, उस समय प्रजाके प्रतिनिधि उसको स्थानभ्रष्ट कर देंगे, परंतु तबतक वही सर्वोपरि रहेगा ।

प्रजा और राजाका गौणत्व और मुख्यत्व इस तरह देखने योग्य है । विशिष्ट प्रसंगके अनुसार एकका और दूसरेका मुख्यत्व हो जाता है । मुख्य बात धन व्यक्तिका नहीं, समष्टीका धन है । यह सिद्धान्त सार्वभौमिक है । अतः इसका विस्मरण नहीं होना चाहिये ।

भूमि रूपी धन ग्रामकी जनताके हितके लिये है । किसी व्यक्तिका वह धन नहीं है । राष्ट्रकी भूमि राष्ट्रकी जनताके हितके लिये है । इसी तरह सब पृथिवी सब मानवोंके हितके लिये ही है । किसी व्यक्तिको यह अधिकार नहीं कि वह व्यक्ति अपने आधीन अत्यधिक भूमिभाग करे और दूसरोंको भूखसे मरनेकी आपत्तिमें डाले । भूमिके समान ही अन्य धन धान्यके विषयमें समझना चाहिये ।

मुख्य समष्टी है और व्यक्ति गौण है । समष्टी स्थायी और अमर है तथा व्यक्ति नष्ट होनेवाली है, इसीलिये कहा है कि धन समष्टिका है, प्रजाका है, किसी व्यक्ति विशेषका नहीं । ' कस्य (प्रजापतेः) धनं ' इस वेद वचनमें जो कहा है ' कि ' धन प्रजापतिका है ' उसमें भी यही भाव है कि ' धन प्रजाका है, प्रजापति उसकी व्यवस्था करनेवाला सेवक है ।

जब सब धन सब जनताका है । तब एक व्यक्ति (मा गृधः) उस धनकी लालच न करे, यह वेदकी आज्ञा युक्तियुक्त ही है । सब जनताके लिये जो वस्तु है, उसपर एक व्यक्तिका अधिकार हो ही कैसा सकता है और उस सार्वजनिक वस्तुकी लालच यदि एक व्यक्ति करेगी, तो वह उस व्यक्तिका अपराध समझा जायगा । इसलिये ' मत ललचाओ ' (मा गृधः) वेदने आज्ञा दी है । और (त्यक्तेन भुञ्जीथाः) त्यागसे भोग करो, दानद्वारा भोग करो, भोगसे भोग न करो यह वेदकी आज्ञा भी योग्य ही है ।

व्यक्तिको समाजका आश्रय

अब (जगत्यां जगत्) जगतीके आधारसे जगत् है, समष्टीके आधारसे व्यष्टि है, समाजके आधारसे एक व्यक्ति है । इसका प्रथम अनुभव लीजिये । कोई लडका जिस समय उत्पन्न होता है, उस समय वह सर्वथा पराधीन रहता है । मनुष्यका लडका तो सर्वथा पराधीन रहता है । कई पशु पक्षियोंके संतान भी पराधीन होते हैं, एक दो वर्ष माताका दूध पीकर वे रहते हैं । पश्चात् माता, पिता, कुटुंबकी सहायतासे वह बढता है, नंतर गुरुसे ज्ञान प्राप्त करके विद्वान बनकर स्वयंप्रज्ञ कहलाता है । तबतक उसकी पालना समष्टिसे होती रहती है । इसलिये कहा है कि समष्टिके आधारसे व्यष्टि रहती है । ' जगत्यां ' सप्तमी विभक्ति है । सप्तमीका अर्थ ' आधार, आश्रय, निवास ' है । जगत्का आधार, जगत्का आश्रय, जगत्को निवास स्थान देनेवाली जगती है । इसलिये जगत्के मनमें जगतीके विषयमें बडा आदर रखना चाहिये । व्यक्ति सर्वथा समष्टिके आधारसे रहती है, इसलिये व्यक्तिको उचित है कि, वह समष्टिके लिये अपने भोगका त्याग करे । यहां देखिये इसकी यह तालिका ऐसी बनती है—

१ व्यक्ति कुटुंबमें रहती है,
२ ,, ग्राममें ,, ,,
३ ,, जातीमें ,, ,,
४ ,, राष्ट्रमें ,, ,,
५ जगत् जगतीमें रहता है
" जगत् जगत्यां "

इसीलिये व्यक्ति कुटुंब, ग्राम, राष्ट्रके लिये दान करे। जो व्यक्तिके पास धन होगा वह राष्ट्र या नगरके लिये है ऐसा उस व्यक्तिको मानना चाहिये। और त्यागपूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहिये। व्यक्ति जीवित है इसके जीवनके लिये उसकी जातीने, उसके राष्ट्रने, उसके ग्रामने और कुटुंबने बहुत कुछ साक्षात् अथवा परंपरया दान किया है। यह कर्जा व्यक्तिपर है, इसको उत्तम रीतिसे उतारना चाहिये। यदि व्यक्तिने जाती और राष्ट्रके लिये कुछ भी नहीं किया, तो वह व्यक्ति जाती और राष्ट्रके कर्जेमें रही। कर्जामें रहना बुरा है। यहां यह भी ध्यानमें धारण करना चाहिये कि, व्यक्ति जिस कुटुंबमें रहती है, उस कुटुंबका धारण राष्ट्रने किया होता है। परंपरया यह ऋण कुटुंबपर रहता है। इस सब व्यवहारका विचार करके वेदने संक्षेपमें कहा है कि (जगत्यां जगत्) समष्टीके आधारसे व्यक्ति है। व्यक्तिका जीवन समाजके आश्रयसे है। इसलिये व्यक्तिके पासका धन समाजका धन है। (कस्य प्रजापतेः धनं) प्रजाका पालन करनेवालेका धन है। इसका यह भाव है। प्रजापतिका धन इसका अर्थ ही प्रजाका धन है, समष्टिका धन है, जगतीका धन है। संभूतिका धन है।

व्यक्ति समाज सेवा करे

शिष्य गुरुके आश्रममें रहता है, बालक माता पिताके आश्रयसे रहता है। इसलिये शिष्यके लिये गुरु और बालकके लिये मातापिता संसेव्य हैं। इसी तरह व्यक्ति समाज और राष्ट्रके आश्रयसे रहती है, इसलिये व्यक्तिके लिये समाज और राष्ट्र संसेव्य है, पूज्य है। इस कारणसे ही कहा है कि धन प्रजापतिका है, किसी एक व्यक्तिका नहीं। धन प्रजाके हितके कार्योंमें खर्च होना चाहिये, किसी व्यक्तिके उपभोगके लिये नहीं। ' जगतीके आश्रयसे जगत् रहता है ' ऐसा कहनेसे व्यक्तिका गौणत्व और समष्टिका मुख्यत्व सिद्ध होता है, जिससे यह सब आशय स्वयं प्रकट होता है।

पाठक यहां देखें कि वेदके एक वचनका आशय दूसरे वचनके साथ किस तरह मिलता है और किस तरह बाधक न होते हुए परिपोषकही होता है। पाठक यहां देखें कि वेद व्यक्तिकी स्वतंत्रताको समाजके हितार्थ अर्पण कर रहा है।

आज प्रत्येक समाजमें व्यक्तिका धन व्यक्तिके पास ही बंद रहता है। यद्यपि सरकार अनेक करोंके रूपसे उस धनका बहुतसा भाग ले लेती है, तथापि व्यक्तिके पास धन संग्रह बढता जाय और उस कारण दूसरी व्यक्तियां तद्-पेक्षया निर्धन रहें, ऐसी ही अर्थ व्यवस्था आज है। इस कारण समाजमें जो अस्वस्थता बढ रही है, वह नाना प्रकारके विप्लवोंको निर्माण करती है और इस हेतुसे सर्वत्र अशांति फैल रही है। यदि यह अर्थव्यवस्था इस वैदिक सिद्धान्तके अनुसार बन जाय, तो सब लोग यहीं अपूर्व सुखका लाभ प्राप्त कर सकेंगे।

सर्वमेधमें सर्वस्वका अर्पण

प्राचीन समयमें अनेक प्रकारके यज्ञ किये जाते थे, उनमें एक ' सर्वमेध ' यज्ञ होता था। उसमें अपना सब धन जनताके हितके लिये दिया जाता था। जो इस यज्ञको करते थे, वे धनहीन जैसे बन जाते थे। सम्राट् भी दूसरे दिनसे मिट्टीके पात्र बर्तने लगते थे। ऐसे यज्ञका उद्देश्य इतना ही था कि किसी एक व्यक्तिके पास धन संग्रह न हो, धन जनताके हित करनेके कार्यमें लगे। ऐसा आज नहीं होता है। भारत, युरोप अमेरिकामें व्यक्तिके पास धनसंग्रह बहुत हो रहा है। यह अयज्ञीय जीवन है। यह पाप हो रहा है। इसीसे दुःख बढ रहे हैं। प्रत्येक मानता है कि ' मेरा धन है ' कोई ऐसा नहीं मानता कि ' यह सब धन प्रजाका है, इसलिये वह प्रजा पालकके पास जाना चाहिये। ' इस वैदिक सिद्धान्तके न माननेसे बडा पाप हो रहा है और यही दुःख बढा रहा है।

बलवान रहेगा, निर्बल नहीं

यहांतक वैदिक अर्थव्यवस्थाके मुख्य तत्त्वोंका विवेचन किया। अब धनके स्वामित्वके विषयमें वेद क्या कहता है वह देखना है। वेद कहता है कि—

'ईशा वास्यं इदं सर्वं यत् किंच ।
(वा० यजु० ४०।१)

'यहां जो भी कुछ है, उस सब पर ईशका स्वामित्व होने योग्य है।' यहां ईशका ही स्वामित्व होगा। अनीशका यहां रहना भी असंभव है। ईश ही यहां रहेगा, अनीश नहीं।

जिसमें ईशन शक्ति रहती है उसको ईश कहते हैं, 'ईश' का अर्थ 'शासन करना, शक्तिमान होना, समर्थ होना, आज्ञा करना है।' जो राज्यशासन कर सकता है, जिसमें शासनशक्ति है, जिसमें सामर्थ्य है, जो दूसरोंको आज्ञा करके उनसे कार्य ले सकता है वह ईश है। जो राज्य शासन कर नहीं सकता, जिसमें शासन करनेकी शक्ति नहीं है, जो निर्बल है, जिसमें सामर्थ्य नहीं है, जो दूसरोंको आज्ञा नहीं कर सकता और उनसे कार्य नहीं करवा सकता, वह ईश नहीं है, वह अनीश है। अनीश ही दास होते हैं। ईश सामर्थ्यवान होते हैं, स्वामी होते हैं वे आर्य कहलाते हैं।

'ईशा वास्यं इदं सर्वं' जिसमें ईशन सामर्थ्य है वही इस सबपर शासन कर सकता है। जो ईशन शक्तिसे युक्त नहीं है वह इस विश्वपर शासन नहीं कर सकता। स्वामित्वका यह सिद्धान्त है। सर्वत्र सब देशोंके इतिहास में यही वैदिक सिद्धान्त दिखाई देता है। इसके विपरीत किसी जगह अनुभव नहीं आता। इतना यह सिद्धान्त सार्वभौमिक है।

'ईशा वास्यं' इस वचनमें 'वास्यं' क्रिया है। ईश क्या करता है वह इस क्रिया द्वारा बताया है। 'वास्यं' में वस् धातु है, इस धातुका अर्थ (वस् निवासे) निवास करना, रहना, (वस् आच्छादने) आच्छादन करना, घेरना, लपेटना, (वस् स्तम्भे) स्थिर करना, सीधा करना, (वस् स्नेह-छेद-अपहरणेषु) प्रेम करना, काटना और अपहरण करना, यह है।

जो शासक शक्तिवान् है वह यहां रहता है, इसको घेरता है, इसको स्तब्ध करता है, अपने विरुद्ध हलचल करने नहीं देता, विरोध करनेपर इसको काटता है और इसके धनका अपहरण करता है और यदि जनता चुप रही, तो उसपर प्रेम भी करता है। ऐसा सामर्थ्यवान पुरुष इस विश्वमें राज्यशासन करता है। ऐसा प्रभावी वीर स्वामी होने योग्य है। जो किसी स्थानके स्वामी बने वे इन गुणोंसे युक्त थे। जो इन गुणोंसे हीन हैं वे स्वामी अथवा शासक होने योग्य नहीं है।

परदेशमें जाकर जिन्होंने वहां राज्यशासन किया उनमें ये सामर्थ्य थे। जिनमें ये शक्तियां नहीं थी उन्होंने अपना राज्य खो दिया है। इन गुणोंसे जो युक्त होगा वही धनका स्वामी हो सकता है। इन गुणोंसे हीन स्वामी होने योग्य नहीं है। परदेशके लोग यहां आकर रहे, यहांके लोगोंको उन्होंने घेर लिया, अपनी शक्तिसे आच्छादित किया, यहांके लोगोंको उन्होंने स्तब्ध किया, हिलने नहीं दिया, विरोध करनेपर यहांके निवासियोंका वध किया, कतल की, धनादिका अपहरण किया और जो उनके वश हुए उनपर उन्होंने प्रेम भी किया, इसलिये उन परदेशियोंका राज्यशासन यहां हुआ और बढा। उनकी अपेक्षा हमारे अन्दर निर्बलता थी, इसलिये न हम बाहर जा सके और न वहां राज्यशासन कर सके। इसका कारण अपनी निर्बलता है। सभी देशोंके इतिहासोंमें यह वेदका सिद्धान्त स्पष्ट रूपसे दिखाई देता है। इसलिये यह त्रिकालाबाधित सत्य है।

ईश वह होता है कि जिसमें ईशन शक्ति है। राज्यशासनके मुख्य स्थानपर अथवा छोटे छोटे अधिकारियोंके स्थानोंपर ऐसे ईशन शक्तिवाले पुरुषको ही नियुक्त करना चाहिये। जिनमें ईशन शक्ति नहीं है, ऐसे अधिकारी होंगे तो राज्यशासन शिथिल हो जायगा और गुण्डोंकी प्रबलता बढेगी।

'यत् किंच सर्वं ईशा वास्यं' जो भी कुछ यहां है वह सब ईशन शक्ति जिसमें है उसीके अधीन रहने योग्य है। उसीके आधीन रहेगा। उसी सामर्थ्यवान्का प्रभुत्व सर्वत्र होगा। यह प्रभुत्वका नियम है। यह नियम अटल है। किसी समय राजवंशमें निर्बल पुरुष निर्माण होता है, उसके आधीन राज्य आया तो सब शासनव्यवस्था शिथिल हो जाती है। इसलिये समर्थ वीर ही स्वामी होने योग्य है।

इस समयतकके विवेचनसे निम्नलिखित सिद्धान्त प्रस्थापित हुए हैं—

१ **ईशा वास्यं इदं सर्वं यत् किंच**— यहां जो भी कुछ है उसपर ईशन शक्तिवालेका ही अधिकार रहेगा,

२ **जगत्यां जगत्**— समष्टिके आधारसे व्यक्ति रहती है, इसलिये व्यक्तिको उचित है कि वह—

३ **तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**— अपने पासके धनका दान करके भोग करे,

४ **मा गृधः**— धनका लोभ न करे, लोभ छोड देवे,

५ **कस्य स्विद् धनम् ?**— धन किसका है इसका विचार करे और जाने कि (कस्य प्रजापतेः धनं) प्रजापालकका धन है। किसी व्यक्तिका धन नहीं है। इसका स्मरण रखे।

यह सब मन्त्र इस तरह है—

ईशा वास्यमिदँ सर्वं यत्किंच, जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा, मा गृधः, कस्य स्विद्धनम्।

का० यजु० ४०।१; वा० यजु० ४०।१ ईश० १

यह मन्त्र अर्थसिद्धान्त और स्वामित्वके सिद्धान्तका प्रतिपादन करता है। इस मन्त्रके प्रत्येक पदका इतना महत्त्व है कि कोई पद उसके नियत स्थानसे हटाया नहीं जा सकता। प्रत्येक पद अपने स्थानपर विशेष महत्त्व रखता है। अर्थ सिद्धान्तपर इस समय बडे ग्रन्थ लिखे मिलते हैं और स्वामित्वके विषयमें भी बडा वाङ्मय है। पर इतनेसे थोडे शब्दोंमें यहां जो अर्थ रखा है वह वेदकी शैलीमें ही देखा जा सकता है।

शरीरमें राष्ट्र

शरीर भी एक बडा भारी राष्ट्र है। इसमें ३३ करोड अणुजीव रहते हैं, उनमेंसे प्रत्येक स्वतंत्र रीतिसे जन्मता, रहता और मरता है। इनके संघ होते हैं। इस राष्ट्रको '**देवानां देवयजनं कुरुक्षेत्रं**' देवोंके देव यज्ञ करनेका यह पवित्र क्षेत्र करके कहा है। यह पवित्र क्षेत्र है। यहां देव आकर रहते और सौ वर्ष यज्ञ करते हैं। यहां इस क्षेत्रका राजा 'आत्मा' है जिसको जीवात्मा बोलते हैं। इसके साथ तैंतीस ओहदेदार आते हैं और एक एक इंद्रिय और अवयवके अधिकारी होकर कार्य करते हैं। इस राष्ट्रके तैंतीस प्रांत हैं और उतने ही यहां प्रांताधिकारी हैं। इस तरह यह विशाल राष्ट्र है। इस राष्ट्रकी राजसभाएँ दो हैं, मनीषा और प्रज्ञा ये उनके नाम हैं। आत्माका अनुशासन यहां चलता है। काम क्रोधादि राक्षस इस राष्ट्रपर हमला करते हैं, इसपर वे कब्जा करना चाहते हैं। आत्माको इसकी सुरक्षा करनी चाहिये और शतसांवत्सरीक यज्ञ निर्विघ्नतया समाप्त करना चाहिये। बाहरके राष्ट्र जैसा ही यह शरीरके अन्दरका राष्ट्र है।

यह मंत्र प्रत्येक मनुष्य अपने अन्दर ढालकर देखनेका यत्न करे। (**ईशा वास्यं इदं सर्वं**) मैं इस शरीरका ईश हूं, मैं यहां इस शरीरमें रहता हूं, निवास करता हूं, अपनी आत्मशक्तिसे मैं इस शरीरको घेरता हूं, आच्छादित कर रहा हूं। शरीरपर प्रेम करता हूं, फोडे फुनसी होनेपर इसको काटता हूं, उस शरीरपर स्वामित्व करता हूं, इस शरीरको नियममें रखता हूं, जो काम लेना चाहता हूं मैं लेता हूं। मेरी इच्छासे इस शरीरमें सब कार्य होते रहते हैं। न होने लगे तो मैं अपनी इच्छासे शरीरसे इष्ट कार्य करवाता हूँ। मैं इस शरीरका शासक हूं। जो इस शरीरमें इन्द्रिय अवयव अथवा अंग हैं, वे सब मेरी इच्छासे अथवा मेरी शक्तिसे कार्य कर रहे हैं। मैं अपनी शक्तिका प्रभाव प्रत्येक अवयवपर रखता हूं, अपनी इच्छासे वहां कार्य करवाता हूं। मेरी इच्छाके प्रतिकूल यहां कुछ भी नहीं हो सकेगा।

(**जगत्यां जगत्**) इस शरीररूपी समष्टिके आश्रयसे प्रत्येक इंद्रिय और अवयव रहते हैं। इसलिये प्रत्येक अवयवको उचित है कि वह संपूर्ण शरीरके कल्याणके लिये ही कार्य करता रहे। कोई अवयव कभी ऐसा कार्य न करे कि जिससे शरीरपर आपत्ति आजाय। प्रत्येक अवयव अपनी पराकाष्ठा करे और संपूर्ण शरीरका कल्याण होनेके लिये ही कार्य करे क्योंकि संपूर्ण शरीरकी सुस्थितिमें ही प्रत्येक इन्द्रिय तथा अवयवकी सुस्थिति सुस्थिर रहनेवाली है।

प्रत्येक इंद्रिय तथा अवयव पृथक् स्वतंत्र नहीं है। शरीरका वह अंग है। अंगको उचित है कि वह अंगीकी सुस्थितिके लिये अपनी पराकाष्ठा करे। प्रत्येक इंद्रिय अपने सुखके लिये ही तत्पर रहने लगा और संपूर्ण शरीरके स्वास्थ्यके लिये उसने यत्न नहीं किया, तो शरीरका स्वास्थ्य बिगड जायगा, उससे जैसी शरीरकी हानि है वैसी ही उस स्वार्थी सुखेच्छुक अवयवकी भी हानि है। इसलिये प्रत्येक अवयवको उचित है कि वह सब शरीरके हितके लिये अपने

सुखका त्याग करे। (त्यक्तेन भुञ्जीथाः) अपने सुखका त्याग करके सब शरीरके स्वास्थ्यकी सुरक्षाके लिये जितना योग्य और आवश्यक है उतना ही भोग करे। यह संयम पूर्वक भोग होगा। शरीरकी स्वस्थता रखनेके लिये जो किसी इंद्रियको अप्रिय भी लगता होगा, वह उस इंद्रियको करना ही पडेगा। उदाहरणार्थ व्यायाम प्राणायाम करना। इंद्रियाँ आलस्यमें रहना चाहती हैं, पर शरीरके स्वास्थ्यके लिये अवयवोंको समयपर व्यायाम करना ही चाहिये। यही इंद्रियोंका त्याग है। प्रत्येक इंद्रिय अपने प्रिय विषयके पीछे ही न पडे, उससे शरीरपर आपत्ति आजायगी। यहां इंद्रियका संयम इष्ट है। शरीरके लिये, अंगीके लिये अंगका यह त्याग है। ऐसा त्याग करना अत्यंत आवश्यक है।

(मा गृधः) प्रत्येक इंद्रिय अपने प्रिय विषयमें इतना आसक्त न हो कि जिससे शरीरपर ही आपत्ति आजाय। प्रत्येक इंद्रिय अपने विषयके रसका विशेष भोग करनेमें न फंसे। शरीरकी सुस्थितिके लिये अपने भोगकी लालच कम करे। लालचमें न फंसे। (कस्य स्वित् धनं) धन किसका है, धन्यता किसकी हो ? प्रत्येक इंद्रियकी व्यक्तिशः शोभा बढे अथवा सब शरीरकी संपूर्णतः शोभा बढे इसका विचार हो। यहां जो शरीरमें शोभा और धन्यता है वह सब शरीरकी बढनी चाहिये। एक एक इंद्रिय अपने अपने विषयमें रस लेनेके लिये अपनी शक्ति बढावे तो सब शरीरपर आपत्ति आ जायगी। इसलिये यहांकी सब शोभा तथा धन्यता सबकी मिलकर होनी चाहिये सब शरीरकी होनी चाहिये। मैं आत्मा इस शरीरका प्रजापति हूं, मेरी शक्तिसे तथा मेरी शोभासे यहांकी शोभा बढती है। यह जानकर आत्माका अनुशासन यहां हो और किसी शत्रु रूप काम क्रोध लोभ मद मत्सर आदि शत्रुओंका शासन यहां कभी न हो।

जो मंत्र आत्मापरक होते हैं वे अपने शरीरमें घटाने चाहिये, जो साक्षात् आत्मा परक नहीं हैं वे भी कुछ हेर फेरसे अपने शरीरमें घटाये जा सकते हैं। पर जो साक्षात् आत्माका वर्णन करते हैं वे तो अवश्य घटाने चाहिये। इस घटानेके समय अर्थकी दृष्टिसे किसी समय कुच्छ न्यूनाधिक करना आवश्यक भी होता है।

इच्छासे इष्ट परिणाम

अपने शरीरमें वेदमंत्रोंको घटानेसे अपने शरीरके स्वास्थ्यके विषयमें बडा लाभ प्राप्त होता है। अपने शरीरमें अपने मनकी इच्छा शक्तिसे इष्ट परिणाम लाया जा सकता है। इस कार्यके लिये मनुष्यकी इच्छा शक्ति प्रबल करनी चाहिये। इच्छा शक्तिसे विलक्षण हेरफेर शरीरमें होते हैं। 'मैं बीमार हो जाऊंगा' ऐसा माननेसे शरीरमें बीमारी उत्पन्न होनेकी संभावना रहती है। इसी तरह 'मुझे कभी बीमारी नहीं होगी, अथवा इस आयी बीमारीसे मैं शीघ्र अच्छा हो जाऊंगा,' ऐसे आरोग्यमय विचार मनमें स्थिर होनेसे मनुष्य नीरोग हो सकता है, अथवा रोग होनेपर उसको अतिशीघ्र दूर करना भी संभव हो सकता है। इस तरह इष्ट परिणाम अपने विचारोंके प्रभावसे शरीरपर हो सकता है। आरोग्य प्राप्त करना अथवा रोगी स्थितिकी निर्मिति करना यह बहुत अंशसे अपने मनपर अवलंबित है। मानस चिकित्साका यह बीज है। अपने शरीरपर वेद मंत्रोंको घटानेसे यह लाभ होता है। मैं इस शरीरका शासक हूं। मेरा नियत किया अनुशासन ही यहां चलेगा। दूसरे किसीका अनुशासन यहां नहीं चलेगा। ऐसा दृढ विश्वास होनेसे अपने शरीरमें अपनी सदिच्छासे यथेष्ट इष्ट परिणाम निर्माण किया जा सकता है।

आरोग्य प्राप्त करनेका यह सुगम उपाय है। इसलिये अपने मनमें सदा शुभ विचार ही रहेंगे ऐसा करना चाहिये। दुष्ट विचारोंको अपने मनमें आने देना उचित नहीं है। मनके शुभ विचारोंसे शुभ परिणाम और अशुभ विचारोंसे शरीरपर अनिष्ट परिणाम होता है।

(१) मैं यहांका–इस शरीरका ईश हूं, (२) यहां इस शरीरमें जो कुछ है उसपर मेरा अनुशासन चलेगा, (३) यहां इस शरीरमें सब शरीरके आश्रयसे सब इंद्रियाँ हैं, इसलिये इंद्रियोंको सब शरीरका स्वास्थ्य रखनेके लिये यत्नवान होना चाहिये, अपने इंद्रियोंके भोगोंपर संयम रखना चाहिये, (४) संयमपूर्वक त्यागसे भोग करना चाहिये, (५) भोग लालसा छोडनी चाहिये। (६) सब शरीरका मिलकर हित होनेके लिये यत्न करना चाहिये।

संक्षेपसे शरीरपर घटानेके लिये इस मंत्रसे यह आशय लेना योग्य है। सामाजिक और राष्ट्रीय बोध इससे पूर्व

बताया ही है। उससे (१) अर्थव्यवस्था और (२) स्वामित्वके सिद्धान्तके विषयमें बहुत बोध मिल सकता है।

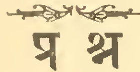
स्वयं शासन

वैदिक समय स्वयं अनुशासनका समय था। जनता ही स्वयं अपना शासन करती थी। संरक्षण दल तथा अधिकारियोंको विशेष कार्य करना नहीं पडता था। प्रजाको स्वयं अनुशासित रहनेकी सुशिक्षा दी जाती थी।

वैदिक राज्यशासनमें जनताको स्वयं अनुशासनशील बनाना मुख्य है। किसी राष्ट्रकी सरकार विशेष कर धनी लोगोंपर लगाकर करोडों रु. राष्ट्रीय धन कोशमें जमा कर सकती है। परंतु लोग ही स्वयं प्रवृत्तीसे " अपना धन व्यक्तिका नहीं है वह सब जनताकी भलाईके लिये है " ऐसा मानकर प्रजापति संस्थाके अध्यक्षके पास लाकर अपना धन दें यह जनताकी जाग्रतिका विशेष लक्षण होगा।

ईशन शक्तिसे जो विशेष योग्य होगा उसको शासन पर नियुक्त करना, व्यक्ति समाजके लिये है, अतः व्यक्तिके भोगोंपर स्वयं संयम रखकर स्वयं ही त्यागसे भोग भोगना स्वयं लोभका त्याग करना और सब धन संपूर्ण जनताका है ऐसा मान कर अपना धन जनताकी भलाईके लिये स्वयं स्फूर्तिसे अर्पण करना यह वैदिक जीवनके स्वयं शासनका स्वरूप है।

ऐसी स्वयं अनुशासनशील अपनी प्रजा बने और परम कल्याण अपने अनुशासनसे प्राप्त करे, ऐसा सबको प्रयत्न करना चाहिये।



प्र श्न

" वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धांत " आपने पढ लिया होगा। ये विषय केवल पढनेके ही नहीं हैं, सूक्ष्मदृष्टीसे मनन करनेके हैं। वैदिक सिद्धान्तोंको व्यक्तिके तथा समाजके जीवनमें ढालना चाहिये। यह सूक्ष्म मननसे ही हो सकता है। इस निबंधमें इन प्रश्नोंके उत्तर हैं—

१ विष्णुके पास महालक्ष्मी है इसका भाव क्या है ?
२ समाजवादी और साम्यवादी क्यों युद्ध करते हैं ?
३ धन किसका है ? धनका सच्चा स्वामी कौन है ?
४ क्या निर्बलका धन है ?
५ 'सुवीरां रयिं' इस वेदमंत्रका भाव क्या है ?
६ 'कः' का अर्थ क्या है ?
७ 'स्वित्' का भाव क्या है ?
८ क्या धन युद्धका कारण है ?
९ वेदमें युद्धके लिये महत्वके कौनसे शब्द हैं ?
१० क्या धनके बंटवारा करनेमें झगडा होता है ?
११ हम 'यह धन मेरा है' ऐसा कहते हैं, क्या यह सत्य नहीं है ?
१२ प्रजापतिका क्या लक्षण है ?
१३ क्या प्रजाका हित मुख्य है ?
१४ सरकार 'कर' लेती है, उसका तत्त्व क्या है ?
१५ हम क्यों लोभ छोडें ?
१६ क्या मनुष्य भोगके विना जीवित रह सकता है ?
१७ धन यज्ञके लिये है इसका भाव क्या है ?
१८ भोगसे भोग और त्यागसे भोगमें कौन हितकर है ?
१९ दान और भोगका उपयोग क्या है ?
२० व्यक्ति स्वतंत्र है वा समाजका अंग है ?
२१ अंगीके लिये अंगको क्या करना चाहिये ?
२२ राजा और प्रजामें मुख्य और गौण कौन है ?
२३ क्या समाजके आधारके विना व्यक्ति उन्नत हो सकता है ?
२४ व्यक्ति समाजकी सेवा क्यों करे ?
२५ 'सर्वमेध' यज्ञका रहस्य क्या है ?
२६ बलवान और निर्बलमें कौन श्रेष्ठ है ?
२७ अपने शरीरमें राष्ट्र किस तरह देखा जाता है ?
२८ मानस शक्तिसे शरीरपर किस तरह परिणाम होता है?
२९ इच्छाशक्तिसे शरीरमें लाभ किस तरह होते हैं ?
३० क्या अपनी मानस शक्तिसे अपने शरीरमें हानि भी हो सकती है ? हानिको किस तरह टाल सकते हैं ?
३१ शरीरमें स्वराज्य और राष्ट्रमें स्वराज्यका भाव क्या है?
३२ कौन शासक होने योग्य है और कौन नहीं ?

इन प्रश्नोंके उत्तर अपनी कल्पनासे, नये प्रमाण देकर देनेका यत्न करें।

उपनिषदोंको पढिये

निम्नलिखित उपनिषद् तैयार हैं—

१ ईश उपनिषद्	मूल्य २)	डा. व्य.	॥)
२ केन उपनिषद्	,, १॥)	,,	॥)
३ कठ उपनिषद्	,, १॥)	,,	॥)
४ प्रश्न उपनिषद्	,, १॥)	,,	॥)

अन्य उपनिषद् छप रहे हैं।

इन उपनिषदोंमें मनुष्योंके जीवनमें लाने योग्य, जीवनका सुधार करनेवाला तथा जीवनमें दिव्य भाव बढानेवाला तत्त्वज्ञान है। इसको व्यक्तिके तथा राष्ट्रके जीवनमें किस तरह लाया जा सकता है, इसी बातपर नया प्रकाश इस व्याख्यानमें डाला गया है। वेद तथा उपनिषद् विवादके ग्रंथ नहीं हैं। वे जीवनको दिव्य जीवन बनानेवाले तत्त्वज्ञानके ग्रन्थ हैं। सामूहिक रूपसे यह तत्त्वज्ञान मानवी-जीवनमें लाना चाहिये। इस तत्त्वज्ञानकी बुनीयादपर हमारा समाज और हमारा राष्ट्र तथा उसका राज्यशासन चलना चाहिये। इस सबका सुबोध विवरण पाठक इन ग्रन्थोंमें देखेंगे जो इनको पढेंगे।

स्वाध्याय-मण्डल, 'आनन्दाश्रम'
किल्ला-पारडी (जि. सूरत)

ऋग्वेद-संहिता

इस ग्रन्थमें प्रारंभमें संस्कृत-भूमिका है, उसके पश्चात् **मण्डलानुक्रमणिका** तथा **अष्टकानुक्रमणिका** है, पश्चात् **ऋषिसूची** तथा **देवता-सूची** है। इसमें मण्डलों और अष्टकोंका क्रम तथा सूक्तक्रम भी दिया है। इतनाही नहीं, पर इस सूचीमें प्रत्येक सूक्तमें आये देवता कौनकौनसे मन्त्रमें हैं यह भी दर्शाया है। इसी तरह इसकी टिप्पणीमें वे देवता दिये हैं जो मन्त्रोंमें तो हैं, पर सर्वानुक्रमणीमें दिये नहीं हैं। यह सूची मन्त्रक्रमके अनुसार है, इसलिये प्रत्येक मंत्रमें कौनसा देवता है, यह हरकोई देख सकता है। इसके नंतर **अकारक्रमसे ऋषिसूची** है। प्रत्येक ऋषिके कितने मंत्र हैं और वे कहां हैं यह सब यहां दर्शाया है। इस सूचीमें इन ऋषियोंके गोत्र दिये हैं और प्रत्येक गोत्रमें कितने ऋषि हैं यह भी इसी सूचीमें है।

इसके पश्चात् **अनुवाक-सूत्र** स्पष्टीकरणके साथ दिया है। प्रत्येक अनुवाकमें कितने मंत्र हैं और वे कहां हैं, यह सब यहां बताया है। इसी तरह अध्यायानुक्रमणी वैसे ही स्पष्टीकरणके साथ यहां दी है।

इसके नंतर '**सांख्यायन-संहिता**' का पाठक्रम तथा '**बाष्कल संहिता**' का पाठक्रम दिया है।

इसके पश्चात् **संपूर्ण ऋग्वेद-संहिता** मण्डल और अष्टकोंके साथ दी है। इसमें **प्रत्येक मंत्र स्वतंत्र और पृथक् पृथक् छपा है। तथा मंत्रके चरण, मंत्रके अर्धभाग, मंत्रके बहुतसे पद पृथक् पृथक् दिये हैं** और प्रत्येक सूक्त पृथक् पृथक् स्पष्ट दर्शाया है। प्रति सूक्तके प्रारंभमें ऋषि, देवता और छन्द दिये हैं और मंत्रोक्त-देवत भी कई स्थानोंपर दर्शाये हैं।

इसके बाद मण्डलान्तर्गत तथा अष्टकान्तर्गत **सूक्त-संख्या वर्गसंख्या, मन्त्रसंख्या** तथा **अक्षरसंख्या** दर्शानेवाले कोष्टक दिये हैं।

नंतर सब **परिशिष्ट** दिये हैं तथा उनके पाठभेद भी दिये हैं। ऋग्वेदसंहिताके अन्यान्य शाखाओंमें जो अधिक सूक्त मिलते हैं वेही ये परिशिष्ट हैं। ये कुल ३७ हैं।

इसके पश्चात् **अष्टविकृतियाँ**, उनकी बनानेकी विधिके साथ दी है। इनकी विधि जानकर पाठक अन्याय मंत्रोंकी भी विकृतियाँ स्वयं कर सकते हैं। यहां **पञ्चसंधि** भी दिये हैं जो विशेष महत्त्वके हैं।

इसके पश्चात् **कात्यायनमुनि**- विरचित **सर्वानुक्रमणिका** टिप्पणीके साथ संपूर्ण दी है। उसके बाद **शौनकाचार्यकृत अनुवाकानुक्रमणी** है। इसके बाद छन्दोंके उदाहरण लक्षणोंके साथ दिये हैं। इसमें ११ **छन्द** और उनके अनेक **उपछन्द** उदाहरणोंके साथ दिये हैं। इसके देखनेसे किस मन्त्रका कौनसा छन्द है इसका ज्ञान हो सकता है।

इसके बाद अकारक्रमसे ऋग्वेदके संपूर्ण **मंत्रोंकी सूची** है। ये मंत्र अन्य वैदिक संहिताओंमें कहां हैं, उनका भी पता यहां दिया है। इससे ऋग्वेद मंत्र संहिताओंमें कहां हैं इसका ज्ञान हो सकता है।

इतनी सूचियोंके साथ इतने परिश्रमसे यह ऋग्वेद-संहिता छापी है। इस समय जो ऋग्वेदके ग्रंथ हैं उनमेंसे किसीमें इतने ज्ञानके साधन नहीं हैं। वेदका अनुसंधान करनेवालोंके लिये यह एक अनुपम साधन है। इसकी कुल पृष्ठसंख्या १०५० है। मूल्य केवल ६) डा. व्य. १॥) है।

मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल, 'आनन्दाश्रम,' पारडी (जि. सूरत.)

श्रीमद्भगवद्गीता ।

इस ' **पुरुषार्थ-बोधिनी** ' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गई है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंकेही सिद्धान्त गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस ' **पुरुषार्थ-बोधिनी** ' टीकाका मुख्य उद्देश्य है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता के १८ अध्याय तीन विभागोंमें विभाजित किये हैं और उनकी एकही जिल्द बनाई है। मू० १०) रु० डाक व्यय १॥)

भगवद्गीता–समन्वय ।

यह पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीताका अध्ययन करनेवालोंके लिये अत्यन्त आवश्यक है। ' **वैदिक धर्म** ' के आकारके १३५ पृष्ठ, चिकना कागज। सजिल्दका मू० २) रु०, डा० व्य० ।=)

भगवद्गीता--श्लोकार्धसूची ।

इसमें श्रीमद् गीताके श्लोकार्धोंकी अकरादिक्रमसे **आद्याक्षरसूची** है और उसी क्रमसे **अन्त्याक्षरसूची** भी है। मूल्य केवल ॥।), **डा०** व्य० ≈)

सामवेद कौथुमशाखीयः

ग्रामगेय [वेय प्रकृति] गानात्मकः

प्रथमः तथा द्वितीयो भागः।

(१) इसके प्रारंभमें संस्कृत-भूमिका है और पश्चात् ' **प्रकृतिगान** ' तथा ' **आरण्यकगान** ' है। **प्रकृतिगानमें अग्निपर्व** (१८१ गान) **ऐन्द्रपर्व** (६३३ गान) तथा ' **पवमानपर्व** '(३८४ गान) ये तीन पर्व और कुल ११९८ गान हैं। **आरण्यकगानमें अर्कपर्व** (८९ गान), **द्वन्द्वपर्व** (७७ गान) **शुक्रियपर्व** ८४ गान) और **वाचोव्रतपर्व** (४० गान) ये चार पर्व और कुल २९० गान हैं।

इसमें पृष्ठके प्रारंभमें ऋग्वेद-मन्त्र है और सामवेदका मन्त्र है और पश्चात् गान हैं। इसके पृष्ठ ४३४ और मूल्य ६) रु० तथा डा० व्य० ॥।) रु० है।

(२) उपर्युक्त पुस्तक केवल '**गानमात्र**' छपा है। उसके पृष्ठ २८४ और मू० ४)रु. तथा डा०व्य०॥)रु. है।

आसन ।

" योगकी आरोग्यवर्धक व्यायाम–पद्धति "

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है कि शरीरस्वास्थ्यके लिये आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यन्त सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्य भी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २॥) दो रु० आठ आने और डा० व्य० ॥) आठ आना है। म० आ० से २॥।≶) रु० भेज दें।

आसनोंका चित्रपट— २०"×२७" इंच मू० ।) रु., डा० व्य० −)

मन्त्री— स्वाध्याय-मण्डल 'आनन्दाश्रम' किल्ला-पारडी (जि० सूरत)

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवलेकर, बी. ए., भारत-मुद्रणालय, आनन्दाश्रम, किल्ला-पारडी (जि. सूरत)



वैदिक व्याख्यान माला - तृतीय व्याख्यान

अपना स्वराज्य

लेखक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

स्वाध्याय-मण्डल, 'आनन्दाश्रम', किल्ला-पारडी, जि. सूरत

मूल्य छः आने

मैं कौन हूं ?

' मैं कौन हूं ? ' मेरी योग्यता कितनी है ? मेरा शरीर कैसा है ? मेरे शरीरके साथ मेरा क्या संबंध है ? इत्यादि अनेक प्रश्न वारंवार मनुष्यको सताते हैं। इनका उत्तर वैदिक दृष्टिकोणसे इस व्याख्यानमें देनेका यत्न किया है। आशा है कि पाठकोंको इस व्याख्यानमें इन प्रश्नोंका उचित उत्तर मिलेगा।

अपने शरीरपर मेरा प्रभुत्व है, इस शरीरपर मेरा अनुशासन चलना है, दूसरेका नहीं। इस शासनव्यवस्थाको वेदमें **' स्वराज्य '** कहा है। इसलिये इस व्याख्यानका नाम **' अपना स्वराज्य '** रखा है। यह शरीरही अपना स्वराज्य है। इसका शासक-अध्यक्ष-मैं हूं। मैं जो चाहूंगा वही यहां बनेगा और जो मैं न चाहूंगा, वह यहां बनेगाही नहीं। पूर्ण संयम तथा पूर्ण निग्रहपूर्वक अपने शरीरको मैं सुपथसे चलाऊंगा और पुरुषोंमें पुरुषोत्तम बनूंगा। पुरुषोंमें उत्तम पुरुष बनना ही मेरे सामने ध्येय है।

जनतामेंसे प्रत्येक मनुष्य इस तरह स्वयं अनुशासनमें रहनेवाला, ज्ञानविज्ञानसंपन्न, कर्ममें कुशल, स्वभावसे संयमी और सब दृष्टीसे उत्तम पुरुष बने और ऐसे उत्तम पुरुषोंके द्वाराही स्वराज्यशासन राष्ट्रमें चलाया जाय। यही स्वराज्य वेदका स्वराज्य है। यही भूमिपर स्वर्गका सुख मनुष्यमात्रको देगा इसमें संदेह नहीं है। इसीके लिये सबके प्रयत्न होने चाहिये।

स्वाध्याय-मण्डल
किल्ला-पारडी (जि. सूरत) लेखक
१।१।५२

ॐ

अपना स्वराज्य

अपना स्वराज्य हम सबको प्राप्त है। दरिद्रीसे दरिद्री भी क्यों न हो, अथवा धनपतिसे बडा धनपति भी क्यों न हो, इन दोनोंको यह स्वराज्य समानतया जन्मसे ही प्राप्त है। इस अपने स्वराज्य पर हम अपना शासन चलावें, अथवा अपने राज्यको शत्रुके स्वाधीन करें, यह प्रत्येकका अधिकार है। यह प्रत्येककी इच्छा है।

यह अपना स्वराज्य कहां है? उत्तरमें कह सकते हैं कि यह अपना स्वराज्य इस अपने शरीरमें ही है। दूर किसी भी स्थानपर जानेकी आवश्यकता नहीं है। यह अपना जन्मके साथ प्राप्त शरीर ही अपना स्वराज्य है। यहांका राजा 'आत्मा' है, इसका शासन यहां चलना चाहिये।

बलवानका अधिकार

शासन तो बलवानका चलता है। निर्बलका शासन कोई नहीं मानता। 'ईशा वास्यं इदं सर्वं' (यजु० ४०।१) जो ईशन शक्तिसे युक्त है, उसीका इस विश्वपर शासन होगा। निर्बलका नहीं होगा। इसलिये इस शरीर पर अपना शासन चलाना है, तो प्रथम अपने अन्दर बल प्राप्त करना चाहिये। बलसे ही सब विश्व खडा है। देखिये--

शतं विज्ञानवतां एको बलवान् आकम्पयते, स यदा बली भवति, अथ उत्थाता भवति, उत्तिष्ठन् परिचरिता भवति, परिचरन् उपसत्ता भवति, उपसीदन् द्रष्टा भवति, श्रोता भवति, मन्ता भवति, बोद्धा भवति, कर्ता भवति, विज्ञाता भवति, बलेन वै पृथिवी तिष्ठति, बलेन अन्तरिक्षं, बलेन द्यौः, बलेन पर्वता, बलेन देवमनुष्या, बलेन पशवश्च वयांसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलिकं बलेन लोकस्तिष्ठति, बलमुपास्व इति। छां० उ० ७।८।१

'बल विज्ञानसे श्रेष्ठ है, अकेला बलवान् मनुष्य सैकडों विज्ञानी मनुष्योंको कंपित करता है- डराता है। वह जब बलवान् होता है तब वह उठता है, जब उठता है तब वह सेवा करने लगता है, जो जनसेवा करता है वह जनप्रिय होता है, वही देखनेवाला, श्रोता, मननकर्ता, ज्ञाता होता है। बलसे यह पृथिवी स्थिर रहती है, बलसे अन्तरिक्ष, बलसे द्युलोक, बलसे ये पर्वत स्थिर रहे हैं। बलसे देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, घास, वनस्पतियाँ, कृमिकीट, चीटियाँ, पतंग ये सब स्थिर रहते हैं। बलसे सब लोक स्थिर रहते हैं, इसलिये बलकी उपासना करो।' विना बलके इस जगत्में कुछ भी नहीं होता। इसलिये बल प्राप्त करना चाहिये।

अपने शरीरके अन्दरका राज्य हो अथवा बाहरका राज्य, साम्राज्य हो, बलसे ही वह चलाया जा सकता है। निर्बलसे इस जगत्में कुछ भी नहीं होता। निर्बलको तो सब दबाते हैं। इस जगत्में निर्बलके लिये कोई आशा नहीं है। इसलिये पर्याप्त बल प्राप्त करना चाहिये। पर्याप्त सामर्थ्य प्राप्त करना चाहिये। बलसे ही स्वराज्य शासन चलाया जा सकता है।

सम्राट् और अधिकारी

यह शरीर अपना स्वराज्य है। इस राज्यमें किस तरह अधिकारियोंकी नियुक्ती की जाती है, इस विषयमें उपनिषदोंमें बडा अच्छा वर्णन है--

यथा सम्राट् एव अधिकृतान् विनियुंक्ते, एतान् ग्रामान्, एतान् ग्रामान् अधितिष्ठस्व इति। एवमेव एष प्राणः इतरान् प्राणान् पृथक्पृथ-

गेव सन्निधत्ते ॥ ४ ॥ पायूपस्थेऽपानं, चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते, मध्ये तु समानः । प्रश्न० उ० ३।४-५

'जिस तरह सम्राट् स्वयं अधिकारी राजपुरुषोंको कहता है कि तू इन ग्रामोंपर और तू इन ग्रामोंपर अधिकार चलाओ, इसी तरह यह मुख्य प्राण अन्य प्राणोंको पृथक् पृथक् स्थानोंपर नियुक्त करता है, मलमूत्र स्थानोंमें अपानको, मुख-नासिका-नेत्र-कर्ण इन स्थानोंपर मुख्य प्राण स्वयं रहता है, और मध्यमें समान प्राण रहता है ।'

इस तरह सम्राट्के अधिकारियोंकी नियुक्ति करनेकी उपमा प्राणोंकी यथास्थान नियुक्ति करनेके लिये दी है। यह उपमा ऐसी भी हो सकती है कि, जिस तरह मुख्य प्राण अन्य प्राणों और उपप्राणोंको शरीरके भिन्न भिन्न विभागोंपर नियुक्त करता है, उस तरह सम्राट् अपने प्रान्ताधिकारियोंको पृथक् पृथक् प्रान्तोंपर नियुक्त करता है। इसका अर्थ यह है कि जैसा भूमिपर किसी सम्राट्का साम्राज्य होता है और उसके प्रान्ताधिकारी तथा नगराधिकारी होते हैं, ठीक इस तरह शरीरका सम्राट् आत्मा शरीरके नाना विभागोंपर अपने अधिकारियोंको नियुक्त करता है। अथवा यों भी कहा जा सकता है कि जैसा इस शरीरका सम्राट् अपने अधिकारियोंको अपने शरीरके विभागोंपर नियुक्त करता है, वैसा सम्राट् अपने अधिकारियोंको अपने साम्राज्यके प्रान्तोंपर नियुक्त करता है। शरीरमें जैसा साम्राज्य है, वैसाही भूमिपर भी है, और जैसा साम्राज्य भूमिपर होता है वैसा ही शरीरमें भी है। शरीरका साम्राज्य छोटा और पृथ्वी परका साम्राज्य विस्तृत है। छोटा और विस्तृत इतना इनमें भेद है, परंतु बाकी व्यवस्थामें दोनों साम्राज्य समान ही हैं।

राष्ट्रकी तालिका

शरीरमें	साम्राज्यमें
१ ३३ करोड अणुजीव रहते हैं।	१ ३३ करोड मनुष्य रहते हैं।
२ प्रत्येक अणुजीव स्वतंत्र रीतिसे जन्मता, रहता और मरता है।	२ प्रत्येक मनुष्य स्वतंत्र रीतिसे जन्मता, रहता और मरता है।
३ शरीरमें इंद्रिय और अवयव अनेक होते हैं।	३ राष्ट्रमें प्रान्त और प्रविभाग अनेक होते हैं।
४ प्रत्येक इंद्रिय और अवयवका अधिष्ठाता भिन्न भिन्न होता है।	४ प्रत्येक प्रांतपर एक अधिकारी भिन्न भिन्न होता है।
५ शरीरमें इंद्रियां भोग करनेवाली और प्राण भोग न करनेवाले हैं।	५ राष्ट्रमें वैतनिक सेवक और अवैतनिक स्वयंसेवक होते हैं।
६ शरीर शासक आत्मा है।	६ राष्ट्रशासक सम्राट् है।

इस तरह शरीर और राष्ट्रमें शासनव्यवस्थाकी समता है। ऋषियोंने यह प्रत्यक्ष देखी और उसकी तुलना की और दोनोंके साम्यका वर्णन किया। ये ही सामान्य नियम स्थायी स्वयंभू और सुखदायी है।

३३ कोटी प्रजाजन

इस शरीरके अवयवोंका वर्णन अब हम करते हैं। शरीरमें ३३ कोटी अणुजीव हैं। ये शरीरके नाना प्रान्त-विभागोंमें रहते हैं। १ नासिकाविभाग, २ जिह्वा विभाग ३ नेत्र विभाग, ४ त्वचा विभाग, ५ कर्ण विभाग ये पांच विभाग ज्ञानियोंके प्रान्तोंके हैं। अब श्रमजीवियोंके प्रान्तोंके विभाग देखिये- हाथ, पांव, मुख, गुदा और शिश्न ये पांच विभाग श्रमजीवियोंके क्षेत्रोंमें हैं। इसके अतिरिक्त प्राण विभागके पांच मुख्य प्राण और पांच उप प्राण मिलकर दस विभाग होते हैं। मुख्य प्राणका प्रान्त

छाती और उसके ऊपरका प्रदेश है, अपान नाभी के नीचले प्रदेशमें रहता है, व्यान सब शरीरमें संचार करता है, उदान ऊर्ध्व गतिसे संचार करता है, समान उदरके स्थानमें रहकर खाये अन्नका रस करता है। पांच उपप्राणों- के क्षेत्र भी ऐसे ही इस शरीरमें हैं।

इनके अतिरिक्त मस्तिष्क, पृष्ठवंश, दो फेंफडे, हृदय, यकृत्, प्लीहा, दो मूत्राशय, पेट, मलाशय ये मुख्य प्रान्त हैं, तथा मन बुद्धि मिलकर तेरह प्रान्त हुए। पांच ज्ञानके इंद्रिय, पांच कर्मके इन्द्रिय, पांच मुख्य प्राण, पांच उपप्राण, ये बीस हैं और ऊपर गिनाये तेरह प्रान्त, सब मिलकर ३३ प्रान्त हुए। इन सबका मुख्य अधिष्ठाता आत्मा है। आत्मा सबमें मुख्य और अन्य ३३ अधिकारी गौण हैं। इस तरह यह आत्माका स्वराज्य अपने शरीरमें है। आत्मा यहां राज्य करता है। इनमेंसे प्रत्येक प्रांतपर एक एक अधिकारी रहता है जो वहांका व्यवहार देखता है।

वैतनिक सेवक

जिस तरह राज्यशासनमें अनेक वैतनिक अधिकारी होते हैं, प्रान्ताधिकारी, विभागाधिकारी, ग्रामाधिकारी, आरक्षक, सैनिक इस तरह यहां शरीरमें भी पूर्वोक्त प्रान्तोंके एक एक अधिकारी है, उसके सहायक अधिकारी भी वहां उसकी सहायता करते हैं। ये सब वैतनिक सेवक हैं। ये भोगरूप वेतन लेते हैं। इनमेंसे प्रत्येकका भोगक्षेत्र पृथक् पृथक् है। शरीर जो अन्न खाता है, उसका रस इनके पोषण के लिये इनको मिलता है। यथा प्रमाण वह रस ये लेते हैं। इसके अतिरिक्त भी इनको भोग मिलता है।

नासिका पृथ्वीसे गन्ध लेती है। सुगंध लेकर यह नासा- धिकारी संतुष्ट होता है, दुर्गंध आगया तो संतप्त होता है। सुगंध जितना चाहे इसके कार्यालयमें आवे, वह इसका भोग करेगा, पर थोडासा दुर्गन्ध आया तो यह क्रोधी होगा। इस तरहका यह भोगी अधिकारी है। दूसरा ओहदेदार रसनाधीश है, जिह्वा इसका कार्यालय है। इसको मीठे स्वादु पदार्थ भोगके लिये चाहिये, कई यहां ऐसे भी रहते हैं कि वे तिक्त, खट्टा आदि रस पसंद करते हैं। रस छः हैं, इनमेंसे इसको जो जैसा रस चाहिये वह मिला तो यह संतुष्ट रहता है, वह न मिला तो यह बिगड बैठता है। इस तरह छः रस इसके भोगका क्षेत्र है इसमें यह विहार करता है।

तीसरा यहांका अधिकारी नयन-वीर है। इसका क्षेत्र आंख है। इसको सुन्दर रूप प्रिय हैं। जितनी सुंदरता है उसमें यह रमता है और कुरूप वस्तु सामने आगयी तो यह क्रोधी हो जाता है। सौंदर्यसे लुब्ध होनेवाला यह अधिकारी है। चौथा त्वचाका अधिकारी है। इसको मृदु कोमल स्पर्श चाहिये। इससे यह प्रसन्न होता है। किसी समय इसके पास कठोर स्पर्शकी वस्तु आगयी, तो यह क्रोध करने लगता है। पांचवा अधिकारी कर्ण है। यह बडा वीर है, परंतु यह वीर मीठे स्वरसे प्रसन्न होता है और कर्कश कठोर स्वरसे अप्रसन्न होता है। मधुर गायन हुआ तो उसमें यह रमेगा, परंतु कर्णकठोर शब्द आने लगा, तो यह बडा अप्रसन्न हो जाता है।

इस राज्यके ये अधिकारी ऐसे भोगी हैं, ऐष आराम करनेवाले हैं, वेतन लेकर ये कार्य करते हैं। वेतन न मिला, भोग न मिले, तो ये अप्रसन्न होते हैं और हडताल भी करते हैं और कार्य करना बंद भी कर देते हैं॥ अपने भोगों पर इनकी दृष्टी सदा टिकी रहती है, संपूर्ण शरीर रूपी राष्ट्रका क्या होगा, उसका कल्याण होगा या नहीं, हमने कार्य करना छोड दिया, तो इस अखण्ड शरीररूप राष्ट्रका क्या होगा, इस बातकी इनको पर्वाह नहीं है। मेरे लिये भोग चाहिये, वे पर्याप्त मुझे मिलने चाहिये। शेष राष्ट्रका जो चाहे सो बने, इसका विचार ये कभी करते नहीं।

भोगी अधिकारी

अनेक वार ये अड जाते हैं, कार्य करना छोड देते हैं, हडताल करते हैं। इसीका नाम रोग है। आंखमें मोतीया होता है, नाकसे गंध लेनेका कार्य बंद हो जाता है, कान शब्दोंका श्रवण नहीं करते, इस तरह इनके सत्या- ग्रह वारंवार शुरू होते हैं और इस कारण इनके झगडे मिटाते मिटाते राजा आत्माराम बडे कष्टोंका अनुभव करता है। सब संघका हित देखना चाहिये, अपने ही वैयक्तिक भोगलालसामें फंसना नहीं चाहिये, इस तत्त्व- ज्ञानका उपदेश सुननेपर भी ये स्वार्थी वैतनिक सेवक उपदेश न सुननेके समान बर्ताव करते हैं। वेतनपर ही

दृष्टी रखनेवाले और अपने कर्तव्यका विचार न करनेवाले अधिकारियोंसे ऐसा ही क्लेश होना स्वाभाविक है। भोगी अधिकारी ऐसा ही करेंगे।

ये कभी कभी शत्रुके अधीन भी हो जाते हैं। अपने क्षेत्रका संरक्षण ये ठीक तरह नहीं करते, वहां शत्रु आक्रमण करता है, उस प्रांतका अधिकार अपने अधीन करके शत्रु बैठ जाता है। ऐसी विपत्ति कभी कभी इन वैतनिक, सुखलुब्ध, स्वार्थी सेवकोंके कारण इस शरीररूपी राष्ट्र पर आजाती है। फिर बडे प्रयत्नसे उस शत्रुको हटानेका प्रयत्न करना पडता है। इसीको रोग और चिकित्सा कहते हैं।

अवैतनिक स्वयंसेवक

इस देहरूपी राष्ट्रके वैतनिक सेवकोंकी वृत्ति जैसी ऊपर बतायी है वैसी है। परंतु इस शरीररूपी राष्ट्रमें अवैतनिक स्वयंसेवक भी रहते हैं। वे प्रारंभसे अन्ततक अपना कार्य अवैतनिक सेवा करनेके उच्च आदर्शसे करते रहते हैं। राष्ट्रका उच्च जीवन इन स्वयं सेवकोंकी सेवापर निर्भर रहता है। इन अवैतनिक स्वयंसेवकोंका संचार शरीररूपी संपूर्ण राष्ट्रमें होता रहता है। ये कुछ भी वेतन लेते नहीं, विश्राम लेते नहीं, भोग भोगते नहीं, खाते नहीं, परंतु दिन रात शरीररूपी राष्ट्रकी अवैतनिक सेवा करते रहते हैं। जन्मसे मृत्युपर्यंत इनकी अवैतनिक सेवा चलती रहती है, क्षण भर भी इनको विश्राम नहीं मिलता।

आंख, नाक, कान, आदि जो वैतनिक सेवक हैं वे भोग भोगते, खाते पीते, विश्राम करते, ऐष आराममें मस्त रहते हैं। पर ये प्राणरूप अवैतनिक स्वयंसेवक दिन रात न थकते, न विश्राम लेते, लगातार सेवाके कार्यमें लगे रहते हैं। मृत्युके समयके पूर्व ही आंख, नाक, कान, आदि वैतनिक सेवक अपना कार्य बंद करके चुप बैठ जाते हैं, परंतु ये प्राणरूपी सब स्वयंसेवक मृत्युके अन्तिम क्षणतक, जीनेकी संपूर्ण आशा छूट जानेपर भी सेवा करते ही रहते हैं। ऐसे ये अवैतनिक स्वयंसेवक हैं, इसलिये यह शरीररूपी राष्ट्र विपत्तियां आनेपर भी जीवित रहता है। यदि इसका जीवन ज्ञान-कर्मके इंद्रियोंपर ही निर्भर रहेगा, तो यह शरीररूपी राष्ट्र जीवन युक्त रहेगा ही नहीं। पर इन प्राणरूपी अवैतनिक स्वयंसेवकों पर इस शरीररूपी राष्ट्रका जीवन निर्भर रहता है और ये आलस्य छोडकर सेवाभावसे कार्य करते रहते हैं, इसलिये यह शरीररूपी राष्ट्र उत्साहमय रहता है।

वैतनिक और अवैतनिकोंका झगडा

आंख नाक कान, इन वैतनिक सेवकोंका प्राणरूपी स्वयं सेवकोंके साथ एक वार झगडा हुआ। प्राण कहता था कि मेरी सेवाके कारण यह शरीर जीवित रहता है, ज्ञान कर्म इंद्रियां इसको माननेसे इनकार करने लगीं और कहने लगीं कि हमारी सेवासे ही यह शरीर जीवित रहता है। इस तरह इन्द्रियों और प्राणोंमें बडा झगडा हो गया। उसका वर्णन देखिये—

ते प्रकाश्य अभिवदन्ति वयं एतद्बाणं अवष्टभ्य विधारयामः ॥ २ ॥ तान् वरिष्ठः प्राण उवाच, मा मोहं आपद्यथ, अहं एव एतत् पञ्चधा आत्मानं प्रविभज्य एतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति। ते अश्रद्दधाना बभूवुः ॥ ३ ॥ सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमते इव। तस्मिन्नुत्क्रामति अथ इतरे सर्व एव उत्क्रामन्ते। तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते। तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानं उत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्ते एवं वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च। ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति ॥ ४ ॥ प्रश्न० उ० २

प्राण और इन्द्रियोंके झगडेका वृत्त ऐसा है-

इन्द्रियाँ कहने लगीं-हम सब मिलकर इस शरीरको सुदृढ करके धारण करती हैं।

प्राण बोला— हे इन्द्रियो ! तुम ऐसे भ्रममें न फंसो। तुम्हारे अन्दर इस शरीरको दृढ करके धारण करनेकी शक्ति नहीं है। यह कार्य मेरा है। मैं अपने आपको पांच विभागोंमें (प्राण, अपान, व्यान, उदान, समानमें) विभक्त करके और पांच स्थानोंमें रहकर इस शरीरको सुदृढ करके धारण करता हूं। तुम्हारे अन्दर भी मैं ही जीवन रखता हूं।

इन्द्रियां— इसपर हमारा विश्वास नहीं बैठता। क्योंकि

देखना सुनना चलना आदि सब कार्य हम ही करते हैं, जिससे इस शरीरकी धारणा हो रही है। यह प्रत्यक्ष है। तुम तो यहां हमारे जैसा कुछ भी उपयोगी कार्य नहीं करते। इसलिये हम ही इस शरीरका धारण कर रहे हैं यह सिद्ध होता है।

प्राण— यह तुम्हारी कल्पना असत्य है। यदि मेरी शक्ति तुम्हें न मिली, तो तुमसे कुछ भी कार्य नहीं होगा, इसलिये सब बल मेरा है, तुम्हारा नहीं।

इंद्रियां— ऐसा तो हम नहीं मान सकते। प्रत्यक्षके विरुद्ध कौन कैसा मान सकता है?

प्राण— मेरी शक्ति तुमको देखनी है?

इंद्रियां— हां, दिखाओ, तुम्हारी शक्ति कहां है?

प्राण— देखो, मैं अब इस शरीरको छोड देता हूं, देखो, मेरे जानेसे क्या बनता है।

इंद्रियां- हां, चले जाओ, हम यहां रहकर यहांका कार्य चलायेंगे।

ऐसा इतना झगडा होनेपर प्राण इस शरीरको छोडनेकी तैयारी करने लगा। वह प्राण थोडासा ऊपर उठा, शरीर छोडने जैसा करने लगा, तो चमत्कार यह हुआ, कि सभी इन्द्रियां उस प्राणके साथ ही अपने स्थानसे उखड जाने लगीं! सब इंद्रियोंमें घबराहट उत्पन्न हुई। किसीको भी प्राणके विना हम रहेंगे और कार्य करेंगे ऐसा विश्वास नहीं रहा। सब इंद्रियां अपनी निर्बलता मालूम करने लगी। तब उनकी घबराहट देखकर प्राण उनको कहने लगा-

प्राण- क्या मैं इस शरीरको पूर्णतया छोड दूं? मेरे जानेपर आप यहांका कार्य संभालेंगे?

इन्द्रियाँ- नहीं, नहीं, महाराज! आपके विना हमारा यहां रहना भी अशक्य है, कार्य करना तो दूर ही है। महाराज! आपकी शक्तिसे ही हम सब कार्य कर रहे हैं। आप ही हम सबमें श्रेष्ठ वरिष्ट और हम सबके आधार हैं। हम आपके ही आश्रयमें रहकर कार्य करनेमें समर्थ होते हैं। हम अपनी शक्तिसे कुछ भी नहीं कर सकते। यह सब आपहीकी महिमा है।

प्राण- अब तुम्हारे ध्यानमें सत्य बात आगयी यह ठीक हुआ। अब यही ध्यानमें रखो।

यह झगडेका वृत्त तो काल्पनिक है। यहां इतना ही बताना है कि प्राण-जिनको हमने अवैतनिक स्वयंसेवक कहा वे मुख्य हैं, उनकी शक्तिसे शरीरकी सब इंद्रियां अपना अपना कार्य करनेमें समर्थ होती हैं। इन इन्द्रियोंको हमने वैतनिक सेवक कहा है।

राष्ट्रके शासनमें इससे यह बोध मिलता है कि राष्ट्रीय स्वयं सेवक जो कि राष्ट्रकी अवैतनिक सेवा केवल सेवा भावसे, अपना कर्तव्य समझ कर करते हैं, राष्ट्रमें वे श्रेष्ठ हैं और जो वैतनिक सेवक हैं, जो आराम विश्राम करते हुए, भोग भोगते हुए, वेतन पर ध्यान करते हुए अपना कार्य करते हैं, उनकी सेवा इन स्वयंसेवकोंसे कम महत्त्वकी है। वेतन मिला तो ही वे सेवा करेंगे, परंतु ये स्वयंसेवक ऐसे हैं कि जो केवल कर्तव्य बुद्धिसे ही कार्य करते हैं। राष्ट्रीय शासन क्षेत्रमें यह बोध यहां मिलता है, जो महत्त्व पूर्ण है।

प्रान्त और अधिकारी

शरीररूपी राष्ट्रमें पूर्वस्थानमें बताया ही है कि यहां ३३ प्रांत हैं, प्रत्येक प्रांत पर एक एक अधिकारी है, और उस प्रांतमें एक एक कोटी अणुजीव रहते हैं जो उस क्षेत्रके रहनेवाले हैं। वे वहांका नियत कार्य करते रहते हैं।

इन प्रान्ताधिकारियोंके नीचे छोटे छोटे अधिकारी कार्य करनेवाले अनंत कार्यकर्ता होते हैं। प्रत्येक स्थानपर एक अधिष्ठाता और अनेक कार्यकर्ता होते हैं और इस देह रूपी विशाल राष्ट्रका सब कार्य इनके द्वारा चलता है। इन सबमें प्राणकी शक्ति जाकर सबको उत्साहित करती रहती है। इसका नाम 'वीरभद्र' है अथवा 'भद्र वीर' कहिये। कल्याण करनेवाला यह वीर है। यह बडा शक्तिवाला है और इसके नीचे दस प्राण उपप्राण मिलकर उक्त प्रान्तोंमें स्वयं सेवकोंका कार्य करते हैं।

प्रान्ताधिकारी ३३ हैं, उनका मुख्य अधिष्ठाता मन है। मनकी देखरेख रही तो ही ये प्रान्ताधिकारी अपने अपने प्रान्तका कार्य करते रहते हैं। मन देखनेके लिये न रहा तो ये वैतनिक सेवक अपना कार्य छोडकर आलस्यमें समय वितायेंगे। कार्य करने न करनेकी इनको पर्वा नहीं है। काम कम करना पडे, भोग अधिक मिले, विश्राम अधिक मिले, ऐसा इनका सदा विचार रहता है। इसलिये मनको इनके पीछे पड पडकर इनसे काम लेना पडता है। इस-

लिये बिचारे मनको एक क्षणकी भी फुरसत नहीं। यह बिचारा इधरसे उधर, उधरसे इधर घूमता और दौड लगाता रहता है, और इंद्रियोंसे काम लेता रहता है। इस मनकी इस प्राणके साथ घनिष्ठ मित्रता है।

प्राण और मन

प्राण चलने लगा तो मन चलने लगता है और प्राण स्तब्ध रहा तो मन स्तब्ध रहता है। इसलिये प्राणायामसे मन स्थिर और शान्त करनेकी विधि योगियोंने सिद्ध की और वह उपयोगी सिद्ध हुई है। इससे कैसा लाभ होता है यह देखिये। प्राणायामसे प्राणका बल बढाया जाता है, इससे मन बलवान हो जाता है। मन बलवान हुआ तो मनके आधीन ३३ प्रान्ताधिकारी रहते हैं, वे मनके निरीक्षणमें ही कार्य करते हैं। इसलिये जो विचार मनमें रहेगा, वैसा कार्य शरीरके विभागोंमें हो सकता है अथवा किया जा सकता है। यह नियम इतना निश्चित है कि इसमें भूल नहीं होती।

किसी इन्द्रिय और अवयवमें कुछ विकार या रोगका प्रादुर्भाव हुआ, तो प्राणके आश्रयसे रहनेवाले मनको तदनुकूल प्रेरणा दी जाय। मन वैसा हेरफेर वहां करने लगता है और इष्ट परिणाम वहां होता है। इससे वहांका रोग दूर होगा और वहांका आरोग्य स्थिर रहेगा। शरीरके प्रत्येक इन्द्रिय और अवयवमें यह मन इस तरह इष्ट परिणाम करता है। और यदि मनमें बुरे विचार रहे, तो अनिष्ट परिणाम भी यही मन करता है। इसलिये मनको सुविचारमय करनेकी अत्यंत आवश्यकता है। '**मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः**'—मन ही मनुष्योंके बंध और मोक्षका मुख्य कारण है ऐसा जो कहा है वह नितान्त सत्य है।

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्-
नेनीयतेऽभीषुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ६॥
वा० यजु० ३४

'जिस तरह उत्तम सारथी रथके घोडोंको उत्तम मार्गपर चलाता है, उस तरह हृदयमें रहनेवाला यह जरारहित, सदा तरुण जैसा रहनेवाला यह मन इस शरीरको चलाता है वह शुभसंकल्पयुक्त हो।' मन शुभसंकल्पयुक्त करनेका उपदेश यहां है वह इसलिये है कि, इस मनने शुभसंकल्प किये तो मनका तथा संपूर्ण मानवका हित होता है और अशुभ संकल्प किये तो सबका अधःपतन होता है।

मन सब इंद्रियोंका स्वामी है, अधिपति और ईश है। सब इंद्रियाँ मनके आधीन हैं। इसलिये मनके विचार परिशुद्ध चाहिये, मनमें शुभ विचार ही रहने चाहिये। मनके विषयमें और कहा है—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं
तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ १ ॥ वा० य; ३४

जागनेवाले मनुष्यका मन दूर दूर जाता है, और सुप्त अवस्थामें भी वैसा ही जाता है, यह दैवी शक्तिसे युक्त मन दूर दूर जानेवाला, ज्योतियोंका ज्योति जैसा तेजस्वी है, वह मेरा मन शुभ संकल्प करनेवाला हो।' तथा

यत् प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च
यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ४ ॥ वा० य० ३४

'जो प्रज्ञावान्, चेतना देनेवाला और धैर्यवान् है, जो ज्योतिरूप अमृत जैसा तेज प्रजाजनोंमें रखता है, जिसके विना कुछ भी कर्म नहीं किया जाता, वह मेरा मन शुभ संकल्पवाला हो।'

इस मनकी सहायताके विना कुछ भी कर्म नहीं किया जा सकता, वह मन शुभसंकल्प करनेवाला हो। इस शरीररूपी राष्ट्रमें राजा 'आत्मा' है, बुद्धि उस आत्माकी सहधर्मचारिणी तथा संमति देनेवाली है, मन उसका मंत्री है, सब इंद्रियां उसके विविध प्रांतोंके अधिकारी हैं, सब प्राण उसके राष्ट्रमें स्वयंसेवक हैं। इस राष्ट्रमें करोडों अणुजीव हैं। यहां यह राज्यप्रबंध कैसा है यह जानना चाहिये और अपने आत्माका शासन यहां चलता है यह देखना और अनुभव करना चाहिये।

संकल्पका परिणाम

"मैं आत्मा हूं। मैं इस शरीररूपी राज्यका शासक हूं। यह मेरा स्वराज्य है और मैं इस स्वराज्यका शासक 'स्वराट्' हूं। मैं जो अनुशासन चलाऊंगा वही यहां विधान चलेगा। इस राज्यके दिव्य स्वयंसेवक ये सब प्राण हैं। इनकी सेवा यहां अखंड रीतिसे चल रही है। यहां हमारी सहायक बुद्धि है। मन संपूर्ण इंद्रियों और अवयवोंका अधिष्ठाता है। इसलिये मैं मनको आज्ञा करता हूं कि वह शुभसंकल्प करता रहे। मैं नहीं चाहता कि इस मेरे राज्यमें अशुभवृत्ती धारण करनेवाला कोई हो। मैं नहीं चाहता कि इस मेरे राज्यमें अशुभ परिणाम करनेवाली कोई वस्तुका प्रवेश हो। यहां मेरे इस राज्यमें सब इंद्रियाँ शुभ प्रवृत्तिवाली हों, अन्न जल शुभ परिणाम करनेवाला इस शरीरमें जाय, मन शुभसंकल्प करे, यहां अशुभ कामनाका संपर्क ही न हो।

पापभाव और पाप वासना हमारे इस राज्यमें न आवे। कुविचार और कुसंकल्प हमारे पास न आवें। यहां शुभ भावनाओंका आनन्दपूर्ण वायुमण्डल रहे। मैं अपने धर्मभावनामय अनुशासनसे कुसंकल्पोंको यहां आने ही नहीं दूंगा। इस तरह यह यहांका राजा कह सकता है और यह जैसा कहता है वैसा ही यहां हो सकता है। अन्तःकरण शुभ विचारमय करना चाहिये। जिससे यहां आनन्दमय जीवन हो सकता है।

शुभ संकल्पवाला अपना मन बनानेसे इस शरीररूपी राष्ट्रमें रोग आदि आपत्तियाँ नहीं भोगनी पडेगी। यहां सदा स्वास्थ्य रहेगा, आनन्द और सामर्थ्य यहां सदा रहेगा। अनुपम प्रसन्नता रहेगी।

शत्रुओंका आक्रमण

इस शरीररूपी राष्ट्रपर काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर तथा अन्यान्य शत्रु आक्रमण करनेके लिये तैयार रहते हैं। जिस समय अनुशासनकी शिथिलता होती है, उसी समय ये शत्रु अन्दर घुसते हैं और यहां अपना अधिकार जमानेका यत्न करते हैं। यदि अनुशासन ढीला हुआ, तो सब शरीररूपी राष्ट्रपर ये अधिकार जमाते हैं और आत्मा बुद्धि मनको घेरते हैं और अनेक आपत्तियां निर्माण करते हैं। इसलिये यहां कदापि अनुशासनकी शिथिलता होने नहीं देना चाहिये। अनुशासन जितना जाग्रत और तीव्र होगा, उतना अधिक कल्याण यहां होगा, और अनुशासनकी शिथिलता होते ही अनेक विपत्तियां घेरेंगी और अनेक कष्ट भोगने पडेंगे।

यहां प्राणरूप स्वयंसेवक जन्मसे मृत्युतक जागते हुए रक्षणका कार्य उत्तम रीतिसे करते रहते हैं। इनके जाग्रत सुरक्षाके सुप्रबंधसे ही किसीमें प्रमाद होनेपर भी विपत्ति भोगनी नहीं पडती। इसलिये प्राणोंका महत्त्व विशेष है।

यह अपने राष्ट्रका स्वरूप है। हमें प्रयत्न इस विषयका करना चाहिये कि यहां हमारा ही अनुशासन चले और किसी अन्य शत्रुका अधिकार यहां न हो। संयम और निग्रहसे अपने इंन्द्रियों और अंगोंका नियमन करना चाहिये। ढिलाई यहां नहीं होने देनी चाहिये। संयमकी आवश्यकता बतानेके लिये यहां कई प्रकारके उपदेशपरक वर्णन कहे हैं। उनमें प्रथम रथ और घोडेकी उपमासे कैसा सुंदर वर्णन है वह देखिये—

रथ, घोडे और सारथी

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धिः मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३॥
इन्द्रियाणि हयानाहुः विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥ ४॥
कठ. ३

'यहां आत्मा रथी है, रथका स्वामी है, शरीर रथ है, बुद्धि सारथी है और मन लगाम हैं। इन्द्रियाँ घोडे हैं, वे विषयोंमें संचार करते हैं। आत्मा-इंद्रिय-मन मिलकर भोक्ता कहलाता है।' यहां रथकी उपमा शरीरको देकर और इंद्रियोंको घोडे कहकर संयम कैसा करना चाहिये इसीका वर्णन किया है।

जिस तरह रथके घोडे सारथीके अधीन ही रहने चाहिये, सारथीके हाथमें लगाम रहने चाहिये, और सारथीने रथको उत्तम मार्गसे अपने इष्ट स्थान तक पहुंचाना चाहिये। इस तरह सब इंद्रियां, सब अंग और सब अवयव अपने स्वाधीन रहने चाहिये। किसी एकका भी स्वेच्छाचार हुआ तो वह सब शरीरके नाशके लिये कारण होगा। इसलिये यहां संयमका उपदेश अत्यंत महत्त्वका है।

रथको जोते गये घोडे शिक्षित होने चाहिये। घोडे अच्छी तरहसे सुशिक्षित न रहे, तो वे सारथीके आधीन नहीं रहेंगे और रथको किसी गढेमें गिरा देंगे इसका पता नहीं लगेगा। सारथी अच्छी तरह चलानेकी कलामें कुशल न रहा, तो वह सुशिक्षित घोडोंको भी अच्छी तरह चला नहीं सकेगा और इधर उधर ले जाकर गिरा देगा। रथ सुदृढ न रहा तो बीचमें ही टूटेगा और रथी अपने पहुंचनेके स्थानपर नहीं पहुंच सकेगा। घोडोंकी लगामें उत्तम अवस्थामें न रहीं और बीचमें ही टूट गयीं, तो अच्छे घोडे भी ठीक तरह चलाये नहीं जा सकेंगे। मार्ग भी अच्छा सीधा चाहिये, गढोंवाला हो तो उसमें रथ, घोडे और सारथीके गिरनेकी संभावना होगी। इस तरह शरीरको रथकी, इंद्रियोंको घोडोंकी, बुद्धिको सारथीकी, मनको लगामोंकी उपमा देकर ये सब साधन ठीक चाहिये और स्वाधीन भी रहने चाहिये, ऐसा सूचित किया है वह बडा उपयोगी बोध है।

संयमका उपदेश

यहां शरीरधारी जीवको अपने मन बुद्धि चित्त अहंकार और इंद्रियोंका संयम करके उनको स्वाधीन रखनेका तो उपदेश है। मनःसंयम और इन्द्रियदमन यहां रहा तो ही ठीक है, नहीं तो असंयमसे बडी हानीकी संभावना है। यह उपदेश व्यक्तिके सुधारके लिये तो अत्यंत ही स्वीकार करने योग्य है। पर आत्माको स्वराट् और शरीरको आत्माका स्वराज्य कहकर यही शरीरके लिये किया हुआ उपदेश राष्ट्रमें ढालनेके लिये भी सूचित किया है। राष्ट्रके अधिकारी, राष्ट्र सभाके सभासद, तथा अन्यान्य कर्मचारी सबके सब सुशिक्षित, संयमी, अपने आपपर नियमन रखनेवाले, नीरोग, बलवान्, शत्रुको वश न होनेवाले चाहिये। यदि ऐसे न रहे तो राष्ट्रका राष्ट्र विनष्ट हो जायगा इसमें संदेह नहीं है। शरीरको राष्ट्र करके वर्णन करनेसे शरीरके वर्णनसे राष्ट्र शासनके लिये उत्तम बोध मिलता है और यही वैदिक शैलीकी विशेषता है।

राष्ट्ररूपी रथ

राष्ट्र एक रथ है, उसको अनेक अधिकारी जो शासनका कार्य करते हैं वे घोडे हैं, बुद्धि राजसभा है, मन महामंत्री अथवा मन्त्रीमंडल है, राष्ट्राधिकारी महामंत्रीके आधीन रहकर शासनका कार्य करते हैं, यहां सैनिक, आरक्षक तथा स्वयंसेवक प्राण हैं जो रातदिन राष्ट्रीय सुरक्षा करनेमें तत्पर रहते हैं। अन्य प्रजाजन राष्ट्रमें रहनेवाले हैं। उन सबको सुख आनंद और प्रसन्नताकी अवस्थातक पहुंचानेके लिये राष्ट्रशासन चलाया जा रहा है और इसका दायित्व राष्ट्राध्यक्षपर, राष्ट्रशासक पर है। इस अलंकारका मनन करनेसे राष्ट्रशासन विषयक कितना उत्तम बोध मिल सकता है उसका पाठक विचार करें। इस विचारके लिये निम्नस्थानमें लिखी तालिका बहुत उपयोगी हो सकती है-

शरीरमें	राष्ट्रमें
जीव, आत्मा	राष्ट्रमें जीवन फैलानेवाला अध्यक्ष
शरीरका अधिष्ठाता	राष्ट्राध्यक्षक, शासक, प्रजापति
बुद्धि, मति, मेधा, धारणा, चिंतनशक्ति	राष्ट्रशासकको सुसंमति देनेवाली राष्ट्रसभा।
मन, अहंकार	महामंत्री, राष्ट्राभिमान, मंत्रीमंडल
ज्ञान इंद्रियां	ज्ञान प्रसार करनेवाले शिक्षित लोग
कर्म इंद्रियां	कर्मकुशल कार्यकर्ता, शिल्पी,
प्राण, उपप्राण	रक्षक, आरक्षक, सैनिक, स्वयंसेवक,
इंद्रिय, अंग, अवयव	प्रांत, उपप्रांत और विभाग
शरीर (व्यक्ति)	राष्ट्र, देश (समूह)

इस तरह शरीरके नियम राष्ट्रमें ढाले जाते हैं और उससे राष्ट्रीयशासनके विषयमें उत्तम बोध मिल सकता है। यह बोध यहां लेना चाहिये और हमारा राष्ट्रीयजीवन भी ऐसा उत्तम आदर्श मानने योग्य होना चाहिये।

राष्ट्रमें राष्ट्राध्यक्षसे लेकर प्रान्ताधिकारी, ग्रामाधिकारी ये सबके सब सुशिक्षित, कर्तव्य दक्ष, संयमी, अत्याचार न करनेवाले होने चाहिये। अपने नियत कार्यमें वे प्रवीण रहने चाहिये। महामंत्रीकी आज्ञामें रहकर राष्ट्रशासन तत्परतासे करनेवाले चाहिये। रक्षक सैनिक सबके सब रक्षणकर्म में प्रवीण चाहिये। शत्रुके वश होनेवाला यहां कोई नहीं चाहिये। शत्रुसे मिलनेवाला एक भी रहा तो वह राष्ट्रपर आपत्ति ला सकता है। और इस तरह आपत्ति आगयी तो उसका निवारण करना अत्यंत ही प्रयासका कार्य होता है। जैसा शरीरमें रोग लाना सहज हो सकता है, शरीरको नीरोग रखना ही कठिन है और उससे भी कठिन आये रोगको हटाना है। इसी तरह राष्ट्रको दक्षतासे सुरक्षित रखना अत्यंत प्रयाससे करनेपर ही होनेवाला कार्य है। शत्रुको बुलाकर लाना और उसके आधीन होकर अपना स्वातंत्र्य खोनेमें तो कोई कष्ट नहीं है। पर ऐसा पतन होनेपर जो सबको कष्ट होंगे वे महा भयंकर हैं। इसलिये सबको उचित है कि वे अपने राष्ट्रका संरक्षण करें, शत्रुके साथ कभी न मिलें और अपनी तथा अपने राष्ट्रकी सुरक्षामें ही अपनी सुरक्षा समझें।

व्यक्तिका शरीर व्यक्तिका अपना राष्ट्र है। ऐसा कहकर व्यक्तिके शरीरका वर्णन करनेसे वही राष्ट्रका वर्णन कैसा होता है और उसीसे कितना उत्तम राष्ट्रहितका बोध मिल सकता है वह हमने यहां देखा। अब वेदमें शरीरका और कैसा कैसा वर्णन किया है वह देखेंगे—

सप्त ऋषियोंका आश्रम

वेदमें शरीरके लिये अत्यंत पवित्र उपमा सप्त ऋषियोंके आश्रमकी दी है। वह अत्यंत बोधप्रद है वह अब देखिये-

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे
सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुः
तत्र जाग्रतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥
वा० य० ३४।५५

" प्रत्येक शरीररूपी आश्रममें सात ऋषि रहते हैं, वे प्रमाद न करते हुए इस यज्ञस्थानका संरक्षण करते हैं। यहां सात जलप्रवाह सोनेवालेके स्थानको वापस जाते हैं और इसी यज्ञस्थानमें दो देव विश्राम न करते हुए जागते रहते हैं।" यह इस शरीरका ही वर्णन है। इसके पूर्व शरीरको राष्ट्र मानकर तथा शरीरको रथ मानकर वर्णन किया है। अब यहां वेद मंत्र स्वयं शरीरको ऋषियोंका आश्रम मानकर वर्णन कर रहे हैं। राष्ट्रकी उपमा देकर वर्णन करनेमें यहां दक्षतासे संरक्षण होना चाहिये यह उपदेश मिला, रथ घोडे आदिके वर्णनसे इंद्रियोंकी स्वाधीनता तथा सुशिक्षाका उपदेश मिला है, अब ऋषि आश्रमके वर्णनसे पवित्रता तथा ज्ञाननिष्ठाका बोध मिल रहा है-

यहां इस शरीररूपी आश्रममें सात ऋषि बैठकर तपस्या कर रहे हैं। अर्थात् यह शरीर सप्त ऋषियोंका आश्रम है। यहां ये ऋषि अपनी अपनी कुटियामें रहते हैं और अपना ज्ञानसत्र चलाते रहते हैं। प्रत्येक शरीरमें (प्रति शरीरे सप्त ऋषयः हिताः) ये सात ऋषि हैं। सब मानवोंके शरीरोंमें है, प्रत्येक मनुष्यके शरीररूपी आश्रममें ये सात ऋषि हैं। इसी तरह पशुपक्षियोंके शरीरोंमें भी हैं। मनुष्य शरीरमें जैसे ये प्रौढ और कार्यक्षम हैं, वैसे पशु शरीरमें नहीं है। पर वहां भी ये हैं। सप्त ऋषियोंका निवास प्रत्येक शरीरमें है।

दो आंख, दो कान, दो नाक और एक जिह्वा ये सात ऋषि प्रत्येक शरीरमें हैं। 'ऋषि' वह है कि जो (ऋषयः क्रान्तदर्शिनः) क्रान्तदर्शी होता है, दूरका देखता है, दिव्यशक्तिसे दूरका देखता है आंख दूरका देखते हैं, कान दूरका सुनते हैं, नाक दूरसे गंध लेता है, जिह्वा शब्द बोलती है जो दूरसे सुनाई देता है। इस तरह ये ऋषि दूरदर्शी हैं, दूरसे ज्ञान लेते और ज्ञान देते हैं। ये ज्ञान प्रसारका कार्य करते रहते हैं। ज्ञान सत्र अथवा ज्ञानयज्ञ ही इन्होंने प्रारंभ किया है और अन्त तक ज्ञान क्षेत्रमें ही ये कार्य करते रहेंगे। अतः इनको ऋषि कहा है। ऋषि तो आश्रममें रहते हैं इसलिये इस शरीरको ऋषि आश्रम कहा गया है। ऋषि पवित्र रहते हैं और निर्दोष आचरण करते हैं, इसलिये इन इंद्रियोंको पवित्र रहकर निर्दोष आचरण करना चाहिये।

(सप्त ऋषयः अप्रमादं सदं रक्षन्ति) ये सात ऋषि अपने आचारमें प्रमाद नहीं करते और इस यज्ञ सभागृहका उत्तम संरक्षण करते हैं। इसी तरह मनुष्यको प्रमाद न करते हुए अपने शरीरका और राजपुरुषोंको अपने राष्ट्रका प्रमाद न करते हुए उत्तम संरक्षण करना चाहिये। आंख दूरसे देखती है और कहती है कि दक्ष रहो शत्रु आरहा है। कान शब्द सुनता है, शब्दसे शत्रु मित्रको पहचानता है और कहता है, सावधान रहो शत्रु इस दिशासे आरहा है। नाक गंध सूंघता है और शत्रुको गंधसे ही पहचानता है और कहता है हां, इधरसे शत्रु आ रहा है। इस तरह ये ऋषि शत्रुको जानते हैं और संरक्षकोंको कहते हैं कि यह शत्रु है, इसे दूर करो।

ऐसा ही राष्ट्रमें करना चाहिये और राष्ट्रका संरक्षण करना चाहिये। दूर दूरके स्थानों और देशोंमें क्या चला है यह जानकर वहां शत्रु कहां छिपे हैं ,उनका पता लेकर उनको दूर या विनष्ट करना चाहिये। रंग रूप शब्द हलचल आदिसे दूरके शत्रुओंको पहचानना और उनको दूर करना योग्य है। ऋषिके आश्रमोंपर राक्षस आक्रमण करते हैं और यज्ञका नाश करते हैं, इसका निवारण ऋषि करते हैं और आश्रमका संरक्षण करते हैं। यह कथा इस शरीरमें ही देखने योग्य है। ऋषियोंके आश्रमोंका विध्वंश तो राक्षस करते ही थे, राष्ट्रपर आक्रमण भी राक्षस ही करते रहते हैं, पर शरीररूपी आश्रमपर अथवा शरीररूपी राष्ट्रपर भी रोगादि बाह्य शत्रु और दुष्टविकार आदि अन्तः शत्रु आक्रमण करते हैं और इस शतसांवत्सरीक यज्ञका नाश करते हैं। पाठक यहां इन शत्रुओंका नाश करना है यह ध्यानमें रखें। हमारा शरीररूपी राष्ट्र जैसा उत्तम अवस्थामें रहना चाहिये वैसा ही हमारा विशाल राष्ट्र भी उज्ज्वल अवस्थामें प्रकाशता रहना चाहिये।

आश्रमकी सात नदियाँ

यहां शरीरका और वर्णन करते हैं। '**सप्त आपः स्वपतः लोकं ईयुः**' सात जलप्रवाह, सात नदियां सोनेवालेके लोकको पहुंचती हैं। यहां सोनेवाला अन्तःकरणके साथ आत्मा है। उसका स्थान मनसे परे है। ये सात इंद्रिय प्रवाह आंखका दर्शनप्रवाह, कानका श्रवणप्रवाह, नाकका गन्धग्रहणप्रवाह, जिह्वाका रसग्रहणप्रवाह, त्वचाका स्पर्श ग्रहणप्रवाह जागृतिमें बाहरकी ओर चलता रहता है। इंद्रियाँ बाहरकी ओर देखती हैं अर्थात् उनके क्रियाप्रवाह अन्दरसे बाहरकी ओर जाते हैं। पर जब (**स्वपतः लोकं ईयुः**) वे प्रवाह सोनेवालेके स्थानको पहुंचते हैं, अर्थात् जब गाढ निद्रा आजाती है, जब निद्राकी स्थिति प्राप्त होती है, तब येही प्रवाह अन्तर्मुख हो जाते हैं। इन इन्द्रियोंके प्रवाह बाह्यविश्वकी ओर जानेका ही नाम "**जाग्रती**" है और इनके प्रवाह अन्तर्मुख होकर आत्माकी ओर जाने लगें और उसमें लीन हुए तो वही गाढ निद्रा होती है। इसलिये कहा है कि सप्त ऋषियोंके आश्रमकी ये सात नदियां जाग्रतिमें बाहरकी ओर जाती हैं और सुषुप्तिके समय वापस आकर आत्मामें लीन होती हैं।

जागनेवाले वीर

इस समय (**तत्र जाग्रतः अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ**) इस ऋषि आश्रममें दो देव जो कभी विश्राम नहीं करते, कभी निद्रा भी नहीं लेते और सतत आश्रममें ही जागते रहते हैं। आश्रमकी सुरक्षाके लिये सतत प्रयत्न करते रहते हैं। इनका नाम '**श्वास और उच्छ्वास**' है। ये दो देव हैं जो इसके संरक्षणार्थ अविश्रांत परिश्रम करते रहते हैं। ये प्राण अवैतनिक स्वयंसेवक है।

कितना उत्तम शरीरका यह वर्णन है। यह शरीर सच मुच ऋषियोंका आश्रम बन जाय तो कितना अच्छा होगा। ऋषियोंकी ज्ञाननिष्ठा सुप्रसिद्ध है, वैसा ही आचारकी पवित्रता, धर्मनिष्ठा, ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करनेकी उत्सुकता आदि अनेक शुभ गुण ऋषि शब्दके साथ जुडे हैं। ज्ञानसे प्रशस्त कर्म करनेकी प्रवृत्ती उत्पन्न होती है, प्रशस्तकर्मोंसे इह परलोकका सुख निःसंदेह प्राप्त हो सकता है। इसका परिणाम दीर्घजीवनकी प्राप्ति और उत्साहपूर्ण व्यवहार होनेकी संभावनामें है। शरीरको सप्त ऋषियोंका आश्रम कहनेसे शरीरको अर्थात् शरीर, मन बुद्धिको अत्यंत पवित्र रखनेका दायित्व यहांके अधिष्ठातापर आता है। और उसको निभाना आवश्यक है। ये सप्त ऋषि यहांकी सुरक्षा प्रमादरहित होकर करते हैं। इसलिये हमें भी वैसा करना चाहिये। शरीरकी तथा राष्ट्रकी सुरक्षा दक्षतासे करनी चाहिये। किसी तरह उसमें न्यूनता नहीं होनी चाहिये।

यहां दो देव जागते हैं, वे सोते नहीं, विश्राम नहीं करते, रातदिन खडा पहरा करते हैं। ये स्वयंसेवक हैं। राष्ट्रकी सुरक्षाका भार इनपर है। इस वर्णनसे व्यक्ति तथा राष्ट्रकी सुरक्षाके संबंधकी बहुतसी बातें समझमें आगयी हैं। जैसी व्यक्तिमें पवित्रता रखनी चाहिये वैसी ही राष्ट्रमें भी पवित्रता रखनी चाहिये।

दैवी रचना

जैसा शरीरमें राष्ट्र है, शरीर ऋषि आश्रम है, वैसी ही यह एक अलौकिक अथवा दैवी रचना भी है। इस संबंधमें ऐतरेय उपनिषद्में कहा है।–

अग्निः वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्,
वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्,
आदित्यश्चक्षुः भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्,
दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्
ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्
चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्
मृत्युः अपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्,
आपो रेतो भूत्वा शिस्नं प्राविशन् ॥ ४ ॥

ऐ० उ० १।२

" अग्नि वाणी बनकर मुखमें प्रविष्ट हुआ, वायु प्राण बनकर नासिकामें प्रविष्ट हुआ, सूर्य नेत्र बनकर आंखोंमें प्रविष्ट हुआ, दिशाएं श्रोत्रेन्द्रिय बनकर कानोंमें प्रविष्ट हो गयीं, ओषधि वनस्पतियां लोम बनकर त्वचामें प्रविष्ट हुई, चन्द्रमा मन बनकर हृदयमें प्रविष्ट हुआ, मृत्यु अपान बनकर नाभिमें प्रविष्ट हुआ, जल वीर्य बनकर शिस्नमें प्रविष्ट हुआ। "

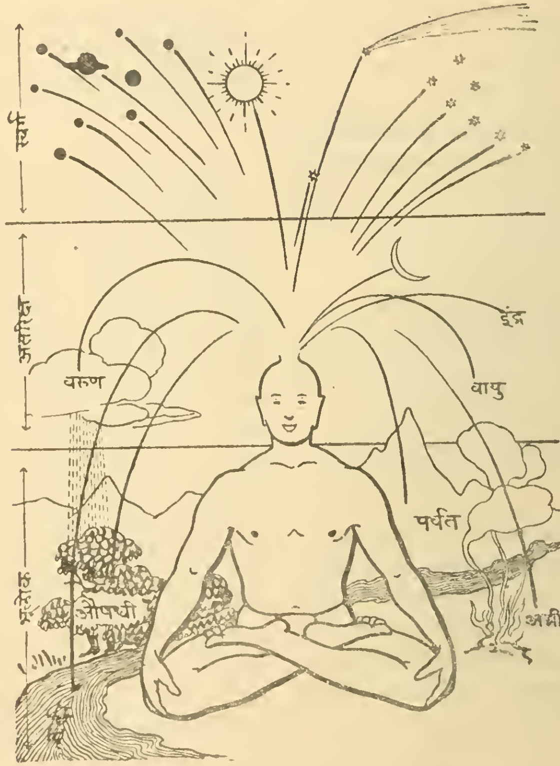
इस रीतिसे अन्यान्य देवताएँ शरीरके अन्यान्य स्थानोंमें आकर रहीं हैं। संपूर्ण ३३ देवताओंका निवास इस शरीरमें है। इस तरह यह शरीर ' देवोंका मन्दिर ' है। इस समय तक शरीरको राष्ट्र कहा, शरीरको रथ कहा, शरीरको ऋषि आश्रम कहा, अब उसी शरीरको ' देवोंका मन्दिर ' कहते हैं। एक देवका मन्दिर नहीं परंतु ३३ देवोंका यह मन्दिर है, नहीं नहीं प्रत्युत ३३ कोटी देवोंका यह शरीर मंदिर है। इसलिये अथर्व वेदमें ' देवानां पूः ' (देवोंकी नगरी) कहा है।

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूः अयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥

अथर्व० १०।२।३१

" आठ चक्रोंवाली तथा नौ द्वारोंवाली यह देवोंकी नगरी शत्रुद्वारा युद्ध करके पराजित न होनेवाली है। इस नगरीमें सुवर्णमय कोश है, जो तेजसे वेष्टित स्वर्ग है। " यह वर्णन इस शरीररूपी नगरीका है। यह अयोध्या नगरी है। यहां रामचन्द्रजी राज्य करते हैं। सच्चा रामराज्य यह शरीरका स्वराज्य है। इसके संरक्षण करनेके लिये इसके चारों ओर बडा भारी प्राकार है, यह एक बडा प्रचण्ड किला है, इस दुर्गके प्राकारको नौ द्वार हैं और इस दुर्गपर आठचक्र लगे हैं वहां शत्रुनाशके सब उलटाट यंत्रादि सब साधन रखे हैं, जो योग्य समय पर शुरू होकर शत्रु का नाश करते हैं। यह ' अ–योध्या ' शत्रु द्वारा आक्रमण होने अयोग्य है। कितना भी बलवान शत्रु रहा, तो वह इस नगरीको पराजित करके इसको अपने आधीन नहीं कर सकता, ऐसी यह दुर्ग प्राकारोंवाली अभेद्य नगरी है। कोई शत्रु इसमें घुस नहीं सकता, ऐसी इसके संरक्षणकी योजना है। इस नगरीमें सर्वत्र (ज्योतिषा आवृतः) चारों ओर तेज ही तेज, प्रकाश ही प्रकाश है। अन्धेरेका नाम निशान नहीं है। इस नगरीमें (हिरण्ययः कोशः) सुवर्णका भरा हुआ कोश है। यह कोश धन रत्नोंसे भरपूर भरा है। धनकी कमी यहां नहीं है। यह देवोंकी नगरी है। स्वयं देव यहां आकर रहते हैं। ऊपर बताया है कि, सूर्यादि देव यहां आकर रहे हैं, अर्थात् सूर्यादि देवोंके अंश आकर यहां बसे हैं और एक एक प्रांतका अथवा एक एक विभागका वे आधिपत्य कर रहे हैं।

ये देव यहां कैसे किस मार्गसे आये यह उनका आनेका मार्ग बतानेवाला चित्र यहां बताया है। जो ब्रह्माण्डमें है वह सब अंशरूपसे इस शरीररूपी पिण्डमें है। विश्वमें ऐसा कोई शक्तिकेन्द्र नहीं, कि जिसका अंश इस शरीरमें आकर न रहा हो। अर्थात् जो विश्वमें है वह सब अंशरूपसे इस शरीरमें है और जो यहां है उसका बृहद्रूप विश्वमें है। मानो यह शरीर विश्वका एक अंशही है।



इस विषयका वर्णन वेद मंत्रोंमें इस तरह आता है-

कुत इन्द्रः कुतः सोमः कुतो अग्निरजायत।
कुतस्त्वष्टा समभवत्कुतो धाताजायत ॥८॥
ये त आसन्दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा।
पुत्रेभ्यो लोकं दत्वा कस्मिंस्ते लोकमासते॥१०॥
शरीरं कृत्वा पादवत्कं लोकमनु प्राविशत्॥११॥
संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समभरन्।
सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥१३॥
गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन्।
रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ २९ ॥

सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य विभेजिरे ॥ ३१ ॥
तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते ।
सर्वा ह्यस्मिन्देवा गावो गोष्ठ इवासते ॥ ३२ ॥

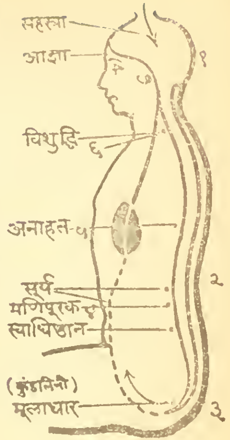
अथर्व ११।८

" इन्द्र, सोम, अग्नि, त्वष्टा और धाता ये कहांसे हुए ? देवोंसे जो पुत्ररूप देव बने वे दस देव थे, अपने पुत्ररूप देवोंको उन्होंने नया स्थान बनाकर दिया और वे पश्चात् किस लोकमें रहने लगे ! चलनेवाला शरीर बनाकर वे देव भला कहां रहने लगे ! संसिच् नामक वे देव हैं, जो सब संभार इकट्ठा करते हैं । उन्होंने इस मर्त्य शरीरको जीवनसे सिंचन किया और वे देव पुरुष शरीरमें घुस गये । रेतका घी करके देव मनुष्य शरीरमें घुसे हैं । सूर्य चक्षु बना, वायु प्राण बना, और ये देव पुरुषके शरीरमें अंग अंगमें विभक्त होकर रहने लगे हैं । इसलिये ज्ञानी मनुष्य " पुरुष-मनुष्यको ' यह ब्रह्म है ' ऐसा कहता है । " सब देवताएं, गौवें गोशालामें रहनेके समान, इस मनुष्य शरीरमें रहती हैं । "

इन मंत्रोंमें स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि (गोष्ठे गावः इव सर्वाः देवताः अस्मिन् आसते) गोशालामें गौवें रहनेके समान सब देवताएं इस मानव शरीरमें रहती हैं । सब देवताएं रहती हैं, एक भी देवता ऐसी नहीं है, कि जो इस मनुष्य शरीरमें न रहती हो । यद्यपि इन मन्त्रोंमें ४।५ देवताओंके ही नाम दिये हैं, तथापि वह केवल उपलक्षण मात्र ही है । सब तैंतीस देवताएं तथा उनकी सहचारी गौण देवताएं भी अंश रूपसे इस शरीरमें आकर रहती हैं ।

इस मन्त्रमें कहा है कि (पुत्रेभ्यः लोकं दत्वा) अपने निजपुत्रोंको इस शरीरमें (लोकं दत्वा) स्थान दिया और पिता रूप देव अपने अपने नियत स्थानमें रहने लगे हैं । बाहरके विश्वमें सूर्य, वायु, अग्नि, विद्युत्, जल आदि तत्त्व बडे विशाल हैं, उनके अंश अर्थात् उनके पुत्र उत्पन्न हुए । इन पुत्रोंको स्थान करके देना पिताका कर्तव्य ही है । इसलिये (गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषं आविशन्) यह शरीर-- यह मरनेवाला शरीर-- निर्माण करके सब देव इसमें घुस गये हैं । गर्भाधान यज्ञमें मनुष्य के रेतरूपी घृतकी आहुती देकर, उसमेंसे देव इस मानव शरीरमें घुस गये हैं । ये मन्त्र शरीरमें देवोंका निवास होनेके विषयमें बडा विज्ञान दे रहे हैं ।

इस शरीरको निर्माण करके देव उसमें घुसे हैं । इसका द्वार विद्दति करते हैं । यह द्वार बालकका जन्म होनेपर भी खुलासा रहता है । इस द्वारसे देवताओंके सब अंश जो आत्माके साथ आये थे, वे शरीरमें प्रविष्ट हुए । यहांसे वे पृष्ठ-वंशमें गये । इस पृष्ठ-





वंशके मज्जा केन्द्रोंमें– ये केन्द्र तैंतीस हैं– वे ३३ देवोंके अंश रहने लगे और वहांसे सब शरीरका संचालन वे करने लगे हैं। इनमेंसे केवल आठ ही केन्द्र योग साधनमें लिये हैं। जिसका वर्णन ' अष्टाचक्रा ' करके इसके पूर्वके स्थानमें दिये मंत्रमें आगया है।

वास्तविक तैंतीस मज्जातन्तु-ओंके केन्द्र इस पृष्ठवंशमें हैं, उनमेंसे मुख्य आठ योगियोंने लिये हैं। इस तरह प्रत्येक शरीरके अंग, इंद्रिय और अवयवमें देवता रहते हैं।

बीज और वृक्ष

पितादेवसे पुत्रदेव उत्पन्न हुए हैं। यहां पितारूप देवोंने पुत्ररूप देव उत्पन्न किये और उनको शरीरके अंग प्रत्यंगोंमें रहनेके लिये स्थान दिया और पितादेव अपने स्थानमें

वापस चले गये। ऐसा कहा है। उसका भाव यह है कि जैसे वृक्षके सब अवयवोंके अंश बीजमें उतरते हैं, जैसे पिताके शरीरके सब अवयवोंके अंश उसके वीर्यकणमें उतरते हैं, उसी तरह परमात्माका यह विश्वरूप देह है, उससे निकले जगद्बीजमें, परमात्माके शरीरमें अर्थात् संपूर्ण विश्वमें रहनेवाले सब पदार्थोंके अंश आकर रहे हैं। परब्रह्मका अंश जीव, सूर्यका अंश नेत्र, वायुका अंश प्राण, जलका अंश रसना; पृथ्वीका अंश नासिका आदि प्रकार विश्वधारक सब देवताओंके अंश एकत्रित होकर यह शरीर बना है। यह शरीर तो देवतामय है, एक एक, अणुमें देवताओंके अंश हैं। शरीरका कोई अंश ऐसा नहीं है कि, जहां देवताओंका वास्तव्य न होता हो। प्रत्येक शरीरका प्रत्येक विभाग देवताके अंशसे बना है। अर्थात् जैसे विश्वमें तैंतीस करोड देवताएं हैं, उसी तरह इस शरीरमें भी तैंतीस करोड देवताओंके अंश आकर रहते हैं।

शरीरके प्रत्येक विभागमें जो अधिष्ठाता रहता है उसके आधीन ये वहांकी सब देवताएँ हैं। और इसपर मनका अधिकार है। मन देवोंका राजा है। इन्द्रियोंका अधिपति मन है। यहां जो प्राण हैं वे महारुद्र हैं, रक्षण और संहार का कार्य इनके आधीन है।

शरीरमें कोई स्थान ऐसा नहीं है कि जहां देवताओंका निवास नहीं है। सब शरीर देवतामय है। इसलिये इसको 'देवानां पूः' देवताओंकी नगरी कहा है। श्री कृष्णकी द्वारावती अथवा 'द्वारका' जिसको (नव-द्वारा) नौ द्वार हैं, यही शरीर है। और श्रीरामचन्द्रकी अयोध्या यही है। पूर्वोक्त एक ही मंत्रमें 'नवद्वारा' और 'अयोध्या' ये पद इसीका दर्शन करा रहे हैं।

देवताओंसे लाभ

विश्वमें सूर्य, चन्द्र, वायु, विद्युत् अग्नि आदि विश्वव्यापक देवताएं हैं। उनके अंश नेत्र, मन, प्राण आदि इस शरीरमें रहते हैं। शरीरमें जो अंश रहते हैं, वे बाह्य बृहद्देवताओंके अंश होनेके कारण, अथवा उनका पिता पुत्र जैसा संबंध होनेके कारण, इस संबंधसे हम बडा लाभ उठा सकते हैं।

देखिये सूर्यका अंश नेत्र है, इसलिये नेत्रका आरोग्य सूर्यके किरणोंसे बढ सकता है, प्राणकी शक्ति बाह्य वायुके संबंधसे बढती है, इस तरह बाह्य विश्वकी सब देवताएं इस शरीरके अन्दर रहनेवाले अपने अंशरूप पुत्रोंकी पालना कर रहे हैं। इसका अनुभव अपने दैनिक व्यवहारमें भी ले सकते हैं। विश्वमें अन्न, धान्य, फल, साग आदि उत्पन्न होता है, उसका सेवन करनेसे मनुष्यका शरीर हृष्टपुष्ट हो जाता है। विश्वमें जल है, इस जलका पान करनेसे मनुष्यकी तृषा शमन हो जाती है, बाह्य विश्वमें प्रकाश है उसकी सहायतासे हमारे नेत्र देखते हैं। इस तरह दिन रात हमारा संचार विश्वकी देवताओंके अन्दर हो रहा है, हमारे आगे पीछे, ऊपर नीचे, हमारे चारों ओर विश्वकी सब देवताएं ही देवताएं है और प्रतिक्षण हम उन देवताओंमें उठते बैठते, चलते फिरते, सोते जागते हैं और प्रत्येक क्षण हमारे इंद्रिय और अवयव उनसे शक्ति प्राप्त करते रहते हैं। यह व्यक्तिका विश्वसे संबंध है।

शक्ति प्राप्त करनेका अनुष्ठान

हमारे शरीरके अन्दरके देवतांश अल्प शक्तिवाले हैं। विश्वकी अन्दरकी देवताएं बडी विशाल और महाशक्तिवाली हैं। हमारे शरीरकी देवता विश्वकी देवताके साथ मिलती और उससे शक्ति प्राप्त करती हैं। यदि हमारा संबंध बाह्य विश्वके साथ न हुआ, तो व्यक्तिके जीवित रहनेकी भी संभावना नहीं है। बाह्य जलवायुसे हमारा संबंध स्थायी रूपसे टूट जानेपर हम कुछ क्षण भर भी जीवित नहीं रहेंगे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि, बाह्य विश्वकी देवताओंके साथ रहनेसे ही हमारा जीवन रहता है। परमात्माके विश्वशरीरसे जीवात्माके छोटे शरीरका संबंध है। वह पिता है, हम उसके अमृत पुत्र हैं। यह संबंध सदा ध्यानमें रखनेयोग्य है। हमारे शरीरके अन्दरके देवतांशोंसे विश्वव्यापक विशाल देवताओंका अनन्य संबंध है। उससे हम पृथक् नहीं हैं। एकरूप हैं। परमात्माका आंख सूर्य है, उस सूर्यका अंश हमारा आंख है। इसी तरह हमारे संपूर्ण इंद्रियों अंगों और अवयवोंके साथ परमात्माके विश्व शरीर का अटूट तथा अनन्य संबंध है।

अब हम अपने इन्द्रियोंसे विश्वशरीरकी उन महाशक्तियोंका संबंध विशेष घनीभूत कर सकते हैं। ऐसा

संबंध बढानेका कार्य हमने शुरू किया तो उससे हमारे अन्दर शक्तिका संवर्धन होगा और हमारे इंद्रियकी शक्तिका हम विकास कर सकेंगे। हमारे इन्द्रिय इस तरह विशेष प्रभाव भी उत्पन्न कर सकते हैं।

यह योग है। वैयक्तिक शक्तिका विश्वशक्तिसे योग होता है और इससे विश्वकी महाशक्ति व्यक्तिमें थोडी थोडी उतरती है। अपना विश्वसे अटूट संबंध इस तरह जोडा जा सकता है। इसी तरह विश्वकी महाशक्तिसे अपना योग करना चाहिये।

मैं कौन हूं ?

मैं देवोंका राजा हूं, सब देव इस शरीरमें रहनेवाले मेरे प्रजाजन हैं। इनपर मैं शासन कर रहा हूं। यह शरीर देवोंकी सभा है, इन्द्र रुद्र मरुत् आदि सब देव इस सभामें विराजमान हैं। ये सब इस शरीरमें कार्य कर रहे हैं। मैं आत्मा इन सबका शासक हूँ। मेरा अनुशासन इनपर चलना है। देवसभाका अध्यक्ष होनेका भाग्य मुझे प्राप्त हुआ है। यह कितना बडा अधिकार है? यह शरीर हीनदीन या तुच्छ नहीं है। अनंत शक्तियाँ यहां बीजरूपसे हैं, उनका समविकास करना मेरा कर्तव्य है। यह कार्य मैं करूंगा।

वैदिक धर्मने इस शरीरको रथकी और इंद्रियोंको घोडों की उपमा देकर कहा कि इंद्रियोंका संयम करना चाहिये और इंद्रियोंमें सुशिक्षा द्वारा कर्मकी कुशलता प्राप्त करनी चाहिये। इसी तरह शरीरको राष्ट्र कहकर उसका यथा योग्य शासन करनेका दायित्व मनुष्य पर रख दिया। इसके नंतर शरीरको ऋषि आश्रम कह कर यहां पवित्रता और ज्ञानदृष्टीका अत्यंत महत्त्व है यह बताया। अब यहां प्रत्यक्ष देवोंका निवास है ऐसा कहकर, इस शरीरको देवोंका राष्ट्र बताकर, इसमें नाना प्रकारकी शक्तियोंका निवास है यह स्पष्ट कर दिया है और इन शक्तियोंका विकास करनेकी युक्ति भी बता दी है। इस सब वर्णनसे स्पष्ट हुआ है कि यह शरीर अनन्त शक्तियोंका बीज है, जो विकासको प्राप्त करके विकसित हो सकता है।

वृक्ष और बीजमें देखिये वृक्षमें जितनी शक्तियाँ होती हैं उनका बीजमें अविकसित रूपमें सद्भाव होता है। वृक्षका मूल, धड, शाखा, टहनियां, पत्ते, फूल फल आदि सबका सब बीजमें सूक्ष्म अंश रहता है और विकसित होकर वही बीज वृक्षाकार बनता है। बीजमें वृक्षही सूक्ष्म रूपसे है और वृक्ष बीजका ही विस्तार है। इसी तरह मनुष्य शरीर और उसका वीर्यबिन्दुका संबंध है। वीर्य बिंदुसे शरीर बनता है और शरीर फिर बिंदु बन जाता है। इसी तरह परमपिताका और इस अमृत पुत्रका संबंध है।

मधुकर राजा और मधुमक्षिकाएं

ब्रह्मका अंश और तैंतीस देवताओंके तैंतीस अंश मधु-मक्षिका और मधुमक्खियोंका राजा जैसे रहते हैं। मधु मक्खियोंका राजा जहां जाता है, वहां अन्य मक्खियां जाती हैं। वैसा ही ब्रह्मका अंश जहां रहता है वहां तैंतीस देवोंके अंश रहते हैं। तैंतीस देवताओंके तैंतीस अंश और उनका अधिष्ठाता आत्मा इस शरीरमें आकर सौ वर्ष चलने वाला यज्ञ करें, यह जीव अपने लिये यज्ञभूमि कौनसी अच्छी है, इसका निरीक्षण करता है और किसीके योग्यगर्भमें आता है। गर्भमें ये सब ३४ शक्तियां जातीं हैं और उस गर्भके शरीरमें रहती है। यह बालकका स्वरूप है। यही जानना चाहिये। वैदिक कल्पना बालकके विषयमें यह है। यह कितनी उत्तम है इसका विचार पाठक करें। किसीके घरमें जब बालक उत्पन्न होता है वह इतनी शक्तियोंके समेत उत्पन्न होता है। यह इस शरीररूपी यज्ञभूमिमें रहकर सौवर्ष चलानेवाला सत्र करनेके लिये जन्मता है। इसलिये सौवर्ष जीवित रहकर अपना जीवन यज्ञीय बनाना प्रत्येक मनुष्यके लिये योग्य है।

वैदिक धर्ममें मनुष्यके शरीरकी ऐसी उच्च कल्पना है। इसके विपरीत बुद्धधर्मने शरीरको 'पीप-विष्टा-मूतका गोला,' 'पिंजरा,' 'जेलखाना' आदि बताकर शरीरके विषयमें हीनतम कल्पना फैला दी है और अपने शरीरके विषयमें घृणा उत्पन्न की है। यह सब अयोग्य कल्पना है, हानिकारक है, अतः त्याज्य है।

पाठक वैदिक कल्पनाका स्वीकार करें और उससे अपनी उन्नति करके स्वराज्यका आनन्द प्राप्त करें। वैदिक स्वराज्य शासनके लिये भी ऐसे ही अपने शरीरका स्वराज्य जानने-वाले उत्तम पुरुष चाहिये। इनसे ही वैदिक स्वराज्य शासन सिद्ध हो सकेगा, जो मनुष्योंका आनन्द निःसंदेह बढानेवाला होगा।

प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नोंके उत्तर देनेका यत्न कीजिये—

१ राष्ट्रपर कौन अधिकार कर सकता है ?

२ बलका महत्त्व कितना है ?

३ सम्राट् और उसके अधिकारी शरीरमें और राष्ट्रमें बताइये।

४ कितने प्रजाजन हैं और वे कितने प्रांतोंमें रहते हैं ?

५ वैतनिक सेवक कौन हैं और अवैतनिक स्वयंसेवक कौनसे हैं ? उनका वर्णन करो।

६ भोगी अधिकारी होनेसे क्या होता है ? क्या स्वयं-सेवक भोग नहीं भोगते ? वे कहां रहते और क्या करते हैं ?

७ वैतनिक सेवकों और अवैतनिक स्वयंसेवकोंका झगडा क्यों हुआ ? अन्तमें निर्णय क्या हुआ ? कौन जीत गया ?

८ इस राष्ट्रमें कितने प्रांत हैं और उनके नाम कौनसे हैं, उनके अधिकारियोंके नाम कहो।

९ प्राण और मनका संबंध क्या है ? मनको शुभ संकल्प-वाला क्यों करना चाहिये ? मनकी शक्ति कितनी है ? मनके संकल्पविकल्पका परिणाम शरीरपर कैसा होता है ?

१० शत्रुओंका आक्रमण इस राष्ट्रपर किस तरह होता है? कौनसे शत्रु हैं ? वे कैसे आक्रमण करते हैं ?

११ रथ, घोडे, सारथी, और लगाम कहां और कौन है, वे क्या कार्य करते हैं ? इससे संयमका उपदेश मिलता है वह किस तरह ? राष्ट्ररूपी रथका वर्णन करो। इसके घोडे सारथी आदि कौन हैं ?

१२ शरीरकी राष्ट्रके साथ तुलना करो।

१३ सप्त ऋषियोंका आश्रम कहां है ? सात ऋषि यहां कौन हैं, वे क्या करते हैं ? इस उपमाने कौनसा बोध दिया है ?

१४ आश्रमकी सात नदियां कैसी बहती हैं इसका वर्णन करो। यहां रक्षक वीर कौन हैं ? वे कितने हैं ?

१५ यहां दैवी रचना कैसी हुई है ? कौन देव कहां रहे हैं ? अयोध्या और द्वारोंवाली नगरी कौनसी है ? वह कैसी है ? कौन रक्षक वहां है ?

१६ यहां देव किस द्वारसे आते हैं ? कहां रहते हैं, वहां वे क्या कार्य करते हैं ?

१७ पृष्ठवंश और अष्टचक्रोंके स्थान बताओ और इनके महत्त्वका वर्णन करो।

१८ इन देवताओंसे मनुष्य किस तरह लाभ प्राप्त कर सकता है ? अनुष्ठानकी विधि बताओ ? लाभ प्राप्त करनेका मार्ग बताओ।

१९ मैं कौन हूं ? मेरी शक्ति क्या है ?

२० मक्खियोंका राजा कौन है और मधुमक्खियां कौनसी हैं ? इससे क्या बताया है ?

२१ अपना स्वराज्य कौनसा है ? इस ज्ञानसे राज्यशासन किस तरह सिद्ध होता है उसका वर्णन करो।



व्यवहार और परमार्थसाधक वेद

वेद जैसा व्यवहारके साधन करनेका उत्तम मार्ग बताता है वैसा ही परमार्थके साधनका भी उत्तम मार्ग बताता है। इसको जनताके सामने रखनेका कार्य वैदिक-व्याख्यान-मालासे किया जा रहा है। यदि पाठक इन व्याख्यानोंको पढेंगे तो उनको पता लग जायगा कि एक एक वेदका पद और वाक्य उत्तम व्यवहार उत्तम रीतिसे किस तरह करना चाहिये, इसका बोध देता है और वही परमार्थका साधन किस तरह करना चाहिये यह भी दर्शाता है। इसलिये ये व्याख्यान केवल पढकर ही छोडनेके लिये नहीं हैं, परंतु इसका प्रत्येक वाक्य अभ्यास करने और वारंवार मनन करने योग्य है। इस समय ये व्याख्यान तैयार हैं—

१ मधुच्छन्दा ऋषिका अग्निमें आदर्श पुरुषका दर्शन।

२ वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त।

३ अपना स्वराज्य।

प्रत्येक व्याख्यानका मूल्य ।=) छः आने और पैकिंग समेत डा० व्य० =) दो आने है। प्रत्येकके लिये आठ आने भेजनेसे ये मिल सकते हैं। आगेके व्याख्यान छप रहे हैं–

४ श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति और सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घायु।

५ व्यक्तिवाद और समाजवाद।

इस तरह अनेक विषयोंपर ये व्याख्यान होंगे। इन विषयोंका मनन और प्रचार जगत्में होना चाहिये। समाजकी रचना इन सिद्धान्तोंपर होनी चाहिये। तब आज कलकी अनेक समस्याएँ और कठिनताएँ दूर हो सकती हैं और लोगोंको अपूर्व शांति मिल सकती है।

परमार्थ साधनके लिये विश्व छोडनेकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत विश्वकी सेवा करते हुए ही परमार्थ साधन हो सकता है यह वेदका आदेश है।

पाठक इन व्याख्यानोंका उत्तम अध्ययन, मनन और उत्तम अनुष्ठान करें, इसलिये इन व्याख्यानोंके अन्तमें प्रश्न भी दिये हैं। इन प्रश्नोंका उत्तर जो दे सकते हैं उनका व्याख्यानका मनन ठीक हुआ ऐसा समझ सकते हैं।

बिना प्रयत्न किये ही वैदिक धर्म आचरणमें नहीं आ सकेगा, वह केवल शब्दोंमें ही रहेगा, केवल शब्दोंमें रहा धर्म उत्तम सुख नहीं देता। वैदिक धर्मसे व्यक्ति और समाज एवं राष्ट्र व्यवस्थाका सुधार हो जाय, इसलिये हरएकको बडा प्रयत्न करना चाहिये।

ऐसा प्रयत्न करनेवाले हों तो प्रचारार्थ उनकी सहायता चाहिये।

निवेदनकर्ता

आनन्दाश्रम — श्री. दा. सातवलेकर,

किल्ला–पारडी (जि. सूरत) — अध्यक्ष–स्वाध्याय-मंडल

श्रीमद्भगवद्गीता ।

इस '**पुरुषार्थ-बोधिनी**' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गई है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंकेही सिद्धान्त गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस '**पुरुषार्थ-बोधिनी**' टीकाका मुख्य उद्देश्य है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता के १८ अध्याय तीन विभागोंमें विभजित किये हैं और उनकी एकही जिल्द बनाई है। मू० १०) रु० डाक व्यय १॥)

भगवद्गीता-समन्वय ।

यह पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीताका अध्ययन करनेवालोंके लिये अत्यन्त आवश्यक है। '**वैदिक धर्म**' के आकारके १३५ पृष्ठ, चिकना कागज। सजिल्दका मू० २) रु०, डा० व्य० ।=)

भगवद्गीता--श्लोकार्धसूची ।

इसमें श्रीमद् गीताके श्लोकार्धोंकी अकरादिक्रमसे **आद्याक्षरसूची** है और उसी क्रमसे **अन्त्याक्षरसूची** भी है। मूल्य केवल ॥।), डा० व्य० ≈)

सामवेद कौथुमशाखीयः

ग्रामगेय [वेय प्रकृति] गानात्मकः

प्रथमः तथा द्वितीयो भागः।

(१) इसके प्रारंभमें संस्कृत-भूमिका है और पश्चात् '**प्रकृतिगान**' तथा '**आरण्यकगान**' है। **प्रकृतिगानमें अग्निपर्व** (१८१ गान) **ऐन्द्रपर्व** (६३३ गान) तथा '**पवमानपर्व**'(३८४ गान) ये तीन पर्व और कुल ११९८ गान हैं। **आरण्यकगानमें अर्कपर्व** (८९ गान), **द्वन्द्वपर्व** (७७ गान) **शुक्रियपर्व** ८४ गान) और **वाचोव्रतपर्व** (४० गान) ये चार पर्व और कुल २९० गान हैं।

इसमें पृष्ठके प्रारंभमें ऋग्वेद-मन्त्र है और सामवेदका मन्त्र है और पश्चात् गान हैं। इसके पृष्ठ ४३४ और मूल्य ६) रु० तथा डा० व्य० ॥।) रु० है।

(२) उपर्युक्त पुस्तक केवल '**गानमात्र**' छपा है। उसके पृष्ठ २८४ और मू० ४)रु. तथा डा० व्य० ॥)रु. है।

आसन ।

" योगकी आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति "

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है कि शरीरस्वास्थ्यके लिये आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यन्त सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्य भी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २॥) दो रु० आठ आने और डा० व्य० ॥) आठ आना है। म० आ० से २॥।≡) रु० भेज दें।

आसनोंका चित्रपट— १०"×२७" इंच मू० ।) रु., डा० व्य० -)

मन्त्री— स्वाध्याय-मण्डल 'आनन्दाश्रम' किल्ला-पारडी (जि० सूरत)

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवलेकर, बी. ए., भारत-मुद्रणालय, आनन्दाश्रम, किल्ला-पारडी (जि. सूरत)



वैदिक व्याख्यान माला - चतुर्थ व्याख्यान

श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति
और
सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घ आयु

लेखक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

स्वाध्याय-मण्डल, 'आनन्दाश्रम', किल्ला-पारडी, जि. सूरत

मूल्य छः आने

कर्मशक्ति और दीर्घायु

मनुष्यके अन्दर कर्म करनेकी शक्ति जन्मसे रहती है। छोटा बालक भी सतत प्रयत्नशील रहता है। इसी तरह छोटेसे छोटे क्रिमी भी मृत्युसे दूर भागता है। इससे सिद्ध होता है कि दीर्घ जीवन जीनेकी आकांक्षा जीवमात्रमें है। मनुष्यकी सर्वसाधारण आयु १२० वर्षोंकी है। इसमें ८ वर्ष बाल्पन, और १२ वर्ष ज्ञानसंपादनके हैं और शेष १०० वर्ष पुरुषार्थके हैं। मनुष्यने इन १०० वर्षोंमें नाना प्रकारके श्रेष्ठ कर्म करने हैं। इसीका नाम ' शतक्रतु ' बनना है।

दीर्घ जीवन और कर्मशक्ति मनुष्यके लिये अत्यंत आवश्यक है। इन दो आवश्यक बातोंका वेदमें किस तरह वर्णन है, वह विषय इस लेखमें बताया है। आशा है कि पुरुषार्थी मनुष्योंको इन दो सिद्धान्तों-से बडा लाभ होगा।

किल्ला-पारडी (सूरत)
१।२।५२

लेखक
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
अध्यक्ष—स्वाध्याय मण्डल



ॐ

श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति और सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घ आयु

मनुष्य जीवनका उद्देश्य

मनुष्य इस पृथिवीपर जन्म लेता है, उसका विशेष हेतु है। यह हेतु यह है कि इसके अन्दरकी अपूर्णता दूर हो और यह पूर्ण विकसित हो जाय। पूर्ण विकासका अर्थ पुरुषोंमें उत्तम पुरुष बनना, अथवा पुरुषोत्तम बनना। मनुष्य इस सिद्धिको प्राप्त करनेके लिये इस पृथिवीपर जन्म लेता है और जबतक यह पुरुषोत्तम नहीं बनता, तबतक इसको जन्म लेना अनिवार्य ही है। वारंवार जन्म लेकर, अनेक प्रकारके उच्च नीच अनुभव लेकर, उठता और गिरता हुआ, यह प्रगति करनेकी इच्छा करता है। और प्रगति करता भी है।

देवताका आदर्श

मनुष्यकी इस उन्नतिमें सहायता करनेके लिये वैदिक-धर्म सिद्ध है। वैदिक सूक्तोंमें अनेक देवताओंके वर्णन हैं। ये मनुष्यके सामने आदर्श रखे हैं। इन देवताओंके आदर्श सामने रखकर मनुष्य देवता सदृश वर्तन करता हुआ आगे बढता है। उपासक मनुष्य (देवयन्) देवताके सदृश बननेका यत्न करे, देवताके गुण अपने जीवनमें ढाले, और देवताके सदृश गुणोंवाला बने। वेदमें अनेक देवताएं हैं। उनमें जो इसको अच्छा आदर्श है ऐसा प्रतीत हो जाय, वह आदर्श मनुष्य अपने सामने रखे। ऐसा प्रयत्न करनेवाला जो होता है उसको (देवयन्) 'देवताके सदृश बननेका प्रयत्न करनेवाला' कहते हैं।

जो नाम परमात्माके हैं वे सब नाम जीवात्माके भी हैं। परमात्मा परिपूर्ण है और जीवको परिपूर्ण बनना है। पर परिपूर्ण बननेकी सुप्तशक्ति इसमें है। जैसी अग्नि और चिनगारी है। चिनगारी तो अत्यंत अल्प होती है, पर वह सूखे घासपर गिरनेसे बडे दावानल बननेकी शक्ति अपने अन्दर रखती है। वैसा ही मनुष्यका आत्मा पूर्णता प्राप्त करके पूर्ण शक्तिसे विकसित हो सकता है। यही उसकी पूर्ण होनेकी गुप्तशक्ति है। इस जीवकी पूर्णताकी अवस्थाको 'ब्राह्मी' स्थिति कहते हैं। इस अवस्थापर प्रत्येक मनुष्यका अधिकार है, पर वह जीव इस अवस्थाको कब प्राप्त करेगा, इसका आज पता नहीं लग सकता।

आत्माकी कर्मशक्ति

आत्मा जीव है। आत्माका अर्थ (अतति) 'सतत प्रयत्न करनेवाला' है। 'अत् सातत्यगमने' इस धातुसे आत्मा पद सिद्ध होता है। 'सतत गमन, सतत प्रगति, सतत प्रयत्न करनेवाला जो है, वह आत्मा है। सतत प्रयत्न-शीलताका गुण आत्मामें है। अपनी परिपूर्ण उन्नति प्राप्त होनेतक प्रमाद न करते हुए सतत प्रयत्न करनेका गुण इस आत्मामें है। अखण्ड प्रयत्न करना, एक वार फंसनेपर पुनः पुनः यश मिलनेतक प्रयत्न करते रहना, यह आत्माका निज स्वभाव है।

अब आत्माके अन्य नामोंका थोडासा विचार करते हैं।—

ॐ क्रतो स्मर। कृतं स्मर।

वा० यजु० ४०।१५; काण्व ४०।१७; ईश० १७

'हे (क्रतो) कर्म करनेवाले जीवात्मन्! तूं (कृतं स्मर) अपने किये कर्मोंका स्मरण कर, तथा (ओं स्मर

परमेश्वरका स्मरण कर।' इस तरह जीवकी उन्नतिके लिये आदेश वेदमें दिया है। यहां किये हुए कर्मोंका स्मरण कर ऐसा कहा है। तथा इस जीवात्माका नाम 'क्रतु' कहा है। जिसका स्वभाव कर्म करनेका होता है, उसका नाम क्रतु होता है। यहां भी आत्माका स्वभाव 'कर्म करनेका है, यह बात इस पदसे स्पष्ट हो गयी है।

शतक्रतु इन्द्र

इसी तरह इन्द्रके नामोंमें 'शत-क्रतु' नाम सुप्रसिद्ध है। सौ वर्ष जीवित रहकर सौ क्रतु करनेवाला इन्द्र है। यह नाम इन्द्रकी स्वभावसे कर्मण्यता बता रहा है। इन्द्र नाम (इन्-द्र) 'शत्रुका विदारण करनेका पुरुषार्थ करनेवाला' यह अर्थ बता रहा है। इसमें कर्म करके विजय प्राप्त करनेका सामर्थ्य दीखता है। इन्द्र पद जैसा परमात्माका वाचक हैं, वैसा ही जीवात्माका भी वाचक है। इसी 'इन्द्र' से 'इन्द्रिय' पद 'इन्द्रकी शक्ति' के अर्थमें बना है। ये इन्द्रियाँ प्रत्येक मनुष्यके शरीरमें अनेक हैं। प्रत्येक इंद्रिय इन्द्रकी शक्ति है, इसलिये इन्द्रियोंके पीछे इन्द्रका होना स्वयं सिद्ध है। इससे भी इन्द्र पद जीवात्माका वाचक है, यह बात सिद्ध होती है। गीतामें भी-

अहं क्रतुः, अहं यज्ञः। गीता० ९।१६

'मैं क्रतु हूं, मैं यज्ञ हूं' ऐसा कहा है। प्रारंभमें यह परमात्माका वर्णन है, परंतु जीवात्मा भी ब्राह्मी अवस्थामें इस स्थितिको प्राप्त होता है, इसलिये यह भी क्रतु और यज्ञ है, अर्थात् इसका भी स्वरूप 'कर्म' है। जिसका स्वभाव कर्म करनेका है उसीको 'कर्म कर' ऐसी आज्ञा की जा सकती है। जिसका स्वभाव कर्म करनेका नहीं है, जो कर्म कर नहीं सकता, उसको कर्म करनेकी आज्ञा किस तरह की जा सकती है? सब धर्मशास्त्र जीवको सत्कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं, इसलिये सब धर्मशास्त्र जीवकी कर्मशक्तिको मानते हैं। इसलिये कहा है—

कर्मका तत्त्व

यज्ञो वै कर्म। श० ब्रा. १।१।२।१

पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेनेति। श० ब्रा. १४।६।२।१४

वीर्यं वै कर्म। श० ब्रा. ११।५।४।५

कर्माणि धियः। गो० पू० १।३२

यो वै कर्म करोति, स एव तस्योपचारं वेद। श० ब्रा० ६।५।४।१७

कृतं संपद्यते चरन्। ऐ० ब्रा. ७।१५

"यज्ञ ही कर्म है, जो मनुष्यको करना चाहिये। पुण्य कर्म करनेसे मनुष्य पवित्र बनता है और पापकर्म करनेसे पापी बनता है। कर्म ही शक्ति है। बुद्धियां ही कर्मोंमें परिणत होती हैं। जो कर्म करता है वह उसका उपचार जानता है। कृतयुग कर्म करते रहनेसे बनता है।" यहां इन वचनोंमें कहा हुआ कर्मका तत्त्व बडा मननीय है।

(कर्म वै वीर्यं) कर्म ही बल पराक्रम अथवा सामर्थ्य है। यह सत्य है। आज भी जो उत्तम कर्म करता है, वह सामर्थ्यवान् बनता है। कर्म नहीं करता वह पीछे पडता जाता है। इसलिये मनुष्यको उचित है कि, वह अपनी कर्म करनेकी शक्ति बढावे और दिन प्रतिदिन उत्तमसे उत्तम कर्म करता जाय। उसका प्रभाव बढता ही जायगा। मनुष्य (पुण्येन कर्मणा पुण्यो भवति) पवित्र कर्मसे पवित्र बनता है, श्रेष्ठ कर्म करनेसे श्रेष्ठ बनता है। और पापमय कर्म करनेसे पापी बनता है (पापेन पापः भवति) दुष्ट कर्म करनेसे दुष्ट बनता जाता है। जैसा कर्म करता है वैसा बनता है। जैसा कर्म करता है वैसे संस्कार उत्पन्न होते हैं, जिससे वह वैसा बनता जाता है। इसलिये दक्षतासे कर्म करने चाहिये।

बुद्धि और कर्म

(कर्माणि धियः) कर्म बुद्धिरूप होते हैं और बुद्धियाँ कर्मरूप बनती है। जिसकी जैसी बुद्धि होती है, उससे वैसा कर्म बनता है। इसलिये वेदमें 'धी' का अर्थ 'बुद्धि और कर्म' दोनों हैं। उत्तम बुद्धिमान उत्तम कर्म करता है और उत्तम कर्म करनेवाला कर्म करनेके अभ्याससे उत्तम बुद्धिमान बन जाता है। इस तरह बुद्धि और कर्मका साहचर्य है यह जानकर मनुष्यने अपनी बुद्धि बढाकर प्रशस्त कर्म करनेकी शक्ति अपने अन्दर बढानी चाहिये।

कृतयुग निर्माण करना

अपने कर्मोंके द्वारा हमें यहां (चरन् कृतं संपद्यते) कृतयुग निर्माण करना चाहिये। सत्ययुग करना अथवा कलियुग निर्माण करना अपने कर्मोंके आधीन है। लोग

समझते हैं कि, यह कलियुग है। पर कलह, आपसमें झगडे, करनेवालोंके लिये वही कलियुग होता है और आपसकी संगठना, एकता, समता करनेवालोंके लिये वही कृतयुग होता है। हमने जो (कृतं) किया हुआ कर्म है, वह अच्छा कर्म हुआ, तो वही कृतयुग होता है, और उसमें दोष होने लगे, तो वही समय कलियुग होता है। यह सब अपने कर्मोंपर निर्भर है।

मनुष्यका स्वभाव कर्म करनेका है। मनुष्य प्रतिक्षण कुछ न कुछ कर्म करता ही रहता है। यही गीतामें कहा है—

न हि कश्चित् क्षणमपि।
जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। गीता० ३।५

'कोई मनुष्य कभी भी कर्म न करता हुआ रहता नहीं।' प्रतिक्षण कुछ न कुछ करता ही रहता है। क्योंकि मनुष्यका स्वभाव कर्म करनेका है। कोई कहेगा कि, मैंने सोकर समय बिताया, कुछ भी कर्म नहीं किया। पर वह भूलता है, वह उस समय सोकर रहनेका कर्म करता था। जिस अवस्थामें वह रहता है, उस अवस्थाका कर्म उससे होता रहता है। इसलिये यह सत्य है कि, कोई मनुष्य कर्म किये विना रह नहीं सकता। क्योंकि शरीरका स्वभाव ही उससे कर्म कराता रहता है।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि सन्।
गीता० १८।६०

'अपने कर्मोंसे बने स्वभावसे बंधा हुआ तूं जो नहीं करना चाहता है, वही अवश होकर करता है।' इतना स्वभावका बल है। मनुष्यका स्वभाव ही कर्म करनेका है। अतः मनुष्यसे कर्म होता ही रहेगा। कर्म करना या न करना मनुष्यके आधीन नहीं है, कुछ न कुछ कर्म तो उससे होता ही रहेगा। यदि कर्म होना ही है, तब तो मनुष्यको चाहिये कि, वह अच्छा ही कर्म करे। 'मैं कर्म नहीं करूंगा' यह मनुष्यका संकल्प कभी सिद्ध नहीं हो सकेगा, क्योंकि यह संकल्प मनुष्यके स्वभाव धर्मके सर्वथा विरुद्ध है। मनुष्य इच्छासे करे अथवा मनुष्यसे निज स्वभावसे हो जाय, परंतु मनुष्यसे कर्म होता ही रहेगा। फिर वह अच्छा ही कर्म क्यों न करे? इसलिये कहा है कि—

कुशलतासे कर्म करो

योगस्थः कुरु कर्माणि ॥ ४० ॥
योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥ गीता० २

'योगका आश्रय करके कर्मोंको करता जा। कर्मोंके अन्दरकी जो कुशलता है, उसका नाम योग है।' अर्थात् कर्म करनेकी कुशलता प्राप्त कर और उत्तमसे उत्तम कुशलतापूर्वक उत्तमोत्तम कर्मोंको कर। कर्म करने हैं, तो उत्तम कुशलतासे ही करने चाहिये। ऐसे वैसे नहीं करने चाहिये। कर्ममें कुशल मनुष्य ही श्रेष्ठ समझा जाता है। कुशलतासे हीन मनुष्य कभी श्रेष्ठ नहीं होता।

यहां तक यह सिद्ध हुआ कि, मनुष्यको कर्म तो करने ही चाहिये और वे कुशलतापूर्वक करने चाहिये। वेद कहता है—

श्रेष्ठतम कर्म करो

देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे,
आप्यायध्वं,० अनमीवा अयक्ष्माः, मा वः
स्तेन ईशत, माऽघशंसः ॥ वा०य०, काण्व यजु. १।१

'सविता देव आपको श्रेष्ठतम कर्म करनेके लिये प्रेरणा करे। इन कर्मोंको करके आप उन्नतिको प्राप्त हो जाओ, आप नीरोग हो जाओ, तथा यक्ष्मरोगसे दूर रहो। आप पर चोर तथा पापीका राज्यशासन न हो।' यह वेदका उपदेश कितना महत्त्वका है। यह उपदेश मनन करने योग्य है और सदा स्मरण करने योग्य है।

श्रेष्ठतम कर्म- सबको करना चाहिये। अपनी अभिवृद्धि होगी ऐसे ही कर्म करने चाहिये। नीरोगिता बढानी चाहिये। तथा अपने ऊपर चोर और पापीका शासन न हो, ऐसा अपनी सुरक्षाका प्रबंध करना चाहिये। यह सब श्रेष्ठतम कर्म ही हैं।

१ आप्यायनं— अभ्युदय साधक कर्म,

२ अनमीवत्वं — नीरोगिताकी स्थापना,

३ अयक्ष्मत्वं— क्षयरोगसे दूर रहना,

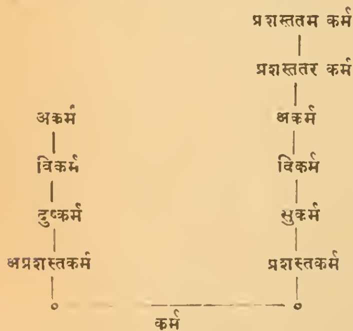
४ स्तेनशासनदूरीकरणं— चोरका शासन दूर करना, अथवा न मानना और

५ अघशंसशासनविनाशनं-- पापीके शासनको दूर करना।

ये श्रेष्ठतम कर्मोंमेंसे थोडेसे कर्म यहां गिनाये हैं। 'आप्यायन'-- तो वैयक्तिक भी हो सकता है और सार्वजनिक भी हो सकता है। एक व्यक्तिकी उन्नति और सार्वजनिक जनसमूहकी उन्नति करनेमें व्यक्ति और समाजका कल्याण है। 'अनमीवत्वं अयक्ष्मत्वं'— यह वस्तुतः सार्वजनिक आरोग्य रक्षणसे ही सिद्ध होनेवाला है। ग्रामकी आरोग्य व्यवस्था अच्छी रही, तो व्यक्ति अपने प्रयत्नसे अपना आरोग्य रख सकता है। पर ग्रामका ग्राम ही रोगी रहा, जलवायु खराब रहे तो व्यक्ति अनेक प्रयत्न करनेपर भी अपना आरोग्य संभालनेमें असमर्थ ही रहेगा। अर्थात् यह आरोग्य रक्षणका कार्य सार्वजनिक कार्य है। 'स्तेनशासन तथा अधशंसशासन को दूर करना' ये कार्य तो सार्वजनिक तथा राजकीय हलचलसे ही होनेवाले हैं। ये वैयक्तिक कार्य हैं नहीं। अर्थात् यहां वेदने जो प्रशस्ततम कर्म गिनाये हैं, उनमें वैयक्तिक, सामूहिक, सार्वजनिक तथा राजकीय कर्मोंका समावेश है, यह बात यहां पाठकोंको अवश्य स्मरण रखनी चाहिये। अपना वैदिक धर्म व्यक्तिकी, समाजकी और राष्ट्रकी उन्नति करनेके आदेश देता है, यह बात यहां स्पष्ट हो गयी है।

कर्मका विचार

अब प्रशस्ततम कर्मका विचार करना है।



कर्मके दो विभाग हैं, एक सुकर्म और दूसरा दुष्कर्म। सुकर्मका नाम प्रशस्तकर्म है और दुष्कर्मको ही अप्रशस्त कर्म कहते हैं। जो प्रशंसा योग्य सर्वजन हितकारी कर्म है। वह प्रशस्त है और जो निंदाके योग्य सर्वजनहितका नाश करनेवाला कार्य है, वह अप्रस्तकर्म है। यह नहीं करना चाहिये।

विकर्मका विचार

'विकर्म' भी दो प्रकारके हैं। एक विरुद्ध कर्म अर्थात् व्यक्ति तथा समाजके हितका बिगाड करनेवाला दुष्कर्म और दूसरा विशेष अवस्थामें विशेष रीतिसे विशेष उपयोगी अतः व्यक्ति तथा समाजका विशेष हित करनेवाला जो होता है वह भी 'वि-कर्म' कहलाता है। अर्थात् विरुद्ध कर्म करना नहीं चाहिये, परंतु विशेष हितकारी कर्म करना चाहिये।

अकर्मका विचार

'अकर्म' भी दो प्रकारके हैं। एक वह कि जो करने योग्य नहीं वह नहीं करना चाहिये। परंतु दूसरा अकर्म वह है कि जो व्यक्तिके ही केवल हित करनेवाले हैं जैसे स्नान, भोजन व्यायाम, स्वकीय संरक्षण, पोषण आदि जो केवल एक व्यक्तिके अस्तित्वके लिये आवश्यक होते हैं, परंतु जो सार्वजनिक हित नहीं करते, वे अकर्म हैं। ये अकर्म व्यक्तिको अपने अस्तित्वके लिये अवश्य ही करने चाहिये, परंतु सार्वजनिक दृष्टिसे इनका कुछ विशेष महत्त्व नहीं होता। इसलिये सार्वजनिक दृष्टिसे ये करनेपर भी न करनेके समान होते हैं, इसलिये ये अकर्म समझे गये हैं। परंतु व्यक्तिको अपने अस्तित्वको सुरक्षित रखनेके लिये ये करने ही चाहिये।

अकर्मका दूसरा एक विभाग है जो विशेष महत्त्वका है। जो कर्म करनेपर भी बाधक नहीं होते, दोष उत्पन्न नहीं करते, कर्म करनेपर भी कर्ता निर्दोष रहता है, कर्म न करनेपर जैसा रहता है, वैसा ही करनेपर भी अलिप्त रहता है, वे कर्म अकर्म कहलाते हैं। जिस तरह वर्णाश्रम धर्मानुकूल कर्म हैं, जो केवल जनताके उपकारके लिये किये जाते हैं। जैसे सैनिक सेनापतिकी आज्ञानुसार कार्य करते हैं, जो स्वयंसेवक केवल सेवाभावसे ही कर्म करते हैं। ऐसे कर्म कर्ताको बाधक नहीं होते, अतः ये अकर्म हैं। ये अकर्म बडे उपयोगी होते हैं। 'कृत्वापि न निबध्यते।' 'कुर्वन्नपि न लिप्यते' (गीता) कर्म करनेपर भी बाधा नहीं होती, कर्ता अलिप्त रह जाता है ऐसा जो

गीतामें कहा है तथा नैष्कर्म्य सिद्धिका जो वर्णन गीतामें है, वे सब इस प्रकारके 'अकर्म' के वर्णन हैं। गीताके ये दो पद 'विकर्म' और 'अकर्म' दो दो अर्थवाले होनेके कारण पाठकोंके लिये समझनेके लिये कठिन हैं और संदेह भी उत्पन्न करनेवाले हैं। अस्तु इन शब्दोंमें जिनका अर्थ उत्तम है, वे तो कर्म करने ही चाहियें, परंतु जिनका अर्थ खराब है, वे कर्म करने नहीं चाहियें।

प्रशस्ततमकर्म

अब प्रशस्तकर्मका विचार करते हैं। प्रशंसा योग्य जो कर्म हैं, वेही करने चाहियें। वेदने तो 'प्रशस्ततम, श्रेष्ठतम कर्म करने चाहियें' ऐसा कहा है। जो प्रशंसा योग्य कर्म हैं वेही श्रेष्ठ कर्म हैं। '**श्रेष्ठतम कर्म**' करनेका आदेश वेद दे रहा है। अर्थात् '**श्रेष्ठ कर्म, श्रेष्ठतर कर्म और श्रेष्ठतम कर्म**' ऐसी श्रेष्ठ कर्मोंमें भी तीन श्रेणियां हैं। उनमें सबसे श्रेष्ठ कर्म करने चाहियें यह वेदका कहना है।

सविता देवः श्रेष्ठतमाय कर्मणे प्रार्पयतु ।

वा. य. १।१

सविता देव मनुष्यको कर्मोंकी प्रेरणा करता है, वह श्रेष्ठतम कर्मकी प्रेरणा करे। यह इस मंत्रका आदेश है। अर्थात् मनुष्य कर्म करेगा, तो वह श्रेष्ठसे श्रेष्ठ कर्म करनेका यत्न करे। यहां 'कर्म, अकर्म और विकर्म' ये कर्मके मुख्य तीन विभाग इससे पूर्व कहे गये हैं। व्यक्तिका जीवन निर्वाह करनेके लिये जो स्नान-भोजन-निद्रा आदि आवश्यक हैं, वे अकर्म हैं। ये करने ही चाहिये। ये न किये तो व्यक्ति नाशको प्राप्त होगी। पर इनके करनेसे सार्वजनिक महत्त्व कुछ भी नहीं है। इसलिये ये करनेपर भी न करनेके समान ही हैं। दूसरा विभाग विकर्मोंका है। ये विरुद्ध कर्म हैं। ये व्यक्ति और समाजका घात करनेवाले हैं। ये हानिकारक होनेसे ये किसीको करने योग्य नहीं है। जैसे ब्रह्मचर्याश्रममें व्यभिचार, गृहस्थाश्रममें दुराचार, अयोग्य आचार, समाजघातक कर्म आदि ये विरुद्ध कर्म किसीको कदापि नहीं करने चाहियें।

सर्वजन हितकारी कर्म

अब शेष रहा 'कर्म'। यह कर्म वह है कि जो समाज, जाति तथा राष्ट्रका हित करनेवाला है। जिससे सब जनोंका कल्याण होता है। इसको यज्ञ कहते हैं। जिस कर्मसे सज्जनोंका सत्कार, समानोंकी संगठना और दीनोंका उद्धार होता है। वह यज्ञ है। सार्वजनिक कल्याणके कर्म तो सबको अवश्य करने चाहियें। यह 'श्रेष्ठतम कर्म' होने योग्य रीतिसे करने चाहियें यह इसका तात्पर्य है। अर्थात् अधिकसे अधिक सत्पुरुषोंका उत्तम रीतिसे सत्कार (देव पूजा) हो, सब जनोंका संगठन (संगतिकरण) हो, आपसका वैर दूर हो जाय, आपसकी फूट दूर होकर सबका संगठन तथा ऐक्य हो जाय, और (दान) दीनोंकी दीनता दूर करनेके लिये उनको योग्य सहायता प्राप्त हो जाय। मनुष्योंमें ज्ञान, वीरता, धन और कर्मप्राविण्य की निर्बलता रहता है। वह दूर हो जाय और मनुष्य पूर्णतासे दैन्यरहित हो जांय। ऐसे प्रयत्न करने चाहियें। इसका नाम श्रेष्ठतम कर्म है। ऐसे श्रेष्ठ कर्म करने चाहियें।

मनुष्यका स्वभाव कर्म करनेका है, इसीलिये उसको अत्यंत श्रेष्ठ कर्म करने चाहियें। ऐसा वह न करेगा, तो उससे तो कर्म होते ही रहेंगे, और उनका परिणाम उनको भोगना ही पडेगा। इसलिये मनुष्य अपनी ओरसे अधिक दक्षतापूर्वक प्रयत्न करके अत्यंत श्रेष्ठ कर्म करनेका यत्न करे। इसमें मनुष्यसे भूल न हो।

कुर्वन् एव इह कर्माणि ।
जिजीविषेत् शतं समाः । वा० य० ४०२

'यहां कर्मोंको करते हुए ही सौ वर्ष जीवित रहनेकी इच्छा करनी चाहिये।' ऐसा वेद कहता है। 'यहां इस जगत्में अच्छेसे अच्छे कर्म करते रहो और सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करो। यहांका 'कर्माणि' पद 'श्रेष्ठतम कर्म' का वाचक है। अर्थात् अधिकसे अधिक श्रेष्ठ कर्म करते हुए, यहां सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करनी चाहिये।

सौ वर्षकी आयु

यहां 'शतं समाः जिजीविषेत्' ऐसी वेदकी आज्ञा है। सौ वर्ष जीनेकी इच्छा मनुष्य किस समय कर सकता है? इसका विचार सबको करना चाहिये। 'जिजीविषा' अधिक या कम मेरी आयु हो यह इच्छा बालपनमें नहीं हो सकती, कुमारपनमें भी नहीं हो सकती। जिस समय

मनुष्य पूर्ण तरुण होता है, विद्यास्नातक होता है, भले बुरेका ज्ञान उसको होता है, उस समय वह अपनी स्वतंत्र प्रतिभासे इच्छा कर सकता है। यह विद्यास्नातक होनेका समय २० वे वर्ष आता है। बालपनके ८ वर्ष, विद्याध्ययन के १२ वर्ष मिलकर २० वर्ष होते हैं। वीसवें वर्ष वह विद्यास्नातक होता है, इस समय अथवा इसके पश्चात् वह अपनी स्वतंत्र प्रतिभासे अपनी इच्छा प्रकट कर सकता है, वह इच्छा यह है—

पश्येम शरदः शतम्।
जीवेम शरदः शतम्।
शृणुयाम शरदः शतम्।
प्रब्रवाम शरदः शतम्।
अदीनाः स्याम शरदः शतम्।
भूयश्च शरदः शतात्॥ वा० य० ३६।२४
पूषेम शरदः शतम्।
रोहेम शरदः शतम्।
भवेम शरदः शतम्।

यहां 'जिजीविषेत्' यह जीवन क्रिया है। दीर्घ जीवनकी इच्छा है। यह इच्छा २० वर्षका पूर्ण तरुण मनुष्य ही कर सकता है। इसलिये २० वें वर्ष १०० वर्ष जीनेकी इच्छा की, तो मृत्युके समयकी इसकी आयु १२० वर्षोंकी होती है। ज्योतिष शास्त्रने इसी कारणके लिये विंशोत्तरी गणित किया है। 'विंशति-उत्तर-शतं' यह १२० वर्षोंकी आयु है अर्थात् १२० वर्षोंकी मनुष्यकी आयु है। दूसरे गणिती लोग 'अष्टोत्तरी' गणित करते हैं, उनके मतसे १०८ वर्षकी आयु होती है। पर १२० वर्षोंकी मानवी आयु मानना युक्ति युक्त है। ८ वर्ष बालपनके १२ वर्ष विद्या अध्ययनके, और १०० वर्ष पुरुषार्थके जीनेके मिलकर १२० वर्ष हुए। अपनी स्वतंत्र इच्छा मनुष्य उस समय करता है कि जिस समय वह पूर्ण स्वतंत्र होता है और मनुष्य विद्या अध्ययन समाप्त करके ही स्वतंत्र प्रतिभावान् होता है। इसलिये 'जिजीविषा' (जीनेकी इच्छा) वीसवें वर्ष, जिस समय वह पूर्ण विद्वान् होता है, उस समय की जा सकती है। वीसवें वर्षके पश्चात् मनुष्य शतायु होनेकी इच्छा कर सकता है और अपनी प्रयत्नपूर्वक इच्छासे उतनी आयु वह प्राप्त करता है।

जीवन गण

जिजीविषा (जीनेकी इच्छा) यह जीवनगणका विषय है। मनुष्यको २० वर्षके पश्चात् सौ वर्ष जीवित रहना है, बीचमें ही मरना नहीं। परंतु यह जीवन केवल कृमिकीट जैसा जीना नहीं है। कौवा भी सौ वर्ष जीवित रहता है और अपने जीवनमें कुछ भी करता नहीं है। वैसा मनुष्य जीवे तो लाभ क्या है? इसलिये यह जीवन गण सूचित करता है कि मनुष्यको अपने जीवनमें क्या करना चाहिये-

जीवगणके विषय

इस जीवनीय गणमें जो गिनना चाहिये, जिससे मनुष्यका जीवन सार्थ होता है, वह इन जीवनगणके मंत्रोंमें कहा गया है। (जीवेम) हम जीवेंगे, (भवेम) हम प्रभावी बनेंगे, (रोहेम) हम बढते रहेंगे, (पूषेम) हम हृष्ट पुष्ट होते रहेंगे, (पश्येम) हम देखते रहेंगे, (शृणुयाम) हम उपदेश सुनते रहेंगे, ज्ञान प्राप्त करते रहेंगे, (प्रब्रवाम) हम उपदेश करते रहेंगे, हम लोगोंको सन्मार्ग बताते रहेंगे, (अदीनाः स्याम) हम दीन दुर्बल नहीं होंगे और ये ही कार्य हम (भूयः शरदः शतात्) सौ वर्षसे भी अधिक जीवित रहकर करते रहेंगे। ये जीवनमें करनेके मुख्य कार्य हैं। जिससे मनुष्य जीवन सफल और सुफल हो सकता है वे ये कार्य हैं। इनका थोडासा अधिक स्पष्टीकरण यहां करना आवश्यक है।

(जीवेम) हम जीवेंगे, नीरोग तथा कार्यक्षम स्फूर्तियुक्त जीवन जीवेंगे, (भवेम) हम अपने जीवनसे विश्वपर प्रभाव डालेंगे, जिससे लोग कहेंगे कि, यह मनुष्य सचमुच जीवित था, जिससे उसके जीवनसे यह प्रभाव जनतापर हुआ, (रोहेम) हम बढते जायंगे, कभी निर्बल, निर्वीर्य, निस्तेज क्षीण नहीं बनेंगे, (पूषेम) हम हृष्ट पुष्ट, प्रसन्नचित्त, समर्थ, प्रभावी, वीर और बलवान हो जायंगे, (पश्येम) हम चारों ओर निरीक्षण करेंगे, कि कौन हमारे मित्र हैं और कौन हमारे शत्रु हैं, हमें भय कहांसे है और किस दिशामें हमें भय नहीं है। इसका हम निरीक्षण, परीक्षण और समीक्षण करेंगे, हम अन्धे जैसे नहीं रहेंगे, चारों दिशाओंमें हम निरीक्षण करेंगे और जानेंगे कि भय कहां है और हमारे सहायक कहां हैं। (शृणुयाम)

हम सुनेंगे, अर्थात् ज्ञानवृद्ध उपदेश करनेवालोंसे हम उपदेश सुनेंगे और उस उपदेशको हम अपनायेंगे, आत्म सात् करेंगे, अपने जीवनमें ढालेंगे, इस तरह ज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् हम उस ज्ञानको अपने अन्दर बंद ही नहीं रखेंगे, परंतु हम (प्रब्रवाम) उपदेश करेंगे और दूसरोंको भी ज्ञान विज्ञान संपन्न करते रहेंगे, जो ज्ञान हमें प्राप्त हुआ होगा, वह हम दूसरोंको देंगे। इस तरह ज्ञान प्रसार करनेमें हम अपना जीवन लगा देंगे। यह सब हमें करना है, इसलिये हमें (अदीनाः स्याम) दीन, निर्बल, दुर्बल परावलंबी होना उचित नहीं है। निर्बलता रहनेसे हमारेसे कुछ भी कार्य नहीं हो सकेगा। इसलिये हम अदीन होकर उत्साहसे कार्य करते जांयगे। हम समर्थ और प्रभावी बन जांयगे। (भूयः शरदः शतात्) सौ वर्षसे भी अधिक दीर्घआयु हम अपने प्रयत्नसे प्राप्त करेंगे और उस अति-दीर्घआयुमें भी हम येही कार्य करते रहेंगे। हम अपनी आयु आलस्यमें कभी नहीं दौडायेंगे। जीवन गणके ये कार्य हैं। सबको यह जीवन गण जानना चाहिये और इसका मनन अच्छी तरह करना चाहिये। (जीवेम) जीयेंगे इसके साथ ये कर्तव्य करने चाहिये।

इससे पूर्व बताया है कि (आप्यायन) अपना अभ्युदय प्राप्त करना, (अनमीवत्व) नीरोगिताका संरक्षण करना और (स्तेनशासननाश) चोरके राज्यशासनको नष्ट करना अर्थात् श्रेष्ठ सज्जनोंका राज्यशासन स्थापित करना, ये कार्य करने योग्य हैं। इनके साथ ये जीवनगणके कर्तव्य मिलाइये। यहां दीर्घआयु प्राप्त करना, उस आयुमें ज्ञान प्राप्त करना, ज्ञानका प्रचार करना, जीवन प्रभावी करना, दीन न बनना और सौ वर्षोंसे भी अधिक दीर्घ जविन प्राप्त करना, ये तथा इस प्रकारके कर्तव्य करनेके लिये वेदने प्रस्तुत किये हैं। यह एक जीवनका उत्तम फलदायी कार्य-क्रम है, जिसके करनेसे मनुष्यको इसी जीवनमें सुख तथा आनन्द प्राप्त हो सकता है।

सौ वर्ष कर्म करो

'कर्म करते हुए सौ वर्षका दीर्घ आयुष्य प्राप्त करना चाहिये' इसका मनन हमने यहांतक किया और इससे यह बोध प्राप्त हुआ। इस मन्त्रके साथ इसका उत्तरार्ध अब देखिये–

कुर्वन्नेवेह कर्माणि।
जिजीविषेच्छतं समाः॥
एवं त्वयि, नान्यथेतोऽस्ति।
न कर्म लिप्यते नरे॥ वा० य० ४०।२

'यहां श्रेष्ठतम कर्मोंको करते रहो, सौ वर्षोंका दीर्घ जीवन जीवूंगा ऐसी इच्छा धारण करो, यह सन्मार्ग तेरे मनमें स्थिर रहे, इससे भिन्न दूसरा मार्ग नहीं है, नरके लिये कर्मोंका लेप नहीं लगता।' यह संपूर्ण मंत्र है। जीवनभर प्रशंसा योग्य अत्यंत श्रेष्ठ कर्मोंको करो, सौ वर्षका पूर्ण दीर्घजीवन जीनेकी इच्छा करो, क्षणभंगुरवादको छोड दो, दो दिनकी दुनिया ऐसे निराशामय विचार मनमें धारण न करो, प्रत्युत मैं सौ वर्ष तो जीवूंगा ही, परंतु सौ वर्षोंसे भी अधिक दीर्घजीवन धारण करूंगा और उसमें अत्यंत श्रेष्ठ कर्म करता रहूंगा ऐसा उत्साही विचार मनमें सदा रखो। ये ही उत्साही विचार तुम्हारे मनमें रखो, तथा इससे भिन्न मनुष्योंके लिये आचरने योग्य कोई दूसरा मार्ग है ही नहीं, यह ध्यानमें रखो और शुभकर्म, श्रेष्ठतम कर्म करनेसे मनुष्यको कर्मोंका लेप नहीं लग सकता, यह भी ध्यानमें रखो। सभी कर्म कर्ताको दोषोंसे लिप्त करते हैं ऐसा कुविचार मनमें न रखो। परंतु श्रेष्ठ सत्कर्म कर्ताको कभी दोष नहीं लगाते, ऐसा पक्का निश्चय मनमें रखो और श्रेष्ठ सत्कर्म सदा करते रहो। यही अपनी तथा सबकी अभिवृद्धि करनेका एकमात्र उत्तम मार्ग है।

मनका निश्चय करो

श्रेष्ठतम कर्मोंको करते हुए सौ वर्ष जीवित रहनेकी इच्छा करना, यही एक उन्नतिका मार्ग है, दूसरा कोई मार्ग नहीं, ऐसा मनुष्यका निश्चय होना चाहिये। इसके विरुद्ध उन्नतिके अनेक मार्ग हैं, सब मार्ग उस प्राप्तव्य स्थानको पहुंचते हैं, किसी मार्गसे जाओ, जानेवाला अन्तमें वहां पहुंचेगा। ऐसा कुविचार कई लोग मनमें धरते हैं। इससे किसी एक मार्गपर अटल श्रद्धा नहीं बैठती, इस कारण ऐसा मनुष्य यह थोडा, वह थोडा ऐसा करता रहता है। किसी मार्गका उत्तम आचरण उससे नहीं होता। इस कारण उसके सभी कार्य अधूरे रहते हैं और एक भी सिद्धि उसको प्राप्त नहीं होती। इसलिये इस मंत्रमें कहा है कि (एवं त्वयि) इस नियमको तुम अपने हृदयमें धारण

करो, 'श्रेष्ठतम कर्मोंको करते हुए सौ वर्ष जीनेकी इच्छा धारण करना' यह सुवर्ण नियम है। इसपर पूर्ण श्रद्धा रखो, इसको हृदयमें स्थायी स्थान दो। अपने द्वारा श्रेष्ठतम कर्म हो रहा है वा नहीं यही केवल तुमको देखना है। और ऐसे उत्तम कर्म करते हुए दीर्घजीवन प्राप्त करनेका यत्न करना। यह एक ही नियम है कि जो मानवोंका तारक है। (इतः अन्यथा नास्ति) इस नियमके सिवाय दूसरा कोई साधन मानवी उद्धारके लिये नहीं है। ऐसा पूर्ण विश्वास मनुष्यमें स्थिर होना चाहिये।

नरको दोष नहीं लगता

इसी तरह (नरे कर्म न लिप्यते) नरको ऐसे श्रेष्ठतम कर्मका लेप नहीं लगता। यह भी नियम सदा ध्यानमें धारण करने योग्य है। इस मंत्र भागके शब्द विशेष मनन करने योग्य हैं। यहां 'नर' को कर्मका लेप नहीं होता ऐसा कहा है, 'जन, लोक, मनुष्य, मानव' के लिये कर्मका लेप नहीं होता, ऐसा नहीं कहा है। इस कथनमें यह विशेषता है। 'नर' वह है कि जो 'न रमते' जो भोगों और विलासोंमें रमता नहीं। प्रत्येक पुरुष नर नहीं कहलाता। जो भोगवृत्तिसे दूर है, जो भोगोंमें फंसा नहीं है वही 'नर' है। ऐसा 'नर' कर्मसे, कर्म करनेपर भी, अलिप्त रहता है।

जन, लोक, मनुष्य और नर

संस्कृतमें मनुष्यवाचक अनेक शब्द हैं। उनमेंसे कुछ शब्दोंका यहां विचार करते हैं। (१) 'जन' वे हैं कि जो प्रजनन करते हैं, अपने जैसे द्विपाद प्राणी निर्माण करते हैं। प्रजनन-प्रजाकी उत्पत्ति-करनेकी अपेक्षा दूसरा कुछ भी कार्य ये नहीं कर सकते। पशुपक्षी भी अपने जैसी संतान निर्माण करते हैं। वैसी ही संतति मनुष्यने उत्पन्न की, तो उसकी विशेषता तो क्या रही? इसलिये 'जन' शब्दसे नीचली श्रेणीके मानवोंका बोध होता है।

इससे थोडा ऊपर उसका दर्जा है कि जो (२) 'लोक' कहलाता है। 'लोक-दर्शने,' जो देखता है, क्या चल रहा है इसका जो निरीक्षण करता है, जो सचमुच देख सकता है, वही लोक है। केवल प्रजनन करनेवालेकी अपेक्षासे जो चारों ओर क्या चल रहा है, उसका निरीक्षण कर सकता है, वह सचमुच 'जन' से अधिक उच्च श्रेणीका मानव हो सकता है।

इसके ऊपर जब हम चढेंगे, और हम देखेंगे, तो हमारे सामने (३) 'मनुष्य' पद आयेगा। '**मननात् मनुष्यः**' जो मनन करता है, वह मनुष्य है। अपने जैसे प्राणीको उत्पन्न करनेसे तथा केवल देखनेसे, केवल निरीक्षणकी शक्तिसे, मनन करनेकी शक्ति अधिक श्रेष्ठ है। इसलिये मनुष्य पद श्रेष्ठत्वका द्योतक है। 'मनुष्यत्व' इस मनन करनेकी शक्तिमें है। जितनी मनुष्यकी मनन शक्ति विशेष होती है, उतनी उसकी योग्यता श्रेष्ठ समझी जाती है। मनन शक्तिके कारण ही मनुष्यको 'मनुष्य' कहते हैं।

मनुष्योंमें 'नर' होते हैं, जो भोगोंमें लिप्त नहीं होते, जो कर्तव्य तत्पर रहते हैं। ये ही श्रेष्ठतम कर्म कर सकते हैं। सर्वजन हितकारी कर्म येही कर सकते हैं। और इनको ही 'न कर्म लिप्यते नरे' (नरको कर्मोंका लेप नहीं लगता) ऐसा कहा है। 'नर करणी करे तो नरका नारायण हो जाय' यह जो कहावत है, वह 'नर' के लिये ही है। नर श्रेष्ठ मनुष्योंका वाचक पद है। वे श्रेष्ठतम कर्म करते हैं और भोगोंमें न फंसनेके कारण कर्मफलसे सदा अलिप्त रहते हैं। वेद कहता है कि ऐसे नरको कर्मका लेप नहीं लगता। परंतु अन्य सर्व साधारण जनोंको उनके किये कर्मोंका लेप नहीं लगता, ऐसा तो वेदका कथन नहीं है। प्रथम मनुष्य 'नर' बने और अत्यंत श्रेष्ठ कर्म सर्वजनहित साधन करनेके लिये करे और कहे कि मैं इस कर्मके लेपसे अलिप्त हूं। निःसंदेह वह निर्लेप रहेगा।

यहां कर्म करो

मन्त्रमें 'कुर्वन् एव इह कर्माणि' ऐसा कहा है। इस मन्त्र भागमें 'इह' पद है। यहां इस भूलोकके ऊपर रहकर कर्मोंको करना चाहिये। इस भूलोकको 'कर्म लोक' कहते हैं। कर्म करनेका यही भूलोक है। मानवी शरीर भी कर्मका साधन है, मानवको वेदने 'क्रतु' कहा है। यह सौ वर्ष जीवित रहकर प्रति वर्ष एक एक क्रतु करता है। इसलिये इस साधकका नाम 'शतक्रतु' है। ये सब पद कर्म करनेवालेके वाचक हैं। यहां इस लोकके मनुष्य कर्म करें और अपना सुधार करें। इस लोकमें सब प्रकारके

स्वर्गीय सुख प्राप्त करना मनुष्यकी कर्म शक्तिपर निर्भर है। कर्मोंको यहां ही इस लोकमें करना चाहिये। 'कुर्वन् एव' यहां कर्म ही करने चाहिये, सतत कर्मण्यता मनुष्यमें रहनी चाहिये। कर्मोंको किये विना यहां शुभ गति मनुष्यको मिलनी नहीं है।

कर्मत्याग असंभव है।

जो तो कहते हैं कि, कर्मका त्याग करना चाहिये वह तो वेदमें किसी जगह नहीं कहा है। कर्मत्याग मनुष्यके लिये असंभव है। इस लोकमें तथा मनुष्य शरीर रहनेतक कर्मत्याग असंभव है। मनुष्य शरीरका स्वभावही कर्म करना है। फिर इस शरीरके रहते हुए कर्मत्याग किस तरह हो सकता है? इसलिये मन्त्रमें कहा है कि 'इह कर्माणि कुर्वन् एव' यहां कर्मोंको करते हुए ही जीनेकी इच्छा करनी चाहिये। कर्मोंका त्याग करके जीनेकी इच्छा धारण नहीं करनी है, क्योंकि संपूर्ण कर्मत्यागकाही अर्थ मृत्यु है। संपूर्ण कर्मत्याग मनुष्यके लिये असंभव है। इसलिये 'इस जगत्' में जीवित रहना है, तो उत्तमोत्तम कर्मोंको करते हुए ही जीवित रहनेकी इच्छा करनी चाहिये।

मनुष्यकी आयु, निश्चित या अनिश्चित?

यहां एक शंका आ सकती है वह यह कि मनुष्यकी आयु परमेश्वरने निश्चित की हुई होती है, वा निश्चित नहीं होती? यदि नियत आयु है, तो 'शतं समाः जिजीविषेत्' सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करनी चाहिये, अथवा 'भूयः च शरदः शतात्' 'भूयसीः शरदः शतात्' सौ वर्षोंसे भी अधिक आयु प्राप्त करनेका यत्न करना चाहिये, इसका अर्थ क्या है? यदि आयु नियत है, तब तो इन वेदाज्ञाओंका कुछ भी अर्थ नहीं है। परंतु यदि इन वेदाज्ञाओंमें कुछ न कुछ अर्थ है, तब तो मनुष्य अपनी आयु निःसंदेह बढा सकता है और मनुष्यको ऐसे कर्म करने चाहिये कि, जिनसे मनुष्यकी आयु बढती जाय। अतः इस शंकाका निराकरण करना चाहिये कि मनुष्यकी आयु नियत है वा अनियत?

आज कल लोग मानते हैं कि मनुष्यकी आयु जन्मके समयमेंही निश्चित हुई होती है, उसमें भी नाना प्रकारके रोग हैं, अपमृत्यु है, अपघात हैं। ये मनुष्यकी आयुका नाश करते हैं। इस मृत्युलोकका जीवन क्षणभंगुर अशाश्वत और दुःखपूर्ण है। यह निराशावादी तत्वज्ञान बुद्ध संप्रदायके प्रारंभसे इस भूमिमें प्रचलित हुआ है। इस भूमिपरके मानवी जीवनका इस बुद्धके संप्रदायने सत्यानाश किया है। यहां रोग हैं, अपमृत्यु हैं यह सच है। परंतु मनुष्य इनपर उपाय करके अपनेको नीरोग रख सकता है और अपनी आयु बढा सकता है। यह वेदका सिद्धान्त है, इसीलिये 'भूयश्च शरदः शतात्' सौ वर्षोंसे भी अधिक जीनेकी इच्छा धारण करो, ऐसा वेदने कहा है। सौ वर्ष या अधिक जीनेकी इच्छा धारण करना, तथा वैसा दीर्घजीवन होने योग्य अपना आचार व्यवहार करना' यहां इष्ट है। ऐसा करनेसे मनुष्यकी आयु बढती है। प्राचीन समयमें भगवान् श्रीकृष्ण, महाबली बलरामजीकी आयु १२५ वर्षोंकी थी, भीष्मपितामहकी आयु १७० वर्षोंकी थी, धर्म भीम अर्जुन आदि राज्य करके वनमें गये उस समय उनकी आयु १०० वर्षोंकी हो चुकी थी, दो हजार वर्ष पूर्व ग्रीक लोग भारतमें आये थे, उस समय १४० वर्षोंके मनुष्य मार्ग परसे अच्छी तरह भ्रमण कर रहे हैं ऐसा दृश्य उन्होंने भारतमें देखा था। अब इस समयमें भी १०० वर्षोंसे अधिक आयुवाले पुरुष दीखते हैं, इससे सिद्ध होता है कि 'शतं समाः जिजीविषेत्' सौ वर्ष जीनेकी इच्छा मनुष्य करे, यह बात तो मनुष्यके स्वाधीन की है। मनुष्य इच्छा करे तो उसकी आयु बढ सकती है, और चाहे तो उसका अन्त अकालमें भी हो सकता है। इसलिये इस मंत्रमें 'जिजीविषेत्' जीनेकी इच्छा करनी चाहिये ऐसा कहा है। जिजीविषामें प्रयत्न पूर्वक इच्छा रहती है। इसका यह अर्थ है कि मनुष्य प्रयत्नपूर्वक इच्छा करेगा, तो उसकी आयु बढेगी और उदास वृत्तीसे रहेगा, तो उसकी आयु घटती जायगी।

इतिहास दृष्टिसे भी यह सत्य दीखता है। अपने प्राचीन वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, रामायण, महाभारत तथा आयुर्वेदके ग्रन्थ प्रयत्नसे दीर्घायु प्राप्त करनेका उपदेश कह रहे हैं, इसलिये उस समयमें लोगोंकी आयु अतिदीर्घ थी। आयुर्वेदमें जीवनीय कल्प दिये हैं, वे आयु बढानेके लिये ही हैं। योग साधनसे भी आयु बढती है, योगायु ३०० वर्षोंकी मानी है। ज्योतिषशास्त्र तो सर्वसाधारण आयु १२० वर्षोंकी मानता है।

यह तो वैदिक वायुमंडलकी बात हुई। पर जिस समयसे बुद्ध संप्रदाय चला और उसका क्षणभंगुरवाद, दुःखमय वाद शुरू हुआ उस समयसे हमारी आयु घटने लगी। वह घटते घटते इस समय भारतकी औसद आयु २५ वर्षकी हुई है, जो वैदिक समयमें औसद आयु सौ वर्षकी थी। इतना अन्तर इस भ्रान्त विचार धारासे हुआ है।

मृत्युका पांव दूर हटाओ

मृत्योः पदं योपयन्तः यदैत
द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः।
आप्यायमानाः प्रजया धनेन
शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः। ऋग्वेद

'(मृत्योः पदं योपयन्तः) तुम्हारे सिरपर बैठा हुआ मृत्युका पांव दूर करो, (एत) आगे बढो, (द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः) तुम्हारी दीर्घ आयुको अधिक अतिदीर्घ बनाकर धारण करो, (प्रजया धनेन आप्यायमानाः) प्रजा और धनसे बडे वैभवको प्राप्त करते रहो और शुद्ध पवित्र और पूजनीय बनो।'

यह वेदकी आज्ञा कितनी स्पष्ट है? यह आज्ञा कितनी निश्चित है, देखिये। इसी जगत्में यह सब करना है। इसी आयुमें अपनी आंखसे यह देखना है।

अपनी आयु दीर्घ बनाओ

शुद्ध पवित्र और पूजनीय बनना, सन्तानों और धनोंसे युक्त होकर पर्याप्त वैभव प्राप्त करना, अपनी आयु अति-दीर्घ करके उसको धारण करना और मृत्युको दूर करना ये प्रशस्ततम कर्म मनुष्यको करने योग्य हैं। ये सर्व यहांके वैभवके लिये करनेके कर्म हैं। वेद कहता है कि, यहां स्वर्गसुख प्राप्त करने योग्य परिस्थिति अपने प्रयत्नसे निर्माण करनी चाहिये। इसीका नाम कर्म है और यही कर्म मनुष्यको दोष नहीं लगाता।

इस विवेचनका आशय यह है कि अपनी आयु दीर्घ करना अथवा छोटी करना मनुष्यके कर्मोंके आधीन है। इसलिये मनुष्य दक्षतासे प्रयत्न करे और दीर्घायु तथा उत्तम कर्म-शक्ति अपने अन्दर प्राप्त करे और अपना विकास करे।

१ यहां दीर्घजीवन प्राप्त करना,
२ अपनी आयुभरमें सर्वजन हितकारी श्रेष्ठतम कर्म करते रहना,
३ यही एक मार्ग मनुष्यके लिये है, दूसरा नहीं ऐसा पक्का विश्वास रखना, और
४ ऐसे कर्मोंका दोष मनुष्यको नहीं लगता यह भी विश्वास रखना।

यह उपदेश यहां मिला। यह आत्मोद्धारका मार्ग है। अब आत्मघातकी लोगोंका बर्ताव कैसा होता है देखिये—

आत्मघातकी लोग

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृत्ताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥
वा० य० ३

'असुर वृत्तीवाले गुण्डलोक अज्ञानान्धकारसे व्याप्त रहते हैं— जो आत्मघातकी लोग होते हैं वे मरणोत्तर भी (तथा जीतेजी भी) उनमें समाविष्ट होते हैं।' आत्म-घातकी लोग कौनसे हैं! कि जिनका वर्णन इस मन्त्रमें किया गया है? पूर्व मन्त्रमें जिन सज्जनोंका वर्णन हुआ है, उसके विरुद्ध वर्णनवाले जो दुर्जन होते हैं, वे आत्मघातकी होते हैं। इसकी तालिका देखो—

आत्मोन्नतिकरनेवाले	आत्मघातकी
१ यहां श्रेष्ठ कर्म सर्वजनहितार्थ करनेवाले सत्पुरुष हैं।	१ कर्म न करना, दुष्ट कर्म करना, सर्वजनहितका घात करनेवाले कर्म करना, आलस्यमें रहना इ० ये आत्म-घातकी हैं।
२ इस जगत्में श्रेष्ठ कर्म करना चाहिये ऐसा माननेवाले,	२ इस जीवनमें कर्म न करनेवाले, दुष्ट कर्म करनेवाले,
३ सौ वर्ष अथवा अधिक जीनेका प्रयत्न करनेवाले अर्थात् श्रेष्ठ कर्म करते हुए दीर्घजीवन प्राप्त करनेका यत्न करनेवाले।	३ जीवनको अशाश्वत, क्षणभगुर, दुःखमय मानकर शरीरकी घृणा करनेवाले,
४ यही एकमात्र उद्धारका मार्ग है ऐसा माननेवाले,	४ मनुष्यके उद्धारके अनेक मार्ग हैं ऐसा माननेवाले, किसीपर भी दृढ विश्वास न रखनेवाले,
५ श्रेष्ठ सत्कर्म करनेसे कर्ताको दोष नहीं लगता ऐसा माननेवाले, ये आत्मोद्धारक हैं।	५ सब कर्म कर्ताको दोष लगाते हैं ऐसा मानकर कर्मकी निंदा करनेवाले, ये आत्मघातकी हैं।

इस तालिकासे स्पष्ट हो सकता है कि कौन आत्मघातकी हैं और कौन आत्मोन्नति करनेवाले हैं। जो आत्मघात करते हैं, उनके भी लक्षण संक्षेपसे यहां बताये गये हैं। वस्तुतः आत्मघातियोंके कुलक्षण अनेक हैं, उनकी गणना करना कठिन है। तथापि यहां संक्षेपसे उनका स्वरूप बताया है। आत्मोद्धारकोंके तो लक्षण थोडे ही हैं। आत्मघातकी लोगोंकी गणना जातं जो अथवा मरणोत्तर भी उन गुण्डोंमें होती है, जो राक्षसी वृत्तीवाले होते हैं। यह तो आत्मघातके दुष्कृत्य करनेका परिणाम है।

दुराचारी गुण्डोंका निवासस्थान पृथक् हो

राष्ट्रमें भी जो दुराचारी गुण्ड होते हैं, उनकी गणना पृथक् करनी चाहिये। वे सज्जनोंके स्थानमें न जा सकें और उनके श्रेष्ठ कर्ममें विघ्न न कर सकें, ऐसा प्रबंध शासन संस्थाके द्वारा होना चाहिये। आत्मघातकी असुर राक्षसोंका स्थान पृथक् हो और आत्मोद्धारक विबुधों वा दैवी संपत्तिवालोंका स्थान पृथक् होना चाहिये। शासकोंका निरीक्षण उन असुरोंपर सदा दक्षताके साथ रहना चाहिये, जिससे वे सज्जनोंको उपद्रव न दे सकें।

ग्राममें सज्जनोंका निवासस्थान एक स्थानपर रहे और राक्षसी गुण्ड लोगोंका स्थान पृथक् हो। राक्षसी वृत्तीवालोंपर रक्षकोंका निरीक्षण रहे। जिससे वे उपद्रव न मचा सकें। ऐसा उत्तम प्रबंध राष्ट्रमें हो।

दैवी संपत्तिवालोंका वर्णन भी इसी मन्त्रको देखनेसे किया जा सकता है। देखिये— "दैवी संपत्तिवाले विबुध उत्तम ज्ञान विज्ञानसे युक्त होते हैं। जो आत्मोन्नति करनेके लिये श्रेष्ठ कर्म करते रहते हैं, उनकी गणना उन दैवी संपत्तिवालोंमें होती है।" दैवी संपत्तिवाले और आसुरी संपत्तिवालोंका वर्णन विस्तारसे श्रीमद्भगवद्गीतामें किया है वह अब देखिये—

दैवी संपत्तिका वर्णन

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥ गी० १६

"(१) निर्भयता, (२) अन्तःकरणकी पवित्रता, (३) ज्ञान और योगमें विशेष उन्नतिकी अवस्था, (४) दान सत्पात्रमें देनेकी रुची, (५) संयम और इंद्रिय दमन करना, (६) यज्ञ अर्थात् सज्जनोंका सत्कार, मानवोंकी संघटना और निर्बलोंकी सहायता करनेके कर्म करना, (७) विद्याध्ययन करनेमें चित्त लगाना, (८) शीत उष्ण आदि द्वन्द्वोंको सहन करनेकी शक्ति प्राप्त करना, (९) व्यवहारकी सरलता, (१०) हिंसा न करना, (११) सत्यका पालन करना, (१२) क्रोध न करना, (१३) त्याग अर्थात् अपने सुखका सबके हित करनेके लिये अर्पण करना, (१४) शांति धारण करना, (१५) चुगली न करना, एककी गुप्त बात दूसरेसे कहकर दोनोंमें झगडा खडा करनेका यत्न न करना, (१६) प्राणियोंपर दया करना, (१७) लोभ न धारण करना, (१८) अन्तःकरणकी मृदुता, (१९) बुरा कर्म करनेकी लज्जा होनी, (२०) चंचलताका न होना, (२१) तेजस्विता, (२२) क्षमाशील होना, (२३) धैर्य, (२४) पवित्रता, (२५) द्रोह किसीके साथ न करना, (२६) अत्यंत मानी न बनना, अत्यंत घमंड न करना, ये दैवीसंपत्तिवालोंमें रहनेवाले गुण हैं। जो नर सत्कर्म करते हुए सौ वर्षकी दीर्घायु प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं और अपना जीवन नर श्रेणीका बनाते हैं, उनके ये लक्षण हैं। अब असुर स्वभाववालोंके लक्षण देखिये--

आसुरी प्रवृत्तीका वर्णन

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥
दैवीसंपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ॥ ५ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धय।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदितिनिश्चिताः ॥ ११ ॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थ संचयान् ॥ १२ ॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्ये इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥
आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नाम यज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥
गी० १६

१ दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, निष्ठुरता और अज्ञान ये दुर्गुण आसुरी प्रवृत्तीसे उत्पन्न हुए मनुष्यमें जन्मतः होते हैं। (४)

२ दैवीसंपत्तिसे बंधनसे मुक्ति हो जाती है और आसुरी प्रवृत्तीसे बंधनका दुःख प्राप्त हो जाता है। (५)

३ आसुरी लोग प्रवृत्ति क्या है और निवृत्ति किसे कहते हैं यह जान नहीं सकते। किस शुभकर्ममें मनुष्यकी प्रवृत्ति होनी चाहिये और किस तरहसे अशुभ कर्मसे हमें निवृत्त होना चाहिये यह विवेक आसुरी लोगोंमें नहीं होता है। (७)

४ पवित्रता, सदाचार, सत्य आसुरी प्रवृत्तिके लोगोंमें नहीं होता है। (७)

५ यह जगत् असत्य है, निराधार है, और इसका कोई नियामक नहीं है। यह जगत् अनित्य, क्षणभंगुर, आधार-रहित और शासक रहित है ऐसा असुरोंका मत है। (८)

६ यहां परस्पर किसीका किसीसे कोई संबंध नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र और पृथक् है। इस जगत्का उद्देश विषय भोग भोगनेके सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं है।(८)

७ इस तरहकी दृष्टिका स्वीकार करनेवाले, नष्ट दुष्ट स्वभाववाले अल्पबुद्धी लोग बडे बडे उग्र कर्म करते हैं और जगत्के नाशके लिये तथा सबका अहित करनेके लिये ही प्रवृत्त होते हैं। (९)

८ कभी तृप्त न होनेवाली वासनाओंको धारण करनेवाले, मोहसे अनेक दुष्ट इच्छा धारण करनेवाले दम्भी, मानी और मदान्ध असुरलोग, अपवित्र कर्मोंको करते हुए सदा असत्कर्ममें ही प्रवृत्त होते हैं। (१०)

९ कल्पान्ततक टिकनेवाली अपरिमित चिन्ताको धारण करनेवाले ये असुर लोग कामभोगको ही सर्वस्व मानते हैं और यही सब कुछ है, इससे भिन्न कुछ भी नहीं है, ऐसा उनका आग्रह रहता है। (११)

१० सैंकडों आशापाशोंसे बंधे हुए कामी और क्रोधी ये असुर लोग अपने उपभोगके लिये अन्यायसे बहुतसा धन संचय ये करते हैं। (१२)

११ आज मैंने यह धन प्राप्त किया है, यह मनोरथ मैं कल प्राप्त करूंगा, आज मेरे पास इतना धन है, कल इतना धन मेरे पास होगा। (१३)

१२ इस शत्रुका नाश मैंने आज किया है, अन्य शत्रुओंका नाश मैं कल करूंगा। (१४)

१३ मैं इस धनका स्वामी हूं, मैं भोगी हूं, मैं सिद्ध हूं और मैं बलवान् हूं, तथा मैं सुखी हूं। (१४)

१४ मैं धनपति हूं, मैं कुलीन तथा उत्तम परिवार संपन्न हूं, मेरे जैसा इस जगत्में कौन दूसरा है? (१५)

१५ मैं यज्ञ करूंगा, मैं दान दूंगा, मैं आनंद भोगूंगा, इस तरह वे असुर अज्ञानमें मोहित होकर घमंड मारते रहते हैं। (१६)

१६ अनेक प्रकारसे भ्रान्तचित्त बने हुए, अनेक मोहपाशोंसे बंधे हुए, कामभोगोंके पीछे पडे हुए अपवित्र नरकमें ये असुर गिरते हैं। (१६)

१७ अपने आपको बडे संभावित तथा प्रतिष्ठायुक्त माननेवाले, धन मान और घमण्डसे युक्त ये असुर लोग दम्भसे विधिहीन यज्ञोंको करते हैं। (१७)

१८ अहंकार, बल, घमंड, काम और क्रोधका आश्रय करके अपने और दूसरोंके देहोंमें रहनेवाले आत्माका द्वेष करते हैं। और सदा दूसरोंकी निंदा करते रहते हैं। (१८)

यह आसुरी प्रवृत्तीवालोंका वर्णन है। इससे पता लग सकता है कि, जगत्में ये असुर लोग कौनसे हैं और सुर-लोग कौन हैं। यहां यह वर्णन विस्तारसे किया है, इस लिये इस वर्णनको देखकर मनुष्य असुर लोगोंको पहचानें और विबुधोंको भी पहचाने विना इसकी परीक्षा किये इस जगत्का व्यवहार करना ही असंभवसा हो जायगा। मनुष्य रूपसे ये असुर राक्षस और दानव इस जगत्में घूम रहे हैं। ऊपरसे उनका पोशाख अच्छा रहता है, परंतु अन्दरसे उनके कर्तूत असुरोंके होते रहते हैं। वे भयानक होते हैं, इसलिये इनसे बचना चाहिये। वेद मन्त्रमें भी जो 'असूर्य-लोक' कहे हैं वे राक्षसी वृत्तीवाले गुण्ड ही हैं। जो शारीरिक बलसे बडे मोटे ताजे होते हैं, हृष्ट पुष्ट होते हैं, किसी जातका कुकर्म करना उनके लिये सहज होता है। वे क्रूर और दुष्ट होते हैं।

गुण्डोंसे अपना बचाव करो

असुरोंसे अपने आपका बचाव करना और विबुधोंकी संघटना करके उनका बल बढाना यही यहां करने योग्य कार्य है।

दीर्घ आयुकी आवश्यकता

इस मन्त्रमें सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करनेको कहा है। मानवी जीवनमें दीर्घायु अत्यंत आवश्यक है। विना आयुके बाकी सब पदार्थ निकम्मे हो जाते हैं। देखिये मनुष्य धन धान्य संपन्न है, घरमें पुत्र पौत्र स्त्री सेवक रथ घोडे गौवें आदि सब ऐश्वर्य है, स्वयं ज्ञानी है, विज्ञानसंपन्न है, अधिकार भी बडा है और मरने लगा है अर्थात् दीर्घजीवन नहीं है, तो वैसी अवस्थामें उसके उस ऐश्वर्यका उसके लिये क्या उपयोग हो सकता है ? सब ऐश्वर्योंका उपयोग दीर्घ तथा रोगरहित आयु रही तो ही हो सकता है। आयु तो १२५ वर्षोंकी है, पर सदा चारपायीपर बीमार रहता है, दवा खाते खाते तंग आया है। वैसे दीर्घ बीमार चाहते हैं कि एकवार मृत्यु आ जाय तो अच्छा है !! दीर्घकालीन बीमार मृत्युको निमंत्रण देते हैं। इसलिये नीरोग तथा बल-युक्त दीर्घआयु चाहिये। इसलिये वेदने कहा है कि "अदीनाः स्याम शरदः शतं' हम सौ वर्षोंतक दीन न होते हुए आनन्द प्रसन्न हृष्ट पुष्ट तथा बलवीर्य संपन्न रहें। यह शुभ इच्छा है। सौ वर्षकी पूर्ण आयु तो चाहिये परंतु साथ साथ नीरोग बलवीर्य संपन्नता भी आवश्यक है।

आयुके आश्रयसे कर्म

आयुके आश्रयसे ही सब भोग भोगे जाते और सब कर्म किये जाते हैं। यद्यपि मंत्रके प्रारंभमें--

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'

'कर्मोंको करते हुए' ऐसा कहा है और पश्चात्—

'जिजीविषेत् शतं समाः'

अर्थात् 'सौ वर्ष जीनेकी इच्छा धारण करो' ऐसा कहा है, तथापि सौ वर्ष जीनेकी इच्छा प्रथम मनमें धारण करनी चाहिये और पश्चात् प्रशस्ततम कर्म करते रहना चाहिये। क्योंकि विना आयुके श्रेष्ठ कर्म किये ही नहीं जांयगे। सौवे वर्षमें भी कर्म करनेकी शक्ति अक्षुण्ण रहनी चाहिये। यहांके सौ वर्ष आयुके १२० वर्ष होते हैं अर्थात् १२० वे वर्ष अपनी कर्मशक्ति उत्साहमयी रहनी चाहिये। शक्तिकी क्षीणता १२० वे वर्ष भी नहीं होना चाहिये। देखिये वैदिकधर्मने मनुष्यपर कितना कर्तव्यका भार रखा है। प्रथम वह १२० वर्षकी दीर्घआयु प्राप्त करनेका यत्न करे और अन्तिम वर्षमें भी उसकी शक्ति क्षीण न हो। इतना प्रयत्न करनेका भार मनुष्यपर वेदने रखा है। तरुण जैसा उत्साह १२० वे वर्ष रहना चाहिये, यह इसका आशय है। इतना निश्चयपूर्वक प्रयत्न करना चाहिये और इसमें प्रमाद होने नहीं देना चाहिये।

केवल दीर्घायुष्य मनुष्यकी शोभा नहीं बढा सकता, वह तो एक उपहासका विषय बनेगा। यदि कोई मनुष्य दीर्घायु है, परंतु ज्ञानहीन, कर्म करनेमें असमर्थ, निर्धन है, तो उसकी दीर्घ आयु उपहास करनेके लिये योग्य समझी जायगी। इसलिये केवल दीर्घ आयु कामकी नहीं है। इसीलिये मंत्रमें प्रथम कर्म करते हुए, दीर्घायुकी इच्छा करो, ऐसा कहा है। इससे मंत्रके विधान-का पूर्वापर संबंध कितना महत्त्वपूर्ण है, इसका पता लग जायगा। प्रथम मनुष्यको प्रशस्त कर्म कुशलतापूर्वक करनेकी शक्ति प्राप्त करनी चाहिये, इसके लिये ज्ञान विज्ञान संपन्नता जितनी चाहिये, उतनी अवश्य प्राप्त करनी

चाहिये । और ऐसे कर्ममें कुशल पुरुष अपनी दीर्घ आयु हो ऐसी इच्छा करें और उसके लिये आवश्यक तो प्रयत्न भी करें और दीर्घआयु अपने प्रयत्नसे प्राप्त करें ।

कुविचार दूर करो

क्षणभंगुर संसार, नश्वर जगत्, अशाश्वत विश्व दो दिनकी दुनिया आदि अवैदिक विचार स्थायी रूपसे दूर फेंकने चाहिये । ऐसे कुविचारोंको अपने पास आने नहीं देना चाहिये। ये दुष्ट विचार, ये कुविचार यदि अपने मनमें रहे, तो वे वहां स्थायी नश्वरताका कुसंस्कार निर्माण करेंगे । जिसके कारण शरीरमें वैसा ही नश्वरताका दुष्परिणाम होगा । और दीर्घायु प्राप्त होना असंभव हो जायगा ।

देखिये यदि कोई मनुष्य इस जगत्को क्षणभंगुर अशाश्वत और दुःखमय मानता है, तब तो वह इसी जगतमें अपने लिये क्यों कर दीर्घायु प्राप्त करना चाहेगा। यह जगत् दुःखमय होनेसे वह इसको छोडना ही चाहेगा। इसीलिये क्षणभंगुरवादियोंने कहा है कि, जगत्का त्याग किये विना ईश्वरकी प्राप्ति नहीं, जगतके त्याग किये विना सुख नहीं है।

पर वैदिकधर्मी तो विश्वको परमेश्वरका स्वरूप मानता है । इसलिये विश्वको वह छोडना नहीं चाहता । परमेश्वरको कौन मूर्ख छोड देगा ? विश्वरूप परमेश्वर है और वह वैदिक धर्मीको संसेव्य है । इसलिये अति दीर्घजीवन प्राप्त करके वह विश्वरूप ईश्वरको प्रसन्न करनेका यत्न करेगा। इसी कार्यके लिये इसको दीर्घ आयुष्य और विशेष कर्मशक्ति चाहिये। कर्मोंको करते हुए यह सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करेगा। इसका कारण यह है।

हम सर्वजन हितकारी श्रेष्ठतम कर्म करेंगे और सौ वर्षोंकी पूर्ण आयु प्राप्त करेंगे।

कर्मका संन्यास

यहां कई पाठक ऐसी शंका करेंगे कि मनुष्यको कर्म करने चाहिये ऐसा जो यहां वारंवार कहा जाता है, यदि यह सत्य माना जाय तो कर्मसंन्यासके लिये कहां अवकाश होगा ? इस शंकाके उत्तरमें निवेदन यह है कि संन्यासमें कर्मका अभाव होता है यह सत्य नहीं है। संन्यासमें भी बडे कर्म किये जाते हैं । श्री मच्छंकराचार्य जो स्वयं कर्म त्यागके प्रतिपादक थे उन्होंने भारतवर्षमें भ्रमण करके चारों दिशाओंमें अपने मठ स्थापन किये, अधर्मका तथा पाखंडका खंडन किया और धर्मकी स्थापना की । इस तरह अनेकानेक संन्यासी हुए हैं कि जिन्होंने जनतामें धर्म संस्थापनार्थ बडे बडे कर्म किये हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि सर्वजन हितके लिये आवश्यक कर्म करनेका निषेध संन्यासमें नहीं है ।

संन्यासमें व्यक्ति और कुटुंबका संबंध छूट जाता है और संपूर्ण मानवताके हितके लिये प्रचंड कार्य करनेका बडा कार्यक्षेत्र खुला होता है । इसलिये यह कोई न समझे कि संन्यासमें कर्म त्याग है । मनुष्य जबतक जीवित रहता है, तबतक उसको कर्म छोडना असंभव है । यह सिद्धान्त रूपसे प्रथम समझना चाहिये । इसीलिये कहा है कि–

यः प्रथमः कर्मकृत्याय जज्ञे । अथर्व ४।२४।६

' जो आत्मा प्रथमतः यहां कर्म करनेके लिये ही उत्पन्न हुआ है । ' यहां जन्म लेनेका हेतु कर्म करना ही है । इस लिये वेद द्वारा घोषणा की गई है कि–

कर्म कृण्वन्तु मानुषाः । अथर्व ६।२३।३

' मनुष्य यहां जन्म लेकर कर्म करें । ' कर्म करनाही मनुष्यके लिये योग्य है । शरीर भी मनुष्यको ऐसा मिला है कि जो सदा कर्म करता ही रहेगा । प्रत्येक इन्द्रियसे कर्म होता ही रहेगा । इसलिये जहां पांच कर्मेंद्रिय और पांच ज्ञान इंद्रिय कर्म करते ही रहेंगे, तो मनुष्यका कर्म न करना संभव किस तरह हो सकेगा ? इसलिये गीतामें कहा है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वं एष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
गी० ३।१०

' प्रजापति परमेश्वरने यज्ञ कर्मके साथ प्रजाजनोंको उत्पन्न किया और उनको उपदेश दिया कि, यही यज्ञ कर्म तुम्हारे लिये सुख देनेवाला और तुम्हारी उन्नति करनेवाला है । ' इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म तो मनुष्यके साथ उत्पन्न हुआ है वह इससे पृथक् नहीं हो सकता है । इसलिये यज्ञ कर्मका त्याग संभव नहीं है ।

इसलिये वैदिक धर्म यज्ञका धर्म है, कर्म करनेका धर्म है। इस कर्मके विषयमें और कर्मका त्याग करके सुखी होनेके विषयमें बडे भ्रम फैले हैं, उन सब भ्रमोंको पाठक अपने मनसे दूर फेंक दें और परम पुरुषार्थ जीवनभर करनेकी अभिलाषा मनमें धारण करें। यज्ञ कर्म अपने जीवनका धर्म है यह कदापि न भूलें। इसलिये कहा है—

स्वे शरीरे यज्ञं परिवर्तयामि। प्राणाग्नि उ० २
शरीरं यज्ञः। महा ना० उ० २०।१२
वाग्वै यज्ञस्य होता। चक्षुर्वै यज्ञस्याध्वर्युः।
प्राणो वै यज्ञस्योद्गाता। मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा।
बृ० उ० ३।१।१-६

'अपने शरीरमें यज्ञको परिवर्तित करना चाहिये। यह शरीर यज्ञमय है। यहां इस शरीरके यज्ञमें वाक्, चक्षु, प्राण और मन ये क्रमसे होता अध्वर्यु उद्गाता और ब्रह्मा है।' इस तरह यह शरीर यज्ञमय होना चाहिये।

इससे कोई यह न समझे कि प्रत्येक मनुष्यका शरीर यज्ञरूप हो चुका है। नहीं। प्रत्येक मनुष्यको अपना शरीर यज्ञरूप करनेका प्रयत्न करना चाहिये। यहां ये वाणी, नेत्र, प्राण और मन यदि यज्ञरूप न बने, तो ये ही राक्षस बनेंगे और ये ही अनर्थ मचायेंगे। इसलिये इनके कारण अपना ही नाश न हो इसलिये इनको परिशुद्ध करके इनसे यज्ञ हो, ऐसी परिस्थिति निर्माण करनी चाहिये। स्वभावसे इनकी प्रवृत्ति शुभ हो अशुभ न हो। ऐसा जब होगा, तब इस शरीरसे होनेवाला कर्म यज्ञरूप होगा। यह प्रयत्न मनुष्यको करना चाहिये। इस उद्देश्यसे कहा है—

अध्वरो वै यज्ञः। श. ब्रा० १।२।४।५
यज्ञो वै भुज्युः। यजु० १८।४२
यज्ञो भगः। य० ११।७
यज्ञो वै महिमा। य० ११।६
यज्ञो वै सुम्नम्। य० १२।६७
यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। य. १।१
यज्ञो वै विशः, यज्ञे हि सर्वाणि भूतानि विष्टानि।
श० ब्रा० ८।७।३
ब्रह्म हि यज्ञः। श० ब्रा० ३।१।४।१५
यज्ञो वै भुवनज्येष्ठः। कौ० ब्रा० २५।११
यज्ञो वा अवति। तां० ब्रा० ६।४।५
भैषज्ययज्ञा वा एते। तस्मादृतुसंधिषु प्रयुज्यन्ते।
ऋतुसंधिषु वै व्याधिर्जायते। गो० ब्रा० १।१९

'यज्ञका कर्म हिंसारहित होता है।' किसीकी हिंसा किसीको कष्ट इससे नहीं होते। 'यज्ञ सबको अन्न देता है।' इससे सबका पालन पोषण होता है। इस तरह यज्ञ सबका पालन करनेवाला है। अन्न उत्पन्न करना भी एक यज्ञ है। 'यज्ञ भाग्य बढानेवाला है।' ऐश्वर्य देनेवाला, धन बढानेवाला यज्ञ है। यज्ञसे मनुष्योंकी संगठना होती है और मनुष्योंके भाग्यकी वृद्धि होती है। 'यज्ञ मनुष्योंकी महिमा बढाता है' इस कारण यज्ञकर्ताकी स्तुति सब लोग करते हैं। उसका संमान करते हैं। 'यज्ञ ही सुख है।' यज्ञ करनेसे सबको सुख मिलता है। यज्ञसे मानव संघटित होते हैं, सुरक्षित होते हैं और सुखी होते हैं। इसलिये कहा है कि, 'यज्ञ श्रेष्ठतम कर्म है।' मनुष्यको इसीलिये उत्तमोत्तम कर्म करने चाहिये।

'प्रजाजन ही यज्ञ है क्योंकि यज्ञसे ही सब प्रजा सुखसे रहती है।' यदि प्रजामें यज्ञ भाव न रहा, तो वह प्रजा बिखरी होती है और उस बिखरे भावके कारण प्रजाका नाश ही होता है। इसलिये कहते हैं प्रजाका अस्तित्व ही यज्ञपर अवलंबित है। 'यज्ञ बडी शक्ति है, यज्ञ ज्ञान ही है।' जिसके पास ज्ञान होता है वहां ही शक्ति रहती है। ज्ञान ही शक्ति है। ज्ञान ही यज्ञ है अर्थात् यज्ञसे शक्ति बढ जाती है।

'यज्ञ सब भुवनोंमें श्रेष्ठ कर्म है।' जो सर्वजन हितकारी श्रेष्ठकर्म होगा वह यज्ञ है। 'यज्ञ संरक्षणका कार्य है।' संरक्षणसे सब प्रकारकी प्रगति हो सकती है। इसलिये संरक्षण भी एक बडा यज्ञ है। 'ऋतुके संधिकालमें व्याधियां होती हैं इसलिये उस समय उन रोगोंको दूर करनेके हेतुसे औषधियोंके हवनसे यज्ञ किये जाते हैं।'

पाठक यहां इन वचनोंमें देखेंगे तो उनको पता लगेगा कि व्यक्तिके अन्दरका ज्ञान बढानेसे लेकर मानव समाजकी

संघटना और उनके सुख बढानेके सब कार्य इस यज्ञकर्ममें समाविष्ट हो गये हैं।

इसलिये यज्ञ कर्म मानवोंका हित करनेका कार्य है। मनुष्यको सुख और आनंद चाहिये, नीरोगिता आरोग्य और दीर्घजीवन चाहिये, अन्न धन ऐश्वर्य और भाग्य चाहिये, संरक्षण और अभ्युदय चाहिये। ये सब कर्म करनेसे ही होनेवाले हैं। मनुष्य योग्य कर्म करे और अपना अभ्युदय सिद्ध करे।

कर्मसु चामृतम्।

कर्ममें अमृत है। जो अमृत चाहते हैं वे कर्म करें। श्रेष्ठतम कर्म करनेका ऐसा महत्त्व है। इसलिये मनुष्य जीवन रहनेतक श्रेष्ठकर्म करता रहे, दीर्घ जीवन प्राप्त करे, आनन्दसे रहे। यही वैदिक धर्मका ध्येय, अखिल मानवजातिका परमकल्याण, कर्मयोगसे ही साध्य होनेवाला है।

प्रश्न

१ मनुष्य जीवनका उद्देश्य क्या है?
२ देवताके वर्णनमें मनुष्यके लिये किस तरह आदर्शकी प्राप्ति होती है?
३ ' आत्मा ' पदका क्या अर्थ है और वह क्या बताता है?
४ ' क्रतु और शतक्रतु ' कौन है?
५ कर्मका तत्त्व क्या है?
६ वेदमें बुद्धि और कर्मवाचक एक ही ' धी ' पद क्यों आया है?
७ कृतयुग किस तरह निर्माण किया जा सकता है?
८ कर्म किस तरह करना चाहिये? कर्मयोगमें ' योग ' पदका अर्थ क्या है?
९ श्रेष्ठतम कर्मकी व्याख्या कैसी होती है?
१० कर्म, अकर्म और विकर्मका स्वरूप क्या है?
११ प्रशस्ततम कर्म किस कर्मको कहते हैं?
१२ सौ वर्षकी आयु कहांसे कहांतक होती है?
१३ जीवन गणमें किनका समावेश होता है?
१४ मनके निश्चयका महत्त्व क्या है?
१५ नरको कर्मका दोष नहीं लगता इसका कारण क्या है?
१६ जन, लोक, मनुष्य और नरके लक्षण क्या हैं?
१७ कर्म त्याग क्यों असंभव है?
१८ मृत्युको दूर किस तरह हम कर सकते हैं?
१९ आत्मघातकी कौन है? आत्मोद्धारक कौन है?
२० गुण्डोंके लिये कहां स्थान हो?
२१ दैवी और आसुरीवृत्तीके लक्षण कौनसे हैं?
२२ दीर्घ आयु क्यों चाहिये?
२३ आयुके आश्रयसे क्या किया जाता है?
२४ कुविचार क्यों दूर करने चाहिये और सुविचार क्यों मनमें स्थिर करने चाहिये?
२५ कर्म संन्यास होनेकी संभावना है वा नहीं?
२६ यज्ञके लक्षण क्या हैं?
२७ कर्ममें अमृत किस तरह रहता है?
२८ मनुष्यकी आयु कितनी होती है?
२९ मनुष्य जीनेकी इच्छा किस समय कर सकता है?
३० यज्ञसे सब प्राणी किस तरह सुखसे रह सकते हैं?

व्यवहार और परमार्थसाधक वेद

वेद जैसा व्यवहारके साधन करनेका उत्तम मार्ग बताता है वैसा ही परमार्थके साधनका भी उत्तम मार्ग बताता है। इसको जनताके सामने रखनेका कार्य वैदिक-व्याख्यान-मालासे किया जा रहा है। यदि पाठक इन व्याख्यानोंको पढेंगे तो उनको पता लग जायगा कि एक एक वेदका पद और वाक्य उत्तम व्यवहार उत्तम रीतिसे किस तरह करना चाहिये, इसका बोध देता है और वही परमार्थका साधन किस तरह करना चाहिये यह भी दर्शाता है। इसलिये ये व्याख्यान केवल पढकर ही छोडनेके लिये नहीं हैं, परंतु इनका प्रत्येक वाक्य अभ्यास करने और वारंवार मनन करने योग्य है। इस समय ये व्याख्यान तैयार हैं—

१ मधुच्छन्दा ऋषिका अग्निमें आदर्श पुरुषका दर्शन।

२ वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त।

३ अपना स्वराज्य।

४ श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति और सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घायु।

प्रत्येक व्याख्यानका मूल्य ।=) छः आने और पैकिंग समेत डा० व्य० =) दो आने हैं। प्रत्येकके लिये आठ आने भेजनेसे ये मिल सकते हैं। आगेके व्याख्यान छप रहे हैं-

५ व्यक्तिवाद और समाजवाद।

६ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

इस तरह अनेक विषयोंपर ये व्याख्यान होंगे। इन विषयोंका मनन और प्रचार जगत्में होना चाहिये। समाजकी रचना इन सिद्धान्तोंपर होनी चाहिये। तब आज कलकी अनेक समस्याएँ और कठिनताएँ दूर हो सकती हैं और लोगोंको अपूर्व शांति मिल सकती है।

परमार्थ साधनके लिये विश्व छोडनेकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत विश्वकी सेवा करते हुए ही परमार्थ साधन हो सकता है यह वेदका आदेश है।

पाठक इन व्याख्यानोंका उत्तम अध्ययन, मनन और उत्तम अनुष्ठान करें, इसलिये इन व्याख्यानोंके अन्तमें प्रश्न भी दिये हैं। इन प्रश्नोंका उत्तर जो दे सकते हैं उनका व्याख्यानका मनन ठीक हुआ ऐसा समझ सकते हैं।

विना प्रयत्न किये ही वैदिक धर्म आचरणमें नहीं आ सकेगा, वह केवल शब्दोंमें ही रहेगा, केवल शब्दोंमें रहा धर्म उत्तम सुख नहीं देता। वैदिक धर्मसे व्यक्ति और समाज एवं राष्ट्र व्यवस्थाका सुधार हो जाय, इसलिये हरएकको बडा प्रयत्न करना चाहिये।

ऐसा प्रयत्न करनेवाले हों तो प्रचारार्थ उनकी सहायता चाहिये।

निवेदनकर्ता

श्री. दा. सातवलेकर,

अध्यक्ष-स्वाध्याय-मंडल

आनन्दाश्रम

किल्ला-पारडी (जि. सूरत)

मुद्रक और प्रकाशक- **व० श्री० सातवलेकर**, बी. ए., भारत-मुद्रणालय, आनन्दाश्रम, किल्ला-पारडी (जि. सूरत)



वैदिक व्याख्यान माला - पंचम व्याख्यान

व्यक्तिवाद और समाजवाद

लेखक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

स्वाध्याय-मण्डल, 'आनन्दाश्रम', किल्ला-पारडी, जि. सूरत

मूल्य छः आने

स्पर्धा और युद्ध

इस समय कलियुग चल रहा है। यह कलियुग अर्थात् कलहका युग है। नाना प्रकारके नये नये विवाद यहां उत्पन्न हो रहे हैं और वे विविध प्रकारके युद्धोंमें परिणत होते हैं। यदि वैदिक धर्मका समन्वयका सिद्धान्त इस समयमें लोगोंके समझमें आ जायगा, तो ये सब झगडे मिट जांयगे और लोग आनन्दप्राप्तिके मार्गपर सामूहिक रूपसे लग जांयगे।

इसलिये इस निबंधमें व्यक्तिवाद और समाजवादका वैदिक तत्त्वज्ञानपर अधिष्ठित समन्वय करनेका मार्ग बताया है। यह जनताका मार्गदर्शन करेगा ऐसी आशा है।

स्वाध्याय-मण्डल

किल्ला-पारडी (जि. सूरत)　　　　　　लेखक

१ । ६ । ५२

वैदिक व्याख्यान माला
पांचवां व्याख्यान

ॐ

व्यक्तिवाद और समाजवाद

अनेक वाद।

इस समय जगत्में व्यक्तिस्वातंत्र्यवाद, समाजवाद, राष्ट्रीय समाजवाद, साम्यवाद ऐसे अनेक वाद उपस्थित हुए हैं, और उनके अनुयायियोंने अपने अपने गुट् बनाकर दूसरोंका नाश करनेका प्रयत्न शुरू किया है, इसलिये बडे झगडे और बडी लडाइयां उत्पन्न हुई हैं और ये लडाइयां मानव जातीका संहार करेंगी, ऐसा प्रतीत हो रहा है।

मम--सत्यं।

आश्चर्यकी बात यह है कि युद्धके अनेक नामोंमें ' मम सत्यं ' यह एक नाम वैदिक कोश निघण्टुमें दिया है। ठीक यह नाम आजकलके इन युद्धोंके लिये प्रयुक्त किया जा सकता है। ' मम सत्यं ' का अर्थ ऐसा है कि ' जो मैं कहता हूं वही सत्य है, दूसरा जो कहता है वह सत्य नहीं है '। मेरा पक्ष सत्यपक्ष है, दूसरेका पक्ष असत्यका पक्ष है, इसलिये उसका पूर्ण नाश करना चाहिये। ऐसा नाश करना चाहिये कि वह फिर न उठ सके। यह स्पर्धा इन पक्षोंमें आज चल रही है। प्रत्येक वादका पक्ष ' मेरा सत्य ' है ऐसा ही कहता है और दूसरेका नाश करनेके उपाय ढूंढता है। इस कारण जो नाशके उपाय पचास वर्षोंके पूर्व नहीं थे, वे भयंकर विनाशके साधन आज मनुष्योंके पास उपस्थित हुए हैं और वे बढाये भी जा रहे हैं। इस ' मम सत्यं ' का प्रयोग वेदमंत्रमें देखिये--

त्वां जना ममसत्येष्विन्द्र
संतस्थाना वि ह्वयन्ते समीके
अत्रा युजं कृणुते यो हविष्मान्।
नासुन्वता सख्यं वष्टि शूरः॥
(ऋ० १०।४२।४; अथर्व० २०।८९।४)

' हे इन्द्र ! लोग (मम सत्येषु) युद्धोंमें खडे होके अपने विजयके लिये तुझे सहायार्थ बुलाते हैं। वह शूर वीर इन्द्र उदार दाताको ही अपना मित्र करता है, परंतु जो यज्ञ करनेवाला नहीं होता, उससे मित्रता करनेकी इच्छा भी नहीं करता। '

इस मंत्रमें ' मम सत्यं ' पद बहुवचनमें है, ' युद्धोंमें ' ऐसा उसका अर्थ है। ' जनाः ममसत्येषु संतस्थानाः विह्वयन्ते ' लोग मेरा मत सत्य है ऐसा कहके अपनी अपनी पृथक् पृथक् संघटना करते हैं, अपने अपने अलग अलग गुट बनाते हैं और प्रत्येक पक्ष अपने पक्षके विजयके लिये अपनी सहायताके लिये इन्द्रको बुलाता है। इस मंत्र में ' ममसत्येषु ' पद बहुवचनमें है इसलिये ये युद्ध अनेक हैं यह स्पष्ट है। मेरा पक्ष सत्य है, मेरा मत सत्य है, ऐसा कहनेवाले अनेक पक्ष होंगे, तभी ' ममसत्येषु ' यह बहुवचनी प्रयोग सार्थ होगा। प्रत्येक युद्धके लिये दो पक्षोंका होना अत्यावश्यक है। दो पक्ष उपस्थित न होंगे, तो संघर्षही नहीं होगा। इसलिये प्रत्येक युद्धमें दो पक्ष हैं और ' ममसत्येषु ' यह बहुवचनी पद कमसे कम तीन युद्धोंका तो भाव बताता ही है। अर्थात् तीन युद्धोंके लिये छः पक्ष प्रतिपक्ष चाहिये और यह संख्या कमसे कम है।

इस मंत्रसे स्पष्ट होता है कि ' ममसत्यं ' ' मेरा मत सत्य है ' ऐसा कहनेवाले पक्ष कमसे कम छः तो होने चाहिये और उनमें कमसे कम तीन युद्धके प्रसंग तो उत्पन्न होने चाहिये। ऐसे पक्ष प्रतिपक्ष उत्पन्न होनेपर और उनमें युद्ध छिडनेपर ये लडनेवाले अपना विजय चाहते ही होंगे, ऐसे समयमें लडनेवाले वीर अपने विजयके लिये इन्द्र को बुलाते हैं। बुलाया जानेपर यह शूरवीर इन्द्र किस

पक्षके पास जाता था यह हम इसी मंत्रमें अब देखेंगे—

१ यः हविष्मान् (तं) शूरः युजं कृणुते ।
२ असुन्वता सख्यं न वाष्टि ।

(१) जो यज्ञोंमें अन्न लाकर उसका यथेच्छ दान करता है, उसके साथ यह शूरवीर मित्रता करता है और उस मित्रकी सहायतार्थ वह सत्वर जाता है। (२) पर जो यज्ञ नहीं करता उसकी सहायता वह नहीं करता और युद्धमें उसकी सहायता करनेके लिये भी नहीं जाता।

यज्ञ करनेवालेकी सहायता

यज्ञका अर्थ है (१) श्रेष्ठ पुरुषोंका सत्कार करना, (२) आपसकी संघटना करना और (३) दीनोंकी सहायता करना। ये त्रिविध कर्म यज्ञके हैं। इन त्रिविध कर्मोंको जो करता है वह मानो यज्ञ करता है। और जो इन त्रिविध कर्मोंको नहीं करता, वह यज्ञ नहीं करता। यज्ञ करनेवालेकी सहायता इन्द्र करता है। ' ममसत्यं ' नामक झगडेमें इन्द्र उसकी सहायता करता है कि, जो श्रेष्ठोंका सत्कार, आपसकी संघटना और दीनोंकी सहायता करता रहता है। इन सर्वजन हितकारी कर्मोंको करनेवालेकी ही सहायता की जाती है। इसलिये ऐसे श्रेष्ठ कर्म करते रहना मनुष्योंके लिये लाभदायी है। यहां युद्धमें किसकी सहायता प्रभु करता है और किसकी नहीं यह स्पष्ट हुआ।

' मेरा मत सत्य है ' (मम सत्यं) यह अहंकार वेदसे लेकर इस समय तक चला आया है। व्यक्तिवादी, समाजवादी, राष्ट्रीय समाजवादी और साम्यवादीके रूपसे वही ' मम सत्यं ' युद्ध शुरू है। आज ये लोग क्या कहते हैं देखिये—

व्यक्ति स्वातंत्र्यवाद

व्यक्ति स्वातंत्र्यवादी कहते हैं कि, व्यक्तियोंका समाज तथा राष्ट्र बनता है। प्रत्येक व्यक्ति उन्नत हुई तो सब समाज और सब राष्ट्र उन्नत होता है, इसलिये अपनी उन्नतिका साधन करनेके लिये प्रत्येक व्यक्तिको पूर्ण स्वातंत्र्य मिलना चाहिये। परतंत्र व्यक्ति अपनी उन्नति किस तरह कर सकती है? मनुष्यकी सब शक्तियोंका पूर्ण विकास होना चाहिये और ये सब विकसित शक्तियां मनुष्यके स्वाधीन रहनी चाहिये, इतना ही नहीं प्रत्युत ये सब विकसित शक्तियां मानवताका प्रकाश करनेमें लगनी चाहिये। मनुष्यको स्वतंत्रता न रही, तो यह शक्तिविकास नहीं हो सकता। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको पूर्ण स्वातंत्र्य मिलना चाहिये।

प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र रीतिसे जन्मती है, स्वतंत्र रीतिसे मरती है। जन्मते समय वह किसीसे पूछती नहीं और न मरनेके समय वह किसीसे पूछती है। स्वतंत्रता पूर्वक आती है और जाती है। प्रत्येकका कर्म उसके साथ रहता है। प्रत्येक जीव व्यक्तिशः तथा स्वभावतः स्वतंत्र है। प्रत्येककी निद्रा और जाग्रति स्वतंत्र होती है, प्रत्येकको भूख और प्यास स्वतंत्र रहती है, रोगी तथा निरोगी अवस्था प्रत्येककी स्वतंत्र है। एकके अन्न भक्षणसे दूसरेका पेट नहीं भर सकता। पुत्र मित्र भाई आदि नातेके संबंध औपचारिक हैं, ये संबंध सत्य मानना यही भ्रम है। जलमें नाना पात्र पडे हैं, उनमेंसे कुछ पात्र एक स्थान पर आगये और मिल गये, तो उनका संबंध एक नातेका नहीं माना जा सकता। अतः प्रत्येक जीव स्वतंत्र है। कौन है किसका मित्र और किसका भाई। यह नातेका संबंध मिथ्या भ्रम है। प्रत्येक व्यक्ति स्वरूपतः विभिन्न है। इसलिये उनकी विभिन्नताका स्वीकार करके ही उन्नतिका विचार करना चाहिये। इसलिये हम व्यक्तिकी पूर्ण स्वतन्त्रता मानते हैं और प्रत्येक व्यक्तिको स्वतंत्र रीतिसे अपनी उन्नति करनेके लिये पूर्ण अधिकार देते हैं।

यह संमति व्यक्तिस्वातन्त्र्यवादियोंकी है। यह व्यक्तिस्वातंत्र्यवादियोंका ' ममसत्यं ' है। अब समाजवादियोंकी संमति देखिये—

समाजवादियोंकी संमति

समाजवादियोंका ' ममसत्यं ' अर्थात् उनकी संमति देखिये। समाजवादी कहते हैं कि जिस समय व्यक्तिकी ज्ञान और कर्मशक्ति बढ जाती है, बुद्धि और प्रबंधशक्ति बढ जाती है, उस समय उसके पास धन आदिका संचय अधिक होता है। वह पूंजीपती बनकर बडे बडे कारखाने निर्माण करता है और अधिक धनका संचय करने लगता है। धनशक्ति ऐसी होती है कि जो लोभ बढाती है और लोभ बढ जानेसे स्वार्थ इतना बढ जाता है कि, उसकी कोई सीमा नहीं रहती। वह धनी व्यक्ति अपने धनके बलसे अनेक उपभोगके साधन अपने अधिकारमें कर लेता है और दूसरेको इन भोगोंसे वंचित रखता है। इसलिये

वर्गकलह निर्माण होता है। धनी और निर्धनके अन्दर द्वेष निर्माण होता है। इसलिये सब धन और कारखानोंका समाजीकरण करना आवश्यक होता है। समाजवाद ही इन दुःखोंको दूर कर सकता है, कोई दूसरा उपाय नहीं है। धनका अथवा किसी भी शक्तिका केन्द्रीकरण नहीं होना चाहिये। विकेन्द्रीकरण से ही समाज सुखी हो सकता है। व्यक्तिको पूर्ण स्वतंत्र करनेसे ज्ञान, शासन, धन और कर्म-शक्ति आदि शक्तियोंका केन्द्रीकरण अनिवार्य ही है। अतः समाजवादकी दृष्टिसे ही समाजव्यवहार पद्धतिकी निर्मिति होनी चाहिये। व्यक्तिको पूर्ण स्वातंत्र्य देनेसे शक्तिका केन्द्री-करण अनिवार्य है। वस्तुतः समाज ही मुख्य है। व्यक्ति समाजकी सेवाके लिये रहे, पर वह अधिक स्वतंत्र न हो।

व्यक्तिकी स्वतंत्रता माननेसे संघशक्ति नष्ट होती है। बिखरी हुई व्यक्तियां, अपने स्वातंत्र्यमें मस्त होती हैं और अपनी संघटना नहीं होने देती। संघशक्तिका बडा महत्व है। और यदि संघटनाका बल प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो व्यक्तिके स्वातंत्र्यपर नियमन रखना चाहिये। व्यक्ति कितनी भी समर्थ हुई, तो भी वह समाजके सांघिक बल की बराबरी नहीं कर सकती। इसलिये व्यक्तिको बहुत स्वातंत्र्य देना सर्वथा अयोग्य है।

समाजवादी पक्षका मत यह है कि समाजका हित साधन करनेके लिये व्यक्तिपर नियमन करना अत्यंत आवश्यक है। समाजहित मुख्य है। समाज सुखी हुआ तो व्यक्ति का सुख उसीमें हो जाता है। समाजवादसे सांघिक बल बढता है और समाजका सुख सामुदायिक आयोजनाओंसे बहुत बढाया जा सकता है। इसलिये समाजवादकी पद्धति सेही राज्यशासन होना चाहिये।

राष्ट्रीय समाजवादके तत्व भी ऐसे ही हैं। समाजके स्थानपर ये ' राष्ट्र ' बोलते हैं।

साम्यवादका मन्तव्य

साम्यवाद का मुख्य तत्व सबकी समता व्यवहारमें लाना है। जैसा सेवक और स्वामी। ये दोनों मनुष्य हैं, दोनोंके लिये मानवी जीवनकी आवश्यकताएं समान रीति-से चाहिये। सेवक चार पांच रोटियां खाकर उनका पाचन कर सकता है, परंतु स्वामी आधी रोटी भी खा नहीं सकता। परंतु स्वामीका वेतन पांच हजार रुपये मासिक होता है और सेवक के लिये पचास रु. भी मिलना कठिन होता है। यह विषमता ठीक नहीं है। इस विषमताके कारण मानवताका विकास नहीं हो रहा है। इसलिये जहां तक हो सके वहां तक सब मानवोंकी समता व्यवहारमें स्थापन करनी चाहिये।

मनुष्यको रहनेके लिये अच्छा स्थान चाहिये, भोजनके लिये पुष्टिकारक अन्न चाहिये, ओढने और पहननेके लिये ऋतुके अनुसार योग्य वस्त्र चाहिये, योग्य शिक्षण, ज्ञान प्राप्त करनेके साधन सबको मिलने चाहिये, धन न होनेके कारण किसीको ज्ञान प्राप्त नहीं हो सका, ऐसा नहीं होना चाहिये, रोग होनेपर औषध मिलना चाहिये, योग्य समय में विश्राम मिलना चाहिये, वृद्ध अवस्थामें जो आवश्यक-ताएं होंगी, उनकी व्यवस्था होनी चाहिये। इस तरह सब को यह सब सहजहीसे मिले ऐसा प्रबंध राज्यशासन द्वारा होना चाहिये। कोई मनुष्य मानवी आवश्यकताओंसे वंचित नहीं रहना चाहिये। मानवकी सब आवश्यकताएं उसको अवश्य मिलनी चाहिये। यह साम्यवादियोंका मत है और इसको प्रत्यक्ष करनेका यत्न वे कर रहे हैं।

इसमें व्यक्तिके लिये पृथक् सत्ता नहीं है। राष्ट्रका एक अवयव यह व्यक्ति है। यह राष्ट्रके लिये जीवित रहती है। इस को राष्ट्र सेवाके कार्य अनिवार्य रूपसे करने ही चाहिये। कोई व्यक्ति पूर्णरूपसे स्वतंत्र नहीं है। राष्ट्रहित करनेके कार्य उत्तम रीतिसे निभानेके लिये व्यक्ति पूर्णतया पर-तन्त्र है।

इस तरह इन पक्षोंके ये मत हैं और इनके आग्रहके कारण इनके अन्दर बडे वैमनस्य फैल रहे हैं और जगत्में ये एक दूसरेका पूर्ण नाश करनेके लिये कटिबद्ध हुए दीखते हैं। यही इनका ' ममसत्यं ' है। ' मेरा मत ही सत्य है, दूसरेका असत्य है ' ऐसा प्रत्येक कहता है। इसलिये नाना प्रकारके झगडे उत्पन्न होते हैं। ये सब पक्ष वस्तुतः मानवजातिका कल्याण करनेकी इच्छा करते हैं, उनके कार्यक्रममें जनताके कल्याण करनेका कुछ न कुछ कार्यक्रम रहता भी है। परंतु इनमें अपने पक्षका दुराग्रह और दूसरे के पक्ष तिरस्कार रहता है। इसलिये ये दूसरेके मतका विचार नहीं करते और अपना ही आग्रह चलाते हैं। यही मानसिक वृत्ती ' मम सत्यं ' इस वैदिक पदमें है और यही मनोवृत्ती सब झगडोंका मूल है। इसको देखनेसे वैदिक मंत्रकी सचायी ही दिखाई देती है। ' ममसत्यं '

इस पदका युद्धवाचक भाव इस तरह इस विश्वमें प्रत्यक्ष दीख सकता है।

यहां तक हमने विश्वमें प्रचलित नाना प्रकारकी मत प्रणालियोंके कार्यक्रम देखे। सबमें ' व्यक्तिवाद और समाजवाद ' का संघर्ष ही है। इसको देखकर हम विचार करना चाहते हैं कि, इस संघर्षका निवारण वेदने किस रीतिसे किया है।

संघ व्यक्तिका आश्रय है

वेदमें ' जगत्यां जगत् ' (वा० यजु० ४०।१) समष्टिके आधारसे व्यष्टि रहती है। इस कथनमें आधार देनेवाली समष्टि है और आश्रय लेकर रहनेवाली व्यक्ति है। अतः समष्टी श्रेष्ठ व व्यक्ति गौण है ऐसा कहा है। [इसका विवरण " वैदिक व्याख्यान माला। द्वितीय व्याख्यान " में ' संघात्तिका अधिकार ' नामक विवेचनके प्रसंगमें विशेष रूपसे किया है।] व्यक्ति समाजके आधारके विना रह नहीं सकती। व्यक्ति मरनेवाली है और समाज चिरंजीव रहता है। इसलिये समाजके हित साधन करनेके लिये सब धन हैं और व्यक्ति भी समाजकी सेवा करनेके लिये ही है। इस तरह समाजकी शाश्वती और व्यक्तिकी नश्वरताका वर्णन किया है और बताया है कि समाज ही व्यक्तिके लिये सेवा करनेके योग्य है।

इसी मंत्रभागका अधिक विवेचन करनेके उद्देश्य वेदने आगे कहा है—

व्यक्ति और संघ

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्यां रताः ॥ ९ ॥
अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात्।
इति शुश्रम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १० ॥
संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वाऽसंभूत्याऽमृतमश्नुते ॥ ११ ॥
(वा० यजु० ४०, काण्व ४० ई० उ०)

इन मंत्रोंमें व्यक्ति और समाजके संबंध कैसे होने चाहिये इसका उत्तम वर्णन है। व्यक्ति और समाजके संबंध कैसे होनेसे बिगाड होता है और कैसे होनेसे सुधार होता है इसका विचार इन मंत्रोंमें किया गया है। इस कारण हमारे आजके विषयका स्पष्टीकरण करनेवाले ये मंत्र हैं। इनका अर्थ लिखनेके पूर्व इनमें आये पदोंका अर्थ प्रथम निश्चित करना चाहिये। इसका कारण यह है कि बहुत विद्वानोंने इनके अर्थ कुछ विलक्षण किये हैं। इस कारण प्रथम हम इन मंत्रोंके मुख्य पदोंके अर्थोंका निश्चय करेंगे। इनमें मुख्य विषयका वर्णन करनेवाले पद ये हैं।

असंभूति- (मंत्र ९)— संभूति
असंभव (,, १०)— संभव
विनाश (,, ११)— संभूति
जगत् (,, १)— जगती

इस तालिकासे यह स्पष्ट होता है कि ' संभूति, संभव और जगती ' ये पद एक अर्थ बतानेवाले हैं। और 'असंभूति, असंभव, विनाश और जगत्' ये पद एक अर्थ बतानेवाले हैं।

' जगत् ' एक वस्तुका नाम है और उसी वस्तुकी समष्टिका अथवा संघका नाम ' जगती ' है। ' जगतां समाहारः जगती ' अनेक जगतोंका संघ जगती कहलाता है। ' जगत् ' उसको कहते हैं कि जो ' गच्छति ' हलचल करता है, गति करता है। ऐसे गतिमानों के संघका नाम ' जगती ' है। एक व्यक्ति और उनका संघ यह भाव ' जगत् और जगती ' का है। ' जगत्यां जगत् ' का अर्थ ऐसा है कि ' समाजके आधारसे व्यक्ति रहती है। ' यह मंत्र भाग इस अध्यायके पहिले मंत्रमें है। और इसी व्यक्ति और संघके तत्वका अधिक विवरण करनेके लिये ये मंत्र इसी अध्यायमें आगे आगये हैं। अब देखना है कि इस तत्वका अधिक स्पष्टीकरण ये मंत्र किस तरह करते हैं।

संघ बनाकर रहना

' संभूति ' का अर्थ ऐसा होता है! (सं—) मिलकर एक होकर, संघ बनाकर (भूति) रहना, होना, बढना। मिलकर रहना, एक होकर रहना, संघ बनाकर रहना, समाज बनाकर बढना। यह संभूतिका मूल अर्थ है। यह अर्थ पूर्वोक्त ' जगती ' के साथ मिलता जुलता है। जो अर्थ ' संभूति ' का है वही अर्थ 'संभव ' का है क्योंकि दोनोंमें एक ही धातु और एक ही उपसर्ग है। अतःधात्वर्थ एक ही है।

' संभव ' शब्दका अर्थ ' उत्पत्ति, जन्म ' ऐसा प्रसिद्ध है। ' कुमारसंभव ' का अर्थ कुमारका जन्म है। यहां भी जन्मका अर्थ ' पंचतत्व, पंच कर्मेंद्रिय, पंच ज्ञानेन्द्रिय,

अन्तःकरणचतुष्टय, आत्मा ये प्रत्येक बिखरे थे, वे एक होकर इस कुमारके रूपसे जन्मे हैं। यहां भी बिखरे तत्वोंकी संघटना ही है जहां जन्म होता है, जहां नवजीवन प्रकाशित होता है, वहां ऐसी 'अनेक बिखरी शक्तियोंकी संघटना ही प्रथम होती है पश्चात् उस संघके कारण नवजीवन प्रकट होता है । संभूतिमें प्रथम शक्तियोंका संघटन और पश्चात् नवजीवनका संचार है । विश्वका संभव (जन्म उत्पत्ति) होनेमें अथवा बालक का संभव (जन्म) होनेमें यही तत्व है । प्रथम बिखरी शक्तियोंकी संघटना और पश्चात् नवजीवन प्राप्त होकर प्रकट होना है ।

मानव संघ में भी यही बात है, प्रथम (सं) एक होकर (भू) रहना और पश्चात् नवजीवन के स्फुरणसे प्रकाशित होना ।

'संभूय समुत्थान' का अर्थ संघ करके उठना, अथवा संघसे शत्रुपर आक्रमण करना । इसलिये ये पद (१) सैनिकोंके सांघिक आक्रमण के लिये तथा (२) व्यापारियोंके सांघिक व्यवहारके लिये अथवा (३) कर्मचारियोंके संघोंके लिये प्रयुक्त होते रहे हैं । स्मृति शास्त्रोंमें इस अर्थमें ये पद प्रयुक्त हुए हैं इसका पदशः अर्थ (सं-भूय) एक होकर, मिलकर संघ बनाकर, (समुत्थान) उठना, कार्य करना ऐसा है । तात्पर्य ' **संभूति** तथा **संभव** ' का अर्थ संघबना कर रहना है । जो अर्थ ' **जगती** ' पदमें हमने देखा है वही अर्थ ' संभूति ' में है । ' संभव ' का भी वही अर्थ है।'अ-संभूति और असंभव'का अर्थ जो संभूति और संभव नहीं वह असंभूति और असंभव है । संघ बनाकर न रहना, अर्थात् व्यक्तिशः रहना व्यक्तिका पृथक् पृथक् रहना है ।

अब एक पद रहता है वह है'**विनाश**'। यह पद 'अ— सं- भूति ' के अर्थमें यहां प्रयुक्त हुआ है । ' असंभूति ' का अर्थ ' व्यक्तिकी पृथक् पृथक् स्थिति ' है। यह असंघटनाकी अवस्था है, इसीका नाम ' **विनाश** ' है । क्योंकि व्यक्ति विनाशको प्राप्त होती है और संघ अजरामर रह सकता है। हिंदु व्यक्ति मरती है परंतु हिंदु समाज लाखों वर्षोंसे जीवित है । असंघटनाके जीवन का नाम ' विनाश ' देकर यहां बडा ही बोधप्रद सिद्धान्त वेदमंत्रने बताया है, कि मानवों का अमरत्व संघभावसे है और व्यक्ति बिखरी रहने लगी, तो उस व्यक्तिका नाश ही होना है । इतने विवरण के पश्चात् अब वही तालिका देखिये कैसी परिपूर्ण अर्थवाली बनी है ।

असंभूति	संभूति
असंभव	संभव
विनाश	(अमरत्व)
जगत्	जगती
व्यक्ति	समष्टि, संघ

इस तालिकासे यह स्पष्ट हुआ कि ' असंभूति ' का अर्थ ' व्यक्ति, असंघटित व्यक्ति ' और ' संभूति ' का अर्थ ' संघ, संघटित समाज ' है । इन पदोंके अर्थोंके विषय में इतना स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता इसलिये यहां पडी कि कई विद्वानोंने इन पदोंके अर्थ विलक्षण किये हैं । वे अर्थ यहां नहीं हैं, यह प्रथम विदित होना चाहिये ।

उदाहरणार्थ श्रीमान् परमपूजनीय शंकराचार्यजीने ' संभूति-असंभूति ' का पहिले मंत्रमें कुछ अर्थ किया, पर वह तीसरे मंत्रमें अनुकूल न हुआ, इसलिये उन्होंने लिखा कि '**अत्र अकारलोपो द्रष्टव्यः**' अर्थात् यहां ' संभूति' के स्थान पर ' असंभूति ' और ' असंभूति ' के स्थान पर ' संभूति ' लेकर अर्थ करना चाहिये। दूसरे कई टीकाकारों ने इसका खंडन भी किया है । ये दोनों हमारे लिये सदा वंदनीय ही हैं, पर इस तरह मंत्रका अर्थ ठीक तरह नहीं हो सकता । वस्तुतः इन पदोंका अर्थ करनेके लिये इसी सूक्तके अन्तर्गत प्रमाण ही लेने चाहिये । वे हमने लिये हैं। प्रथम मंत्रमें ' **जगत्यां जगत्** ' ये दो पद हैं । इन दो पदोंसे जगत् की व्यवस्था बताई है। जगत् कैसा है 'जगतीके अधिकरण में रहनेवाला जगत् है ' । जगतीके आधार पर रहनेवाला जगत् है । जगत् एक व्यक्ति है और अनेक जगतों की समष्टि जगती है । अर्थात् समष्टिके आधारसे व्यष्टि रहती है । यह सिद्धान्त प्रथम मंत्रमें स्थिर किया, और पश्चात् उसी सिद्धान्त का अधिक स्पष्टीकरण करने के लिये ये तीन मंत्र दिये हैं ।

यह अध्यायके अन्दरका ही प्रमाण है और इसकी ओर ध्यानपूर्वक देखनेसे ' व्यक्ति और समष्टि ' का विचार यहां है यह स्पष्ट हो जाता है । अतः यह अर्थ लेकर ही अर्थ करनेसे मंत्रोंका सत्य अर्थ प्रकट हो जाता है और पश्चात् संदेह नहीं रह सकता । इसलिये इतने स्पष्टीकरणकी यहां आवश्यकता हुई ।

अब इन अर्थोंको लेकर पूर्वोक्त तीनों मंत्रोंका अर्थ देखिये। ये अर्थ देखनेके पूर्व इस समय तक किये विवरणके अनुसार निम्नलिखित पदोंके निम्न लिखित अर्थ हमने यहां लिये हैं-

१ संभूति, संभवन = (सं) एक होकर (भूति,भवन) रहना, होना, बढनेका कार्य करना, संघीय जीवन व्यतीत करना । समाजभावसे रहना । समाजवाद ।

२ असंभूति, असंभव-एक होकर न रहना,संघभावसे नहीं रहना। अकेले अकेले पृथक् पृथक् रहना। व्यक्ति स्वातंत्र्यवाद मानना । इसीका नाम 'विनाश' है क्योंकि व्यक्ति मरती है। 'असंभूति तथा विनाश' यहां एक ही भाव बतानेवाले दो पद हैं।

ये अर्थ स्वीकार करके अब पूर्वोक्त मन्त्रोंका अर्थ नीचे देते हैं—

१ (ये असंभूतिं उपासते) जो व्यक्ति स्वातंत्र्यवाद का अवलंबन करते हैं वे अधःपतन को प्राप्त होते हैं। (८)

२ परंतु जो समाजवादमें रमते हैं वे उससे भी अधिक नीचे गिरते हैं। (९)

३ समाजवाद का एक विलक्षण फल है और व्यक्ति स्वातंत्र्य का भी एक विलक्षण फल है। ऐसा हमने ज्ञानीयोंसे सुना है। जो इस विषयकी चर्चा करनेमें प्रवीण हैं। (१०)

४ समाजवाद और व्यक्तिवाद ये दोनों साथ साथ रहे तो लाभदायक होते हैं। व्यक्तिवादके अनुष्ठानसे व्यक्तिके कष्ट दूर किये जाते हैं और समाजभावसे अमरत्व की प्राप्ति होती है। (११)

यहां जो अनुवाद किया है। वह आजकी परिभाषा में भावानुवाद है। शब्दशः अनुवाद देखना चाहेंगे वे हमारे ईश उपनिषद् में देखें।

असंभूतिके उपासक

कई लोग असंभूतिके पूजारी होते हैं। और कई संभूतिके उपासक होते हैं अर्थात् कई व्यक्तिवादी होते हैं और कईसमाजवादी होते हैं। 'अ-सं-भूति का अर्थ न-मिलकर-रहनेवाले' अर्थात् समाज संगठन की पर्वा न करते हुए व्यक्ति पूर्णरूपसे स्वतंत्र है ऐसा माननेवाले (अन्धंतमः प्रविशन्ति) अन्धकार में जाते हैं, अज्ञानमें रहते हैं और बडा दुःख भोगते हैं। यह कैसा होता है देखिये-

व्यक्तिवादी लोग व्यक्तिका सुधार करते रहते हैं और समझते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति सुधर गयी तो उनका बना समाज सुधर जाता है। ऐसा विचार करके ये लोग व्यक्तिको पूर्णरूपसे स्वतंत्र मानकर व्यक्तिकी पवित्रता, सुधार और उन्नतिके लिये जो चाहिये सो करते हैं। व्यायाम, स्नान, संध्या, उपासना, पूजा, पाठ अध्ययन, भोजन, रहन सहन जो भी व्यक्ति की सुस्थितिके लिये आवश्यक है वह सब ये करते हैं। व्यक्ति स्वतंत्र रूपसे अकेली जन्मती है और अकेली ही मर जाती है। न यह जन्मते समय दूसरेको साथ लाती है और न यह मरनेके समय दूसरेको साथ ले जाती है। प्रत्येक व्यक्तिके पीछे उसका कर्म लगा रहता है, वही मरणोत्तर उसके साथ जाता है। इसलिये कोई किसीका दूसरेसे संबंधी नहीं,इसलिये प्रत्येकको अपने उद्धारके लिये यत्न करना चाहिये, दूसरे झंझटोंमें पडनेकी जरूरत नहीं। ऐसा ये कहते हैं और व्यक्तिके लिये जो करना आवश्यक होता है वह ये करते रहते हैं। इसलिये संघशक्तिसे ये वंचित रहते हैं। मुझे दूसरेकी कुछ भी पडी नहीं है। दूसरा अपनी व्यवस्था देखे, मैं अपनी देखूंगा।

कर्मानुगो गच्छति जीव एकः।

अपने कर्मोंके अनुसार मनुष्यकी उच्च अथवा नीच गति होती रहती है। इसलिये मैं अपने हितके लिये यत्न करूंगा, मुझे दूसरेकी व्यवस्था देखनेकी जरूरत नहीं है। ऐसा इनका मत है। पूर्ण व्यक्तिवादका यह स्वरूप है।

दूसरेकी घृणा

पूर्ण व्यक्तिवाद जब बढ जाता है, तब वह व्यक्तिकी पवित्रता करनेमें दत्तचित्त होता है। इसका परिणाम दूसरेकी घृणा इसके मनमें उत्पन्न हो जाती है। अपने शरीरकी दुर्गन्धी आनेके कारण वह अपने शरीरकी ही घृणा करने लगता है, फिर दूसरेकी वह घृणा करेगा इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

'परैः असंसर्गः।'
शौचात् स्वांगजुगुप्सा। योगदर्शन

'पवित्रता करते करते अपने शरीरके अंगोंकी घृणा इसको उत्पन्न होती है। इसका परिणाम दूसरोंके साथ इसका संसर्ग ही कम हो जाता है। अपने नाक कानसे मल बाहर आते हैं, पसीना आता है, उसकी बदबू आती है,

अन्य इंद्रियोंसे अन्य मल बाहर आते हैं इसलिये वह अपने शरीरकी दुर्गन्धीको देखता है और अपने तथा दूसरोंके शरीरोंसे घृणा करने लगता है। व्यक्तिवादी जीवनका यह घोर परिणाम है।

भारतवर्षमें हिंदु जातीमें यही हुआ है। यहां प्रत्येक व्यक्ति पृथक् पृथक् हुई है। व्यक्तिवादकी यहां परमावधी हुई है। वैदिक धर्मसे लेकर उपनिषद् तथा गीता तक समष्टि या संभूति का जीवन था। इसलिये वहां यज्ञ याग आदि सामुदायिक प्रशस्त कर्म होते थे, जन संपर्क अधिकाधिक होता था। न इस समय 'स्वांगजुगुप्सा' थी और नाही 'परैः असंसर्गः' (दूसरोंसे संपर्क न रखने का भाव) था। गीता कहती है कि व्यक्तिवादी मनुष्य 'विविक्तदेशसेवित्वं अरतिर्जन संसदि (गी. १३।१०) 'एकान्तमें रहना और जन सभामें न जाना' यह व्यक्तिवादकी अन्तिम अवस्थामें रहता है। व्यक्ति अपनी पवित्रता करती है, शरीर स्वच्छ करने लगती है। उस समय उसको विदित हो जाता है, कि अपने शरीरसे प्रत्येक छिद्र से मल बाहर आ रहे हैं। कोई ऐसा छिद्र नहीं कि जिससे मल बाहर नहीं आता। यह देखकर उसको प्रतीत होता है कि यह शरीर तो मलका गढा है। ऐसा प्रतीत हुआ तो वह अपने शरीरकी घृणा करने लगता है। जो अपने शरीरकी घृणा करेगा व दूसरोंसे संपर्क किस तरह बढाना चाहेगा ?

दूसरेके तथा अपने शरीरकी भी जिसको घृणा होती है, अकेला वहही घूमेगा, वह दूसरेके साथ बैठेगा भी नहीं। उसको दूसरोंके शरीरोंसे दुर्गन्ध आने लगेगी। ऐसी अवस्थामें वह किसी स्त्रीसे विवाह भी कैसा करेगा ? इसलिये ये व्यक्तिवादी ब्रह्मचर्य पालन करनेकी ओर झुकते हैं। तरुणपनमें ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचर्यके पश्चात् संन्यास ही ये लेते हैं और स्त्रीसंबंध करना बहुत बुरा मानते हैं। व्यक्तिवादी अपने शरीरकी शुद्धता करते करते, इस भयानक अवस्था तक पहुंचते हैं। वैदिक धर्ममें यह नितान्त व्यक्तिवाद है ही नहीं। वहां ब्रह्मचर्यके बाद गृहस्थाश्रम है, उसके बाद वानप्रस्थ है। ये सब आश्रम जनसंपर्कके ही हैं। इनमें संघटना करनी है। जनसंसदकी निंदा यहां नहीं है। यहां न अपने शरीरसे घृणा है और नाही दूसरोंके शरीरकी निंदा है। यहां शरीर तो देवताओंका मंदिर है, सप्त ऋषियोंका आश्रम यह शरीर है। इसलिये वैदिक धर्ममें स्वांगजुगुप्सा किस तरह हो सकती है ?

व्यक्ति स्वातंत्र्यवादीयोंकी यह घोर कुकल्पना है जो मानव समाजका घात करनेवाली है। वैसा घात इस कल्पनाने हिंदुसमाजका किया है। कहावत ही है कि यहां 'दस मनुष्य हुए तो ग्यारह चूल्हे होंगे।' यह व्यक्तिवादकी पराकाष्ठा है। संघटनाका पूर्ण अभाव यहां इसी व्यक्तिवादके कारण है।

अन्धंतमः प्रविशन्ति ये असंभूतिं उपासते।
(यजु- ४०।९)

'व्यक्तिवादके पूजक अन्धकारमें जाते हैं' यह जो कहा है वह इस व्यक्तिवादके परिणामको देखकर ही कहा है। जो व्यक्तिवादी होते हैं वे घमंडी भी होते हैं। घमंड इनमें इसलिये होती है कि मैं अधिक तपस्वी, अधिक शुद्ध, अधिक सात्विक हूं। इस तरह ये मैं अधिक शुद्ध और दूसरा अधिक अपवित्र है, ऐसा मानकर वैसा व्यवहार करने लगते हैं। इस कारण विद्वेष बढता है। जो अपने आपको अधिक उच्च समझता है उसीका द्वेष अन्य लोग करने लगते हैं।

विभेदोंकी वृद्धि और सामूहिक निर्बलता

जहां व्यक्तिवाद बढता है वहां दो आदमीयोंका समझोता होना कठिन हो जाता है। इससे असंघटना होती है और संघबलका अभाव होनेसे वह समाज अत्यंत निर्बल हो जाता है। कोई आजाय और उसको दबा दे, यह अवस्था आ जाती है। आज हिंदुसमाज व्यक्ति स्वातंत्र्यवादी होनेके कारण निर्बल बना है। वास्तवमें सब हिंदु एक धर्म के बंधनसे बंधे हैं, परंतु देखा जाय तो वेशभूषा, खान पान, भाषा, रहन सहन इनमें इतनी पृथकता है कि इस समाजको एक कहना असंभव प्रतीत होता है। पगडियां देखिये, प्रान्त प्रान्तकी पृथक् तो हैं, पर प्रांतमें भी जाती उपजातीकी भी पृथक् हैं। इसी तरह अन्य वेशभूषाके विषयमें जान सकते हैं। एक देशमें रहनेवाले और एक धर्मके मनुष्योंमें रहन सहनमें इतनी विभिन्नता किसी दूसरे देशमें दिखाई नहीं देती। इसीलिये पंजाबके ब्राह्मणसे मद्रासके ब्राह्मणीसे विवाह नहीं होता। क्योंकि इनमें समानता कुछ भी नहीं, परंतु विषमता ही बहुत है। यह अति स्वातंत्र्य प्रियताका दुष्परिणाम है। अन्य कारण भी हैं। पर व्यक्तिनिष्ठाकी अधिकता यहांके समान किसी दूसरे

देशमें नहीं है।

इसीलिये कहा है जो व्यक्तिनिष्ठ होते हैं वे अन्धकारमें जाते हैं। यह अन्धकार असंघटनासे उत्पन्न होनेवाला है। इसका परिणाम सामूहिक निर्बलता है। ये असंघटित होते हुए बडा दुःख प्राप्त करते हैं क्योंकि अन्धकारसे दुःख होना स्वाभाविक है। इनकी उन्नति नहीं हो सकती। ये अधः-पतित होकर गिरते ही जायगे।

संघटनाके उपासक

इसके आगे कहा है कि " ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्यां रताः। " जो संभूतिकी-संघटनाकी ही उपासना करते हैं वे उससे भी अधिक घने अन्धेरमें जाते हैं। जो संघशक्तिकी उपासना करते हैं वे अधिक दुःखमें गिरते हैं। केवल व्यक्तिभावकी उपासना करनेवाले जितने गिरते हैं, उससे अधिक संघभावमें रमनेवाले गिरते हैं। यह प्रथम विचित्रसा प्रतीत होता है, पर विचार करनेपर पता लगेगा कि इसमें सत्य है।

देखिये जो संघटनावादी, समाजवादी, संघवादी होंगे, वे संघटना शक्ति बढानेके लिये व्यक्तिका स्वातंत्र्य नष्ट कर देंगे। क्योंकि किसी व्यक्तिको यदि स्वातंत्र्य मिला तो वह व्यक्ति पृथक् रहेगी, और उस प्रमाणमें संघटना शिथिल होगी। इसलिये ये समाजवादी व्यक्तिकी स्वतंत्रता विनिष्ट करते हैं और अपने समाजकी संघटनाकी शक्ति बढाते हैं। इस कारण इस समाजवादियोंके समाजकी व्यक्ति अत्यंत दब जाती अतः विकसित नहीं होती।

मानवताकी हानि

जिस समाजकी प्रत्येक व्यक्ति इस तरह दब जाती है, वह समाज भी दबी हुई गुलामी वृत्तिवाले लोगोंका समाज बन जाता है। यद्यपि इस समाजमें सांघिक बल बढा हुआ दीखता है तथापि वह समाज दबी हुई व्यक्तियोंका होनेके कारण मानवताकी दृष्टीसे अवनत ही होता है। सब लोग मानसिक गुलामीसे दबे हुए और ऐसे दबे हुओंका समाज, यद्यपि सांघिक शक्तिसे युक्त हुआ, तो भी वह गुण्डोंकासा समाज होगा और मानवताके उच्चस्तर पर उसका कुछ भी मूल्य नहीं होगा। यह कितना अधःपात है ? इसलिये वेद कहता है कि—

अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्यां रताः ॥९॥
(वा० यजु० ४०)

' जो व्यक्तिस्वातंत्र्यके पुजारी हैं वे अवनत होते हैं और जो संघटनाके कार्यमें रमते हैं वे भी उससे अधिकदुःखमें गिरते हैं। ' अर्थात् केवल व्यक्तिस्वातंत्र्यवाद जैसा बुरा है, वैसा अथवा उससे भी अधिक समाजसंघटनावाद भी बुरा है। इन दोनोंकी उपासना पृथग्भावसे करनेवाले गिरते ही जाते हैं। यहांके वाक्य मनन करने योग्य हैं

१ असंभूतिं उपासते— व्यक्तिभावके उपासक।
२ संभूत्यां रताः— संघजीवनमें रमनेवाले।

यहां भाव यह है कि (१) समाज संघटनाकी ओर दुर्लक्ष्य करके जो व्यक्तिको पूर्ण स्वातंत्र्य देते हैं वे गिरते हैं, वैसे ही (२) जो समाज संघटित करनेमें ही रमते हैं, परंतु व्यक्ति विकासकी ओर बिलकुल ध्यान नहीं देते वे भी उससे अधिक गिरते हैं। एक ही मन्तव्यमें दत्तचित्त रहना और दूसरे मन्तव्यके विचारोंकी ओर नहीं जाना, यह अवस्था दोष बढानेवाली है। यह इस वर्णनका तात्पर्य है। अपनी पद्धतिका मनुष्य स्वीकार और प्रचार भी करे, परंतु दूसरी पद्धतिमें यदि कोई गुण रहे तो उनका भी मनुष्य विचार करे यह अत्यंत आवश्यक है। इसलिये कहा है कि दूसरे पक्षका बिलकुल विचार न करनेवाले और अपने विचारमें ही रमनेवाले गिर जाते हैं।

प्रत्येक पक्षमें कुछ न कुछ गुण भी होते हैं और दोष भी होते हैं। इनका विचार करना चाहिये और जहां जो गुण होगा, उसको वहांसे लेना चाहिये। इसलिये अगले मंत्रमें कहा है।

विशेष फल

अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात्।
इति शुश्रम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

" संघ शक्तिसे कुछ विशेष लाभ होते हैं और व्यक्ति-की स्वतंत्रतासे भी कुछ विलक्षण लाभ होते हैं। ऐसा हम उनसे सुनते आये हैं कि, जो हमें इसका उपदेश देते रहे। "

व्यक्तिस्वातंत्र्यका फल

अर्थात् व्यक्तिकी स्वतंत्रतासे कुछ विलक्षण लाभ होते हैं। व्यक्तिको स्वतंत्रता देनेसे वैयक्तिक गुणोंका विकास होता है,

गुणोंकी वृद्धि होनेसे विशेषीकरण होता है, अर्थात् व्यक्तिका व्यक्तिमत्त्व रहता और बढता है । यह अत्यावश्यक भी है। व्यक्ति की उन्नति व्यक्ति स्वतंत्र रही, अपने भविष्यके विषयमें सोचती रही, अपनी उन्नतिके लिये विशेष प्रयत्न करती रही, तो ही हो सकती है। यदि व्यक्ति गुलाम जैसी पराधीन ही रही, यदि वह कैदी जैसी अस्वतंत्र रही, तो उसकी उन्नति नहीं होगी । अर्थात् व्यक्तिके गुणोंका विकास करनेके लिये व्यक्तिको स्वतंत्रता चाहिये । स्वतंत्रतासे गुणों का विकास होना संभवनीय है

संघटनाका प्रचण्ड सामर्थ्य

इसी तरह संघटना करने से सांघिक बल भी प्राप्त होता है । मानवी उन्नतिके लिये व्यक्ति के गुणोंका विकास होना अत्यंत आवश्यक है । इसी तरह सांघिक बल भी बढना चाहिये । ऐसा होनेसे दोनोंसे लाभ हो सकते हैं और दोनों ओरकी आपत्तियाँ टालीं जा सकती हैं । दोनों आपत्तियां टल जांय और दोनों लाभ प्राप्त हों ऐसा करनेकी सूचना वेद यहां दे रहा है । इन दोनों का समन्वय वेदने कैसा किया यह देखिये—

दोनोंका समन्वय

संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्यामृतमश्नुते ॥१२॥

" संघभाव और व्यक्तिभाव इन दोनोंका समन्वय करनेसे लाभ होते हैं यह जो जानता है, वह व्यक्तिभावसे व्यक्तिगत दुःख दूर करके संघभावसे अमरत्व प्राप्त करता है। " यह दोनोंके समन्वय का सुवर्णनियम वेदने मानवी उन्नतिके लिये दिया है।

अमरत्वकी प्राप्ति

मनुष्य अमरत्व चाहता है, वह अमरत्व ' संभूति ' से ही मिल सकता है । 'संभूत्या अमृतत्वं अश्नुते ' संघसे अमरत्व प्राप्त होता है । व्यक्ति कभी अमर होनेवाली नहीं है । व्यक्ति अनेक यत्न करनेपर भी किसी न किसी समय अवश्य मर जायगी। वसिष्ठ, वामदेव, अत्रि, दुर्वासा, पतंजली आदि सब ऋषिमुनि मर गये हैं । योगाभ्यास करनेवाले भी मर चुके हैं । इसलिये व्यक्ति को मृत्यु लगा ही है । व्यक्तिसे मृत्यु दूर हो सकता है अर्थात् वैयक्तिक प्रयत्नसे दीर्घायु प्राप्त की जा सकती है। परंतु यह शरीर स्थायी नहीं रह सकता । कभी न कभी इसने मरना ही है। ' जपी तपी सब मर गये । मर गये जंदर जोगी । ' यह वास्तव स्थिति है । इस व्यक्तिभाव का ही नाम इस मंत्रमें ' विनाश ' रखा है । व्यक्ति विनाश को प्राप्त होगी । व्यक्ति स्वयं विनाशवान् है । परंतु (संभूत्या अमृतं अश्नुते) संघजीवन-सामुदायिक जीवन जीनेसे अमरत्व प्राप्त होता है । व्यक्ति मरनेवाली और समुदाय अमर है । हिंदु-व्यक्ति मरती है पर हिंदुसमाज अमर है ।

व्यक्तिवादी व्यक्तिको अमरत्व देनेके प्रयत्न कर रहते हैं। इसके लिये इन्होंने बडे अनुष्ठान किये हैं पर वे सब व्यर्थ हुए हैं। जो कभी सिद्ध होना नहीं है उसके लिये उनका प्रयत्न है, वह कदापि सिद्ध नहीं हो सकेगा ।

वैयक्तिक प्रयत्नके लाभ

पर व्यक्तिभावसे व्यक्तिका व्यक्तित्व सुरक्षित रह सकता है । जैसा स्नान करनेसे शरीर स्वच्छ होता है, स्वच्छता करनेसे शरीर नीरोग हो जाता है । भोजन करनेसे शरीर पुष्ट होता है, व्यायाम करनेसे शरीरका बल बढ जाता है । संध्या उपासना करनेसे अन्तःकरण की शान्ति सुस्थिर रह सकती है, जिससे दीर्घायु हो जाती है । इसका नाम है, मृत्युको तैरकर पार होना (मृत्युं तीर्त्वा) मृत्युको दूर करना । यह सब व्यक्तिभावकी व्यक्तिशः सेवा शुश्रूषा करनेसे ही होता है। यह लाभ कोई कम नहीं है । व्यक्ति निरोग, दीर्घजीवी, सुखी, हृष्टपुष्ट, आनंद प्रसन्न, कार्यक्षम, यशस्वी, पराक्रमी होनी चाहिये । व्यक्तिभाव की उपासनासे ही यह होना संभव है। जहां व्यक्तिभाव की उपासना ठीक तरह नहीं होती, वहां व्यक्ति निर्बल होजाती है। और निकम्मी सिद्ध हो जाती है । व्यक्तिके गुण विकसित होने चाहिये और ऐसी विकसित गुणोंवाली व्यक्ति समाज की सेवा करनेके लिये मिलनी चाहिये । निकम्मे मनुष्य हो गये तो वे समाजकी सेवा कैसी करेंगे ? और समाज सेवा ठीक तरह न हुई तो समाज सुखी भी किस तरह होगा ? अमर भी कैसा होगा ? क्योंकि निर्बल व्यक्तियोंका समाज निर्बल होगा और कोई दूसरा बलवान समाज उसको खा जायगा । इसलिये व्यक्ति आशिष्ट दृढिष्ठ बलिष्ठ होनी चाहिये और सद्भावना से युक्त होनी चाहिये ।

ब्रह्मचर्याश्रम

राष्ट्रमें प्रथम आयुमें प्रत्येक व्यक्तिको अपनी उन्नति करनेकी सुशिक्षा मिलनी चाहिये । ब्रह्मचर्याश्रम व्यक्तिका व्यक्तित्व विकसित करनेके लिये ही है । १२ या २४ वर्ष तक व्यक्तिके अन्दर के गुणोंका विकास किया जा सकता है। ऐसा प्रत्येक व्यक्तिको करना चाहिये ।

योगसाधन

व्यक्तिमें शरीर, इन्द्रिय और अवयव हैं । योगके आसनों के व्यायामसे शरीरके प्रत्येक अवयव का उत्तम विकास होता है और रोग दूर करनेकी शक्ति शरीरमें बढ जाती है। यह कार्य सबसे प्रथम करने का है । इसके पश्चात् प्राणायाम का अभ्यास होता है । प्राणके आधारसे ही सब इंद्रियां और अवयव कार्य करते हैं । दीर्घजीवन शरीर के लिये प्राप्त होना इस प्राणशक्तिके बल से ही होनेवाली बात है । इसलिये जैसे आसन वैसे ही प्राणायाम व्यक्तिशः करनेके व्यायाम हैं। आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि यह योगसाधन व्यक्तिके विकास के लिये है । वैदिक धर्मके अन्दर व्यक्तिके विकासका यह कार्यक्रम परिपूर्ण है । वैदिक धर्मने व्यक्तिविकास की ओर दुर्लक्ष्य नहीं किया है। आसन व्यायामसे शरीर, प्राणायामसे प्राणशक्ति,प्रत्याहारसे संयम, ध्यानधारणासे मनकी शक्ति और समाधि से निज आत्मशक्ति विकसित हो जाती है । यह व्यक्तिकी ही उपासना है । व्यक्तिकी परम उन्नति इस अनुष्ठानसे प्राप्त होती है । यह प्रत्येक व्यक्ति को करना अत्यंत आवश्यक और अनिवार्य भी है। वैदिक धर्म की यह व्यवस्था ऐसी व्यक्तिकी उन्नति पूर्ण रीतिसे करनेवाली है।

योगानुष्ठानके प्रारंभमें ' यम और नियम ' कहे हैं। इनमें ' यम ' सार्वजनिक जीवन के लिये हैं और नियम वैयक्तिक जीवन के लिये हैं । इनमें प्रथम व्यक्तिकी उन्नतिके लिये नियम कैसे उपयोगी हैं यह देखिये—

वैयक्तिक जीवन

शौच-सन्तोष-तप-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधानानि नियमाः । (योगदर्शन)

शुद्धता पवित्रता, मनका सन्तोष, शीत उष्ण सहन करने की शक्ति, उत्तम ग्रंथोंका अध्ययन, और ईश्वरकी भक्ति ये नियम हैं । ये व्यक्तिकी उन्नतिके साधक हैं । शरीर की पवित्रता होनेसे शरीर निरोग बनेगा, मनका संतोष रहनेसे मन उत्साह युक्त हो जाता है, शीत उष्ण सहन करनेकी शक्ति बढनेसे रोग दूर होते हैं, शरीरकी थकावट नहीं होती। उत्तम ग्रंथोंका पठन पाठन होनेसे उत्तम ज्ञान मिलता है जिससे जीवन सुधरता है, ईश्वरभक्ति से अपनी आत्मशक्ति बढती है । इस तरह ये सब नियम वैयक्तिक गुणविकास के लिये हैं ।

योगसाधनमें वैयक्तिक सुधार का कार्यक्रम है । यह होना ही चाहिये । इस अनुष्ठानसे व्यक्ति उच्च होती है। उन्नत होती है । ऐसी उन्नत और समर्थ बनी व्यक्ति सार्वजनिक कार्य करनेके लिये तैयार की जाती है । इस तरह उन्नत मनुष्यसे ही सार्वजनिक हितके कार्य अच्छी तरह बन सकते हैं ।

सार्वजनिक जीवन

अब सार्वजनिक जीवनके नियमोंका स्वरूप देखिये—

अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहा यमाः । (योगदर्शन)

ये सब यम सार्वजनिक जीवन का आदर्श जनताके सामने रखते हैं । मनुष्यका सार्वजनिक जीवन इस आदर्श के अनुकूल होना चाहिये—

१ अहिंसा—मनुष्यके व्यवहारमें काया वाचा मन से अहिंसा प्रकट होनी चाहिये । अहिंसा निषेध करती है । घात पात नहीं करना चाहिये, परंतु प्रत्यक्ष दूसरोंका हित करना चाहिये । दूसरोंकी सहायता करनी चाहिये । दूसरोंका द्वेष नहीं करना चाहिये ।

२ सत्य— मनुष्यके व्यवहारमें सत्य रहना चाहिये । काया वाचा मनसे मनुष्य सत्यके अनुकूल रहकर व्यवहार करे । दूसरोंके साथ व्यवहार करते समय असत्यके व्यवहारसे लाभ भी होता हो, तोभी उस समय सत्य का ही पालन करना चाहिये ।

३ अस्तेय— चोरी नहीं करनी चाहिये, चोरी करनेसे

लाभ होता है ऐसा दीखता है, परंतु चोरका कभी कल्याण नहीं होता है। चोरी, कालाबाजार, मिथ्या व्यवहार का सर्वथा त्याग करके मनुष्य उत्तम सरलता का व्यवहार करे।

देखिये ' अहिंसा, सत्य, अस्तेय ' ये मनुष्यके सार्वजनिक व्यवहारके नियम कितने अच्छे हैं। इनसे मनुष्यका सामर्थ्य बढता है। मनुष्यका आत्मा उन्नत होता है। ऐसा मनुष्य ही मानवी समाजका आदर्श हो सकता है। यह संभूतिके जीवनका आदर्श है।

४ ब्रह्मचर्य– ' ब्रह्म ' अर्थात् बडी शक्ति प्राप्त करने के लिये जो ' चर्य ' अर्थात् चाल चलन और व्यवहार करना आवश्यक है, वैसे सद्व्यवहारका नाम ब्रह्मचर्य है। समर्थ बनने के लिये आवश्यक श्रेष्ठ आचरण करनेका नाम ब्रह्मचर्य है। योग परिभाषामें ' ऊर्ध्वरेता ' बननेके अनुष्ठान को ब्रह्मचर्य कहते हैं। विवाह पूर्व स्त्रीभोगका पूर्ण संयम और विवाह होनेपर वैवाहिक नियमानुसार स्त्री संबंध करनेका नाम ब्रह्मचर्य है। यह सबको विदित है।

५ अपरिग्रह– अपने पास भोग्य पदार्थोंका अत्यधिक संग्रह करनेका नाम परिग्रह है। वैसा संग्रह अपने पास न रखनेका नाम ' अपरिग्रह ' है। किसी एक व्यक्तिके पास अनंत भोग साधन इकट्ठे हो गये, तो अन्य व्यक्तियां उन भोगोंसे वंचित रहती हैं। इस कारण ये वंचित व्यक्तियां उस परिग्रह करनेवालेका द्वेष करने लगती हैं। इस कारण विश्वमें विग्रह उत्पन्न होते हैं। छोटे परिमाणमें इनका नाम झगडा है और बडे परिमाण में इनको युद्ध कहते हैं। परिग्रह के कारण ही ये युद्ध होते हैं। इसीलिये भोगोंका अत्यधिक संग्रह अपने पास करना उचित नहीं। कमसे कम अपने जीवन निर्वाह के लिये जितना अत्यंत आवश्यक है, उतना मनुष्य अपने पास रखे, इससे अधिक न रखे। इस मर्यादा का उल्लंघन कोई न करे। सार्वजनिक झगडे और युद्ध कम होनेके लिये इस तरह मनुष्य अपने भोगोंपर संयम रखे।

ये पांच यम हैं। ये सार्वजनिक जीवन सुखदायी होनेके लिये मनुष्योंके द्वारा पालन करना अत्यंत आवश्यक है। वैदिक धर्मानुसार सामाजिक जीवन कैसा होना चाहिये, इस प्रश्नके उत्तरमें यह कह सकते हैं कि इन पांच यमोंको पालन करनेसे जैसा जीवन हो सकता है वैसा जीवन होना चाहिये।

योगसाधनसे जैसा वैयक्तिक जीवन उच्च होता है वैसा ही सामुदायिक जीवन भी उच्चतर हो सकता है।

वैयक्तिक जीवन और सामुदायिक जीवन का यह उत्तम समन्वय है। इस समन्वयसे केवल वैयक्तिक स्वातंत्र्यसे जो दोष उत्पन्न होते हैं वे सब दूर हो जाते हैं और वैयक्तिक उन्नतिसे जो लाभ होनेकी संभावना है वे लाभ प्राप्त होते हैं। इसी तरह केवल सामाजिक संघटना करनेवालोंके प्रयत्नोंसे व्यक्ति दब जानेकी संभावना होती है वह भी इससे दूर होती है और मनुष्यके सामुदायिक जीवन का सुधार होनेसे अनंत लाभ होते हैं। इस कारण इस समन्वय से इन दोनों जीवनोंके दोष दूर हो जाते हैं और गुण ही मिलते हैं यह यहां पाठक जानें। इसका तात्पर्य यह है कि केवल व्यक्ति स्वतंत्रतावाद जैसा हानिकारक है वैसा ही केवल समाजवाद भी हानिकारक है। पर दोनोंका समन्वय लाभकारी है।

हमें तो व्यक्तिकी भी उन्नति होनी चाहिये और समाज भी सुसंघटित होना चाहिये। ये दोनों जिससे साध्य होंगे वह जीवन की व्यवस्था हमें चाहिये। व्यक्ति की स्वतंत्रता बढाकर समाज संघटनाको हानि पहुंचाना जैसा योग्य नहीं है, वैसा ही समाज संघटना से प्रचण्ड बल प्राप्त करने के लिये व्यक्तिको निर्जीव यंत्र बनाना भी इष्ट नहीं है। केवल किसी एक ही पक्षका स्वीकार करनेसे जो हानि होती है वह समन्वयसे टालनी चाहिये।

यूरोपके वाद

यूरोपमें व्यक्तिवाद, समाजवाद, साम्यवाद आदि अनेक वाद उत्पन्न हुए हैं। उनको भारतीयों का वैदिक धर्मका सिद्धान्त विदित नहीं है। विराट् पुरुषके देहमें सर्वत्र व्यापक एक ही जीवन है। यह विराट् पुरुषका देह यह ' सब विश्व ' ही है। इसमें सूर्य चन्द्र पृथ्वी पशु पक्षी मानव आदि सब संमिलित हैं। पृथ्वीके ऊपर भी विराट् पुरुष का ही एक अखण्ड और अद्वितीय एकरस जीवन व्याप रहा है। इस लिये यहां व्यक्ति दूसरी व्यक्तिसे सर्वथा पृथक् नहीं है। सब विराट् पुरुषके एक जीवन में ही संमिलित हैं। सब इस

विराट् पुरुषके देहके अंग और अवयव हैं। यहां अवयव और अवयवी का संबंध है। यही संबंध जानना योग्य है।

अंग और अंगी

शरीरमें देखिये इस एक शरीरमें इंद्रियों और अवयवों में सबमें व्याप्त रहनेवाला एक ही जीवन है। यह एक जीवन है ऐसा मानकर ही यहां के इंद्रिय व्यवहार होने चाहिये। यद्यपि प्रत्येक इन्द्रियमें अनेक अणुजीव रहते हैं और वे अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं, तथापि वह इन्द्रिय अखण्ड शरीरका एक भाग है। इसलिये शरीरका एक अंश है ऐसा मानकर ही व्यवहार करना चाहिये।

इसी तरह राष्ट्रमें व्यक्ति का व्यवहार वह व्यक्ति राष्ट्र का अंग है ऐसा मानकर ही होना योग्य है। यह अंग-अंगी संबंध किस तरह वेदने बताया है यह देखिये–

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥
अथर्व. १०।७।३३

'जिसका सूर्य चक्षु है, पुनः पुनः नया नया बननेवाली चन्द्रमा भी जिसका आंख है, अग्नि जिसका मुख है, उस ज्येष्ठ ब्रह्म के लिये नमस्कार है।' सूर्यचन्द्र जिसके आंख हैं और अग्नि जिसका मुख है वह ज्येष्ठ ब्रह्म है। जिस तरह मनुष्यके शरीरमें आंखों कानों में तथा हाथों पावोंमें शरीरका एक ही जीवन संचरित होता है, उसी तरह इस विश्वमें परमात्माका, ज्येष्ठ ब्रह्मका जीवनरस संचरित हो रहा है। इसी तरह और भी वर्णन है–

यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातास्तिष्ठन्त्यार्पिताः॥ १२॥
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे सर्वे समाहिताः॥ १३॥
समुद्रा यस्य नाड्यः पुरुषेऽधि समाहिताः॥ १५॥
यस्य चतस्रः प्रदिशो नाड्यस्तिष्ठन्ति प्रथमाः॥ १६॥
यस्य शिरो वैश्वानरः चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्।
अंगानि यस्य यातवः स्कंभं तं ब्रूहि ०॥ १८॥
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे गात्रा विभेजिरे॥ २७॥
यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥३२॥
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥३४
अथर्व १०।७

'जिसमें भूमि अन्तरिक्ष, द्यु, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य और वायु समर्पित हुए हैं। जिसके अवयवों में तैंतीस देवता हैं। समुद्रको मिलनेवाली नदियां जिसके शरीरकी नाडियां हैं। चारों दिशाएं जिसकी नाडियां हैं। जिसका सिर वैश्वानर अग्नि है, अंगिरस जिसके आंख बने हैं' सब प्राणी अथवा गतिमान (यातवः) पदार्थ जिसके शरीरके अवयव हैं। जिसके शरीरके अवयवों में तैंतिस देवताएं विभक्त होकर रही हैं। भूमि जिसके पांव, अन्तरिक्ष जिसका उदर है, द्यु जिसका सिर है उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये मेरा नमस्कार है। वायु जिसके प्राण और अपान है, अंगिरस जिसके आंख हैं, दिशाएं जिसके ज्ञान देनेवाले श्रोत्र हैं, उस ज्येष्ठ ब्रह्मके लिये प्रणाम हो।'

ज्येष्ठ ब्रह्मका विश्वरूप

इस वर्णन में ज्येष्ठ ब्रह्मका यह विश्वरूप देह है यह स्पष्ट हुआ है। ज्येष्ठ ब्रह्मका जीवन इस विश्वमें सर्वत्र संचरित हो रहा है यह यहां स्पष्ट होता है। संपूर्ण विश्व ज्येष्ठ ब्रह्मके जीवनसे अनुप्राणित हुआ है। इसी तरह और भी वर्णन है वह भी यहां देखिये—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम्॥ १॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत
ऋ १०।९०, वा-य-३१

हजारों सिरोंवाला, हजारों आंखोंवाला और हजारों पांवोंवाला एक पुरुष -विराट् पुरुष - है वह भूमि के चारों ओर दसा है और वह बाहर भी है। ब्राह्मण उसके सिर हैं, क्षत्रिय उसके बाहु हैं, वैश्य उसकी जांघें हैं और शूद्र उसके पांव हैं। इस वर्णन से तो स्पष्ट हो गया कि जिसके शरीरमें सिर, आंख, कान, हाथ, पेट, पांव ये हजारों हैं ऐसा एक विराट् पुरुष है, और ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र ये उसके सिर बाहु पेट और पांव हैं। अर्थात् हजारों ब्राह्मणों-के सिर उसके सिर हैं, हजारों क्षत्रियों के बाहू उसके

बाहू हैं, हजारों वैश्य ये उसके पेट तथा जंघाएं हैं और हजारों शूद्र ये उसके पांव हैं । यदि ब्राह्मण -क्षत्रिय - वैश्य -शूद्र निषाद ये उसके शरीरके अवयव हैं तब तो निश्चय ही है कि उसका जीवन रस इन सबमें संचरित हो रहा है और ये सब मिलकर उसका शरीर -उसका एक ही शरीर हुआ है ।

सब प्राणी मिलकर विराट् पुरुष एक है यह वैदिक कल्पना सब से प्रथम समझमें आनी चाहिये, तब वैदिक धर्मका व्यवहार शास्त्र समझमें आसकता है ।

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र निषाद ये पंचजन मिलकर एक विराट् पुरुषका विशाल देह है और यह सब मिलकर एक ही देह है । यह एकत्व देखना चाहिये । और यही समझना चाहिये ।

व्यक्तिसत्ता मारी नहीं है

यहांका एक जीवन है ऐसा कहनेसे प्रत्येक व्यक्तिका व्यक्तित्व मारा नहीं जाता यह विशेषता यहां है । जिस तरह मनुष्यके एक शरीरमें करोडों अणुजीव रहते हैं और उनमेंसे प्रत्येक अणुजीव स्वतंत्र रीतिसे जन्मता रहता और मरता है । ऐसा प्रत्येक जीव स्वतंत्र रहने पर भी, इन करोडों अणुजीवोंमें एक श्रेष्ठ आत्माकी शक्ति एक रस व्याप रही है और उन करोडों अणुजीवोंको अनुप्राणित कर रही है । ठीक उस तरह ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र निषाद हजारों लाखों और करोडों की संख्या में हैं, इनमें से प्रत्येक स्वतंत्र रीतिसे जन्मता, रहता और मरता है, अतः प्रत्येक स्वतंत्र है, तथापि इनमें एक विराट् आत्माकी शक्ति एक रस व्याप रही है और उन करोडों मनुष्योंको अनुप्राणित कर रही है ।

इस तरह प्रत्येक जीव स्वतंत्र है, परंतु समष्टिकी जीवन दृष्टीसे वह एक है । विभक्त होता हुआ अविभक्त है । स्वतंत्र होता हुआ एक जीवन में बंधा है । प्रत्येक स्वतंत्र होनेपर भी उसमें सामूहिक एकता है यही यहां समझनेवाली तथा मननसे जानने योग्य और मुख्य बात है ।

मैं स्वतन्त्र हूं

अपने शरीरमें देखिये, प्रत्येक मनुष्य कहता है कि मैं एक व्यक्ति हूं, मुझमें नानात्व नहीं है । यह प्रत्येक का अनुभव है । तथापि एक व्यक्तिके एक शरीरमें करोडों अणुजीव हैं और उन जीवोंमें से प्रत्येक कहता होगा कि मैं स्वतंत्र हूं । प्रत्येक स्वतंत्र तो है, परंतु उसमें एक जीवात्माका जीवन अनुप्राणित हो रहा है । इसी तरह पृथ्वीपरके करोडों मानवों में विराट् पुरुष का अखण्ड एक रस जीवन अनुप्राणित हो रहा है । यह विराट् पुरुषकी दृष्टिसे एकता है, विराट् पुरुष की दृष्टिसे यहां नानात्व नहीं है । परंतु जीव शरीर की दृष्टिसे यहां नानात्व है ।

मनुष्यके तीन देह

यह नानात्वमें एकत्व और एकत्व में नानात्व कैसा होता है वह देखिये । मनुष्यके स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये देह हैं । कई तत्त्वज्ञानी महाकारण देह भी और एक है ऐसा मानते हैं । स्थूल और सूक्ष्म देह प्रत्येक के विभिन्न हैं और कारण देहकी दृष्टिसे सबकी एकता है क्योंकि कारण देह सबका एक है । अतः स्थूल देह की दृष्टिसे विभिन्नता और कारण देहकी दृष्टीसे अभिन्नता यहां है । कारण देह सबका एक है यह सब शास्त्रों का सिद्धान्त है और प्रत्येक का स्थूल देह भिन्न है यह प्रत्येक का अनुभव है । इस तरह एकत्व और भिन्नत्व की व्यवस्था है । यही ज्ञान व्यक्तिवाद और समष्टिवाद की व्यवस्था अथवा समन्वय करनेमें सहायता करनेवाला है ।

स्थूल दृष्टिसे भिन्न और कारण दृष्टिसे एक

इस तात्त्विक विवरणसे इस बातकी सिद्धता हुई कि मनुष्य स्थूल शरीरकी दृष्टिसे स्वतंत्र है, तथापि कारण शरीरकी दृष्टिसे सब मानवोंकी एकता है ।

इसलिये प्रत्येक मनुष्य स्वतंत्र भी है और उनका समूह सामूहिक दृष्टिसे एक भी है ।

प्रत्येक मनुष्य स्थूल शरीरकी दृष्टिसे व्यक्तिशः स्वतंत्र है, परंतु कारण शरीरकी दृष्टिसे सब मानव एक हैं । इससे अपने मानवी व्यवहारमें क्या परिणाम हो सकता है, वह देखना चाहिये ।

स्थूल देहका संबंध स्नान खान पान से रहता है । इस विषयमें प्रत्येक मनुष्य स्वतंत्र है ऐसा मानकर ही व्यवहार होना चाहिये । प्रत्येक के लिये स्नान, भोजन, रहन, सहन, व्यायाम, आराम आदि स्थूल शरीर की आवश्यकताएं

मिलनी चाहिये। मनुष्यके शरीर की आवश्यकताके अनुरूप भोजनादिकी व्यवस्था उसको प्राप्त होनी चाहिये । अर्थात् बालक तरुण वृद्ध, तथा प्रयासका कार्य करनेवाले तथा बैठे रहनेवाले के लिये एक ही भोजन उपयोगी नहीं होता । इस लिये यह व्यक्तिगत आवश्यकतानुरूप ही भोजनादि होना योग्य है

स्थूल और सूक्ष्म देह प्रत्येकका पृथक् पृथक् है । इसकी आवश्यकताएं सामूहिक नहीं हो सकती । प्रत्येक को विद्या-ध्ययन स्वतंत्रतासे करना चाहिये, ज्ञानविज्ञान प्रत्येक को स्वतंत्रतासे प्राप्त करना चाहिये। शरीरकी स्वच्छता, मनकी पवित्रता, विचारोंकी शुद्धता के लिये प्रत्येक को व्यक्तिशः ही यत्न करना चाहिये । इस तरह वैयक्तिक उन्नतिके लिये यत्न करना प्रत्येक व्यक्तिके लिये आवश्यक है। व्यक्तिको दबाकर उसकी उन्नतिके प्रयत्न में हस्तक्षेप करना किसीको योग्य नहीं है। वैयक्तिक जीवन की मर्यादा यह है । प्रत्येक व्यक्तिको इस मर्यादामें रहकर अपने जीवन की उच्चता प्राप्त करनी चाहिये । यह स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीरकी की सुस्थितिकी बात है। प्रत्येक को इस विषयमें स्वतंत्रता से अपनी उन्नतिके लिये यत्न करना चाहिये । इस तरह व्यक्तिशः प्रयत्न हुए, व्यक्तिकी उन्नति हुई, तो इसके पश्चात् व्यक्तिकी शक्तियां किस प्रयोजनके लिये लगनी चाहिये । वह प्रयोजन सार्वजनिक सेवा है।

जनता की सेवा

व्यक्ति अंग है और समाज अंगी है। अंग की उन्नति होने पर उस व्यक्तिकी शक्तिसे समाजकी सेवा होनी चाहिये । मान लीजिये कि व्यक्तिने अपने स्वतंत्र प्रयत्नों के द्वारा ज्ञान, बल, धन और कर्म करनेकी कुशलता प्राप्त की । इतना होनेके पश्चात् उस व्यक्तिने समाज के लिये कुछ भी नहीं किया । तो उस समाज की आनन्द प्रसन्नता नहीं होगी । वह समाज उस कारण दुःखी ही रहेगा। अनेक सुयोग्य उन्नत हुए मानवोंकी सेवा से ही जनता सुख को प्राप्त कर सकती है । संपूर्ण समाजको आनन्द प्रसन्न अवस्थामें रखना ही मानवी उन्नति का अन्तिम ध्येय है । यह तब साध्य हो सकता है कि जिस समय परम उन्नतिको प्राप्त हुई व्यक्तियां समाज की सेवा के लिये अपने आपको अर्पण करें । समाज की उन्नति की कुछ बातें निश्चित हुई हैं-

आदर्श समाज

१ समाज में पूर्ण निर्भयता स्थिर होनी चाहिये, किसी तरह कहींसे भी भय नहीं होना चाहिये, **(न तत्र भयं)**

२ समाज में बालमृत्यु, अपमृत्यु, रोग आदिका भय नहीं रहना चाहिये, **(न मृत्युः)**

३ समाज में अतिदीर्घ आयुवाले पुरुष अच्छी शारीरिक अवस्था में रहने चाहिये, **(न जरा)**

४ खान पान के अच्छे पौष्टिक और आरोग्यवर्धक पदार्थ प्रत्येक को जितने चाहियें उतने प्राप्त होने चाहिये । खान-पान के कष्ट नहीं होने चाहिये, **(न अशनाया-पिपासे)**

५ समाज आनन्द प्रसन्न सुदृढ बलवान नीरोग और पुरुषार्थी होना चाहिये **(शोकातिगो मोदते)**

समाज में ये बातें स्थिर होनी चाहिये । कोई मनुष्य इनसे वंचित नहीं रहना चाहिये । यह तब हो सकता है कि जब समाजकी सेवा होती रहे और उसको करनेवाले श्रेष्ठ योग्यतावाले पुरुष पर्याप्त संख्यामें मिलें । राष्ट्र में केवल श्रेष्ठ पुरुष रहने से ही कार्य नहीं चलेगा, परंतु उन श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा राष्ट्रकी अखण्ड सेवा होनी चाहिये तब वह राष्ट्र सुखी हो सकेगा ।

स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म शरीर प्रत्येक मनुष्यके लिये पृथक् पृथक् है इस हेतु से इन दोनों शरीरोंकी शक्तियोंका विकास करनेके लिये प्रत्येक मनुष्यको स्वातंत्र्य मिलना चाहिये । इस स्वातंत्र्य से वह अपने दोनों शरीरोंको पूर्ण विकसित करे । यह उसका विकास होने पर वह विकसित मनुष्य अपने विकसित सामर्थ्यका उपयोग समाज की शक्ति बढानेके लिये तथा पूर्वोक्त पांच प्रकारकी उन्नतियाँ करने के लिये करे, यह इसलिये कि सबका कारण शरीर एक है, सब मानव समाज का एक ही कारण शरीर है । इसलिये जब तक मानवसमाज पूर्ण उन्नत नहीं रहता, परंतु छोटे छोटे अपने गुट बनाकर परस्पर स्पर्धा और युद्ध करता रहेगा, तब तक इस समाज के दुःख दूर नहीं होंगे । इस समय मानवोंके ऐसे गुट बने हैं और वे झगडे बढा रहे हैं । यह नहीं होना चाहिये ।

चार वर्ण और चार आश्रम

मानव समाजमें छोटे छोटे गुट हों, पर वे एक ध्येय की पूर्ति के लिये कार्य करते जांय । जैसे आर्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार वर्ण हैं । ये चार रहन सहनसे यद्यपि पृथक् थे तथापि इनका ध्येय एक ही था । एक कार्य के लिये यत्न करते थे । जिस तरह एक शरीरमें ज्ञान-ग्रहण करनेवाला सिर, संरक्षण करनेवाले बाहु, रक्त तैयार करके शरीरका पोषण करने के लिये पेट और कर्म करने के लिये पांव हैं । वैसे ही ज्ञानका प्रचार करने के लिये ज्ञानी ब्राह्मण, संरक्षण करनेवाले क्षत्रिय, धन धान्यसे पोषण करनेवाले वैश्य और कर्ममें कुशल शूद्र ये चार वर्ण राष्ट्र में हैं । व्यक्ति के शरीरके गुण विकसित होकर ये वर्ण बने हैं । इसलिये एक मनुष्य के अन्दरके ये चार गुण जिस तरह एक दूसरे को मारक नहीं होते, उसी तरह ये चारों गुणी जन राष्ट्र के लिये पोषक ही होते हैं । अतः ये गुट सहायक होते हैं ।

ऐसे ये गुट सहाय्य करनेवाले हैं । परंतु स्पर्धा करनेवाले गुट सुखका नाश करते हैं, संहार भी करते हैं । इसलिये चार वर्ण आर्योंके समाज की शक्ति बढाते रहे थे । और वैसे आज हों तो जिस समाज में वे होंगे उसकी शक्ति वे बढाते ही रहेंगे । इसी तरह आश्रम चार हैं और वे सभी सहायक ही हैं ।

सामाजिक उन्नति

कारण शरीरने सब मानवोंको बांध रखा है । इसलिये मानव समाज की एकता स्वीकार करके अपना कार्यक्रम करना चाहिये । यह मानव समाज अंगी है और एक एक व्यक्ति उसके अंग हैं । व्यक्तिकी इतिकर्तव्यता समाजकी उन्नतिके लिये अपना समर्पण करना है । अंग की इतिकर्तव्यता अंगीकी उन्नतिमें अपना कर्तव्य करना है । इसी तरह एक मानव व्यक्तिकी इतिकर्तव्यता मानवसमाज की पूर्वोक्त प्रकार उन्नति करनेमें अपनी शक्तियों का समर्पण करनेमें है ।

असंभूति और संभूतिका यह संबंध है, व्यक्ति समष्टिका यह मेल है । व्यक्तिवाद और समाजवाद का यह समन्वय है ।

असंभूतिसे व्यक्ति के दुःख दूर होते हैं और संभूतिसे समाज अमर होता है । यह जो पूर्वोक्त मंत्रका कथन है । उसका ऐसा अनुभव देखा जा सकता है ।

तत्त्वोंका अज्ञान

युरोप अमेरिका निवासी मनुष्योंको प्रत्येक व्यक्तिके अन्दर तीन शरीर हैं, वे स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर और कारण शरीर हैं । इनमें स्थूल और सूक्ष्म शरीर प्रत्येक व्यक्तिके पृथक् पृथक् हैं और कारण शरीर सब मानवोंका एक है । इस आर्य तत्त्वज्ञानको ये यूरोपवासी जानते ही नहीं । वे समझते हैं कि यहां मनुष्य हैं और उनका मानव समाज है । व्यक्ति स्वातंत्र्यवादी व्यक्तिको पूर्ण स्वतंत्र करना चाहते हैं, और ये समाजसंघटना का नाश करते हैं । समाजवादी समाजसंघटना करके मानव समाजको विशेष बलवान बनानेका यत्न करके अपना संघबल बढाने के लिये व्यक्तिकी स्वतंत्रताको नष्ट करके मनुष्यको केवल एक जीवित यंत्र बनाते हैं ।

दुःखका कारण

इनमें अन्यान्य मत मतांतर संमिलित हैं । ये मतवाले एक दूसरेका द्वेष करके दूसरेका पूर्ण नाश करके स्वयं स्थायी रहनेके इच्छुक हैं । इन झगडोंके कारण मानव समाज युद्धोंकी अग्नि से जल रहा है और दुःखी हो रहा है ।

समन्वयसे शाश्वत सुख

ऐसी अवस्थामें यह वैदिक धर्मका सिद्धान्त यदि उनके समझमें आजायगा, कि स्थूल सूक्ष्म शरीरके क्षेत्रतक मनुष्य व्यक्ति स्वातंत्र्यका भोग कर सकता है, परंतु कारण शरीरके क्षेत्र में मानव समाज स्वभावतः एक अभिन्न अनन्य तथा अखंड है इसलिये उस समूह का हित करनेके लिये मानव व्यक्तिको अपनी शक्तियों का समर्पण करना चाहिये । इस तरह व्यक्तिवाद और समाजवाद का समन्वय वैदिक धर्मने किया है और वह सत्य तत्त्वज्ञान की बुनियाद पर किया है अतः यह सुख देनेवाला है ।

युरोप अमेरिकाके लोग यह समझेंगे तो उनके झगडे दूर होंगे और उनकी शक्ति मानवी उन्नति करनेमें लग जायगी और निःसंदेह विश्वका कल्याण होगा ।

यह सत्य सनातन तत्त्वज्ञान भारतीय आर्योंके पास है ।

परंतु ये भी यूरोपके ही मार्गोंसे जा रहे हैं । अतः इनको भी यह आर्य तत्त्वज्ञान समझाना चाहिये ।

संभूति और असंभूति इन दोनोंका समन्वय हितकारी है । इसलिये व्यक्तिभावसे व्यक्तिके दुःख दूर करो और संघभावसे अमरत्वको प्राप्त करो । इस तरह का समन्वय ही हमें अपने वैयक्तिक और सामुदायिक आचरण में लाना चाहिये ।

विवादोंसे संतप्त हुए जगत को सच्ची शान्तिका यह वेदका सन्देश है । जो इसको अपनायेंगे वे आनन्दमय प्रसन्नतायुक्त शान्ति प्राप्त करेंगे ।

प्रश्न

१ व्यक्तिवादका स्वरूप क्या है ?

२ समाजवाद का वर्णन करो ?

३ साम्यवाद किसे कहते हैं ? और राष्ट्रीय समाजवाद क्या है ?

४ ' मम-सत्यं ' क्या है ?

५ ' मम-सत्यं ' में लोग क्या करते हैं ?

६ प्रभु किसकी सहायता करता है ?

७ यज्ञका क्या लक्षण और फल क्या है ?

८ व्यक्ति स्वातंत्र्यका क्या परिणाम होता है ?

९ समाजवाद का सिद्धान्त क्या है ?

१० व्यक्तिवाद और समाजवादके हानि और लाभ क्या है ?

११ व्यक्ति किस तरह समाजके आधारसे रहती है ?

१२ जगत् और जगतीका संबंध क्या है ?

१३ संभूति और असंभूतिका अर्थ क्या है ? इनके पर्याय शब्द कौनसे हैं ?

१४ संभूति और असंभूतिमें रमनेवालोंका अधःपतन कैसे होता है ?

१५ अपने शरीरकी घृणा मनुष्यको क्यों होती है ?

१६ कौन अन्य मनुष्योंसे संपर्क छोडता और एकान्तमें ही रहता है ?

१७ ब्रह्मचर्य और संन्यास कौन पसंद करते हैं ?

१८ विभेदोंकी वृद्धि और सामूहिक निर्बलता कहां होती है ?

१९ केवल संघटनाके भक्तोंका परिणाम क्या होता है ?

२० मानवताकी हानि किस कारण होती है और उसको टालनेका उपाय क्या है ?

२१ संभूति असंभूतिमें समन्वय कैसा होगा ?

२२ अमरत्वकी प्राप्ति कैसी होती है ?

२३ क्या कभी व्यक्ति अमर हो सकती है ?

२४ वैयक्तिक प्रयत्नोंसे किस तरह दुःख दूर होंगे ? यह उदाहरणोंसे सिद्ध करो ।

२५ योगसाधन, वैयक्तिक है या सामुदायिक ? या दोनों ?

२६ सार्वजनिक जीवन में योगसाधन कौनसा है ?

२७ अपरिग्रह का अर्थ क्या और इससे लाभ कौनसा होता है ?

२८ अंग अंगी संबंध कैसा है ?

२९ विश्वरूप किसका रूप है ?

३० ज्येष्ठ ब्रह्मका रूप कौनसा है ?

३१ ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र ये विराट् पुरुष के कौनसे अवयव हैं ?

३२ विश्वजीवन एक कैसा है ?

३३ क्या व्यक्तिसत्ता मारती है अथवा सुरक्षित रखती है ?

३४ व्यक्ति कहांतक स्वतंत्र है ?

३५ मनुष्यके देह कितने हैं ? उनमें वैयक्तिक देह कितने और सामुदायिक कितने ?

३६ भेदोंमें अभेद और अभेदोंमें भेद किस तरह है ?

३७ व्यक्तिको सार्वजनिक सेवा क्यों करना चाहिये ?

३८ आदर्श समाजमें कौनसे लक्षण होते हैं ?

३९ चार वर्णों और चार आश्रमोंके कर्म कौनसे हैं ? और उनसे कौनसे लाभ होते हैं ?

ऋषि दर्शन

ऋग्वेदमें अनेक ऋषियोंके दर्शन हैं। प्रत्येक पुस्तकमें एक एक ऋषिका तत्त्वज्ञान, संहिता-मंत्र, अन्वय, अर्थ और टिप्पणी है। निम्नलिखित ग्रंथ तैयार हुए हैं। आगे छपाई चल रही है—

१ मधुच्छन्दा	ऋषिका	दर्शन	मूल्य	१) रु.	२ मेधातिथि	ऋषिका	दर्शन	मूल्य	२) रु.
३ शुनःशेप	,,	,,	,,	१) ,,	४ हिरण्यस्तूप	,,	,,	,,	१) ,,
५ कण्व	,,	,,	,,	२) ,,	६ सव्य	,,	,,	,,	१) ,,
७ नोधा	,,	,,	,,	१) ,,	८ पराशर	,,	,,	,,	१) ,,
९ गोतम	,,	,,	,,	१) ,,	१० कुत्स	,,	,,	,,	२) ,,
११ त्रित	,,	,,	,,	१) ,,	१२ संवनन	,,	,,	,,	०॥) ,,
१३ हिरण्यगर्भ	,,	,,	,,	०॥) ,,	१४ नारायण	,,	,,	,,	१) ,,
१५ बृहस्पति	,,	,,	,,	१) ,,	१६ वागाम्भृणी	,,	,,	,,	१) ,,
१७ विश्वकर्मा	,,	,,	,,	१॥) ,,	१८ सप्त	,,	,,	,,	०॥) ,,

१९ वसिष्ठ ऋषिका दर्शन मूल्य ७) रु. [प्रत्येकका डा. व्य. अलग रहेगा।]

यजुर्वेदका सुबोध भाष्य

अध्याय १ श्रेष्ठतम कर्मका आदेश १॥) रु. अध्याय ३२ एक ईश्वरकी उपासना अर्थात् पुरुषमेध १॥) रु.
,, ३६ सच्ची शांतिका सच्चा उपाय १॥) रु. अध्याय ४० आत्मज्ञान-ईशोपनिषद् २) ,,

डाक व्यय अलग रहेगा।

(३) संपूर्ण अथर्ववेदका सुबोध भाष्य मूल्य २६) रु. डा. व्य. ४) रु.

वेदके व्याख्यान

१ मधुच्छन्दा ऋषिका अग्निमें आदर्श पुरुषका दर्शन।
२ वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त।
३ अपना स्वराज्य।
४ श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति और सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घायु।
५ व्यक्तिवाद और समाजवाद। ६ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ये व्याख्यान तैयार हैं। दूसरे तैयार हो रहे हैं। [प्रत्येक व्याख्यानका मूल्य ।=) छः आने और डा० व्य० =) दो आने]

उपनिषदोंके ग्रन्थ

१ ईश उपनिषद् मूल्य २) रु. डा. व्य. ॥)
२ केन उपनिषद् मूल्य १॥) रु. डा. व्य. ॥)
३ कठ उपनिषद् ,, १॥) रु. डा. व्य. ॥)
४ प्रश्न उपनिषद् ,, १॥) ,, ,, ,, ॥)
५ मुण्डक उपनिषद् ,, १॥) रु. डा. व्य. ॥)
६ माण्डूक्य उपनिषद् ,, ॥) ,, ,, ,, =)

मंत्री- स्वाध्यायमण्डल, आनन्दाश्रम, किल्ला-पारडी (सूरत)

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवलेकर, बी. ए., भारत-मुद्रणालय, आनन्दाश्रम, किल्ला-पारडी (जि. सूरत)



वैदिक व्याख्यान माला - छठा व्याख्यान

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

(विश्वमें स्थायी शान्ति स्थापन करनेका कार्यक्रम)

लेखक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

स्वाध्याय-मण्डल, 'आनन्दाश्रम', किल्ला-पारडी, जि. सूरत

मूल्य छः आने

शान्तिकी इच्छा

प्रत्येक मनुष्य शान्ति चाहता है। पर नहीं मिलती और अशान्ति बढ रही है। इसलिये यहां वैदिक ऋषि-मुनियोंने सोचा और सिद्ध किया हुआ शान्ति स्थापन करनेका मार्ग बतानेका यत्न किया है। पाठक इसका अधिक विचार करेंगे और अनुष्ठान करेंगे, तो निःसंदेह शान्ति स्थापन की जा सकती है।

पढो और प्रयत्न करो।

स्वाध्याय-मण्डल
किल्ला-पारडी (जि. सूरत) लेखक
१।६।५२

ॐ

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

भारतवर्षमें सर्वत्र पूजा, उपासना, आराधना करनेके पश्चात् बडे आवाजसे " ओ ३ ऽ ऽ ऽ ऽ म्; शा ३ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ न्तिः; शा ३ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ न्तिः; शा ३ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ न्तिः " ऐसा गर्जना करके कहते हैं। सन्ध्या करनेके अन्तमें, उपासनाके अन्तमें, प्रवचनके अन्तमें इस तरह त्रिवार शान्तिका उच्चारण किया जाता है। कई स्थानोंपर जहां सामुदायिक उपासना करते हैं, वहां उपासनाकी समाप्तिके पश्चात् सब मिलकर इस शान्तिका घोष त्रिवार करते हैं। सब हिंदु वे सनातनधर्मी हों, आर्यसमाजी हों, या नवमतवादी धार्मिक हों, वे अवश्य इस त्रिवार शान्तिका घोष करेंगे। इस त्रिवार शान्तिमें ऐसा एक मंगलस्वर है, कि जो इसका घोष एकाग्र मनसे करता है, उसके मनमें सचमुच शान्तिके लिये स्थान हुआ है ऐसा प्रतीत होता है। उसको इसके बोलनेके समय इस शान्तिके आस्वादका अनुभव होता है।

त्रिवार शान्तिका ध्येय

इस त्रिवार शान्तिका ध्येय क्या है ? यह शान्ति पद तीन ही वार क्यों बोला जाता है, उसके पूर्व ' ओं ' कार क्यों बोला जाता है ? इसका हेतु क्या है ? किस साध्यका यह साधन है ? इसका विचार करनेसे पता लग सकता है कि, तीन स्थानोंमें शान्ति स्थापन करनेके लिये यह तीन वार शान्ति पदका घोष किया जाता है।

१ शान्तिः— व्यक्तिमें शान्ति स्थापन करनी है,

२ शान्तिः— राष्ट्रमें शान्ति स्थापन करनी है, और

३ शान्तिः— जगत्में शान्ति स्थापन करनी है।

यह त्रिवार शान्तिका अर्थ, उद्देश्य और ध्येय है। मनुष्य इस पृथ्वीपर उत्पन्न हुआ है, वह इन तीनों शान्तियोंकी स्थापना यहां करनेके लिये ही जन्मा है। पृथ्वीपर इन तीनों शान्तियोंकी स्थापना होनी चाहिये। यहां इस पृथिवीपर अशान्ति रहनी नहीं चाहिये। यह इस पृथिवी पर शान्तिस्थापन करनेका कार्य यहां रहनेवाले मनुष्योंको ही करना चाहिये। यह कार्य यहां कोई दूसरे स्थानसे आकर कर नहीं सकेगा।

आध्यात्मिक कष्ट

इस समय हम देख रहे हैं कि व्यक्तिके शरीरमें नाना प्रकारके रोग होते हैं, इन्द्रियोंकी कमजोरियां हैं, मनमें काम क्रोध लोभ मोह मद तथा मत्सर आकर बडा कोलाहल मचा रहे हैं, कुविचार कुमतियां और कुबुद्धियां यहां निवास कर रही हैं, पापसंकल्प वारंवार किये जाते हैं, कुकल्पनाएं वारंवार आकर सता रही हैं। इस तरह एक व्यक्तिमें अशान्ति, दुःख कष्ट भोगने पड रहे हैं। इनसे कोई छूटता नहीं। इनका नाम आध्यात्मिक दुःख हैं। ये दूर होने चाहिये और आध्यात्मिक शान्ति, आनन्द और प्रसन्नता मनुष्यको प्राप्त होनी चाहिये। ये आध्यात्मिक कष्ट शरीर, इंद्रियां, मन, बुद्धि, पाचन, उत्सर्जन आदि अवयव और उनकी क्रियाओंके संबंधसे हो रहे हैं। कोई मनुष्य ऐसा मिलेगा नहीं कि, जो इन कष्टोंसे बचा हो। मनुष्यने इनसे बचनेके लिये वैद्यशास्त्र, चिकित्साके अनंत उपाय निर्माण किये हैं, पर उपायोंकी अपेक्षा रोग ही अधिक बढ रहे हैं और मनुष्योंको दिन रात दुःख दे रहे हैं जिनसे यह मानव सर्वदा अशान्त हो रहा है।

आधिभौतिक कष्ट

अब दूसरी अशान्ति राष्ट्रीय अशान्ति है। इस विषयमें हरएक राष्ट्रमें पीडा है। हडतालें हो रही हैं, मजदूरोंके संघर्ष चल रहे हैं, राजा प्रजाके उपद्रव बढ रहे हैं, पूंजी-

पति और कर्मचारियोंके वैमनस्य वढ रहे हैं, युद्ध खडे हो रहे हैं, नये नये संहारक अस्त्र मानव संहारके लिये निर्माण किये जा रहे हैं। युद्धके साधन बढाये जा रहे हैं, समझोतेके लिये सभायें होती हैं उनमेंसे ही युद्धकी ज्वाला भडक उठती है। शान्तिके प्रस्तावसे संघर्ष नये नये रूप धारण करके प्रजाजनोंको कष्ट दे रहे हैं। विवाह विच्छेद होकर कुटुंबकी बुनियाद ही टूट जाती है, इसका विचार करनेके लिये भी किसीको समय नहीं है। व्यापार व्यवहारमें काला बाजार हो रहा है और गरीबोंका संसार टूट रहा है। धन-का मूल्य कम हो रहा है और महर्घता बढ रही है। मनुष्योंके अन्दरकी मानवता नष्ट होकर पशुता बढ रही है। स्त्रियोंका सामुदायिक अपहरण होकर सहस्रों कुटुंब दुःखाग्नि में जल रहे हैं, पर इसकी पर्वाह किसीको नहीं है। प्राचीन समयमें सिंहव्याघ्रादि क्रूर पशुओंका ही भय था। पर मानवी सिंहव्याघ्रोंकी क्रूरता उससे भी अधिक हो रही है।

यह आधिभौतिक कष्टोंका स्वरूप है। प्राणिमात्रसे होने-वाले कष्ट आधिभौतिक कहलाते हैं। इस कष्टका संक्षेपसे स्वरूप यह है। यह हरएक राष्ट्रमें है। अब आधिदैविक कष्टोंके विषयमें देखिये—

आधिदैविक कष्ट

आधिदैविक कष्ट सब प्रकारके जागतिक कष्ट हैं। भूचाल, अग्निदाह, बिजलीके पतनसे आग, अतिवृष्टी, अना-वृष्टि, नदीकी बाढ, समुद्रमें जहाजोंका डूबना, विमानोंका पतन, भूमिका विदीर्ण होना, ज्वालामुखीका उद्रेक आदि अनेक प्रकारके ये कष्ट हैं। पञ्चमहाभूतोंसे जो उपद्रव होते हैं वे सब इसमें आते हैं। झंझावात, अग्निकाण्ड, ओलोंकी हिमवृष्टी, उससे शस्यका नाश, कृमीयोंके कारण वनस्पतियोंका नाश, सूर्यके तापसे नाश, अतिशीतसे नाश ये सब इस आधिदैविक कष्टोंमें शामील हो सकते हैं। विज्ञानसे जो संहारक शस्त्र निर्माण हो रहे हैं वे वास्तवमें आधिदैविक हैं, परंतु उनका प्रयोग मनुष्य करते हैं, इस-लिये उनका समावेश आधिभौतिक कष्टोंमें भी हो सकता है। सारांशसे आधिदैविक दुःखोंका यह स्वरूप है।

मनुष्योंको ये सब कष्ट दूर करनेके लिये यत्न करना चाहिये। मनुष्यकी उत्पत्ति इसी कार्यके लिये हुई है। यहां आकर मनुष्यको जो पुरुषार्थ करना है वह यही है। आध्यात्मिक दुःख अपने शरीरके अन्दर होते हैं, आधिभौ-तिक दुःख इस पृथ्वीपर, राष्ट्रमें अथवा बाहर प्राणियोंसे होते हैं और आधिदैविक दुःख पृथिवी, आप, तेज, वायु आदि देवताओंके कारण होते हैं। ये तो होते ही रहेंगे। और मनुष्यको इन्हें हटानेके लिये सतत दक्षतासे प्रयत्न करना ही चाहिये।

क्या ऐसा प्रयत्न अकेला मनुष्य कर सकता है, या सामू-हिक रूपसे राष्ट्रीय शासन शक्तिद्वारा इसके लिये प्रयत्न करना चाहिये। इसका विचार अब करना चाहिये। हमारे इतने विचारसे यह सिद्ध हुआ कि, (१) मनुष्यके शरीर के अन्दरके दुःखोंको दूर करनेका कार्य स्वयं मनुष्य कर सकता है, (२) राष्ट्रके अन्दर होनेवाले दुःखोंको राष्ट्रके शासक दूर कर सकते हैं और (३) राष्ट्रके बाहरके सब दुःखोंको दूर करनेका कार्य राष्ट्रसमूह कर सकता है।

जागतिक शान्ति

हम सब ' ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ' ऐसी घोषणा करते हैं, पर विचार करनेसे पता लग सकता है कि हमारे त्रिविध दुःखोंको दूर करनेका साधन हरएक व्यक्ति-के पास नहीं होता है। प्रथम ' जागतिक शान्ति ' के विषयमें सोचेंगे। विश्वशान्तिके दो विभाग हैं। एक वह अशान्ति है कि जो दो राष्ट्रोंके संघर्षसे उत्पन्न होती है और दूसरी वह कि जो अनावृष्टि अतिवृष्टि आदि दैवीकारणोंसे होती है। इसमें एक व्यक्ति क्या कर सकती है ? अनेक प्रबल राष्ट्र मिलकर इस विषयमें कुछ कर सकते हैं। इस समय रशिया और अमेरिका ये दो राष्ट्र प्रबल हैं और प्रभावी भी हैं। ये मिलकर विश्वशान्तिकी योजना करना चाहें तो कर सकते हैं। जागतिक युद्ध ये बंद भी कर सकते हैं और शुरू भी कर या करवा सकते हैं। आज पृथ्वीपर इन-को छोडकर दूसरा कोई ऐसा नहीं है कि, जो जागतिक शान्तिकी स्थापना या जागतिक शांतिका विनाश कर सकता है। इसके अतिरिक्त भूचाल, ज्वालामुखी, नदीकी बाढ आदिके लिये उपाय योजना करना है तो भी ये जो दोचार बडे बडे राष्ट्र हैं वे ही मिलकर विज्ञानकी सहायतासे कुछ कर सकते हैं। कोई एक व्यक्ति इस कार्यको कर सके ऐसा इस समय इस पृथ्वीपर नहीं है।

रशिया तथा अमेरिकाके अतिरिक्त कोई अन्य राष्ट्रके मन्त्री या कोई प्रधानमंत्री भी इस जागतिक शान्तिका कार्य नहीं कर सकते, फिर अन्य व्यक्ति नहीं कर सकेंगे, इसमें संदेह ही क्या है ? इस तीसरी शान्ति द्वारा वैदिक धर्मने लोगोंपर कितना बडा दायित्व रखा है वह देखिये। वैदिक धर्ममें इतना बडा कार्यक्रम रखा है जो मानवोंको करना चाहिये। हर कोई कहेगा कि इस जागतिक शान्तिके कार्यक्रमको न तो व्यक्तिशः हम निभा सकते हैं और न संघशः पूर्ण कर सकते हैं। इस कार्यक्रमको करनेके लिये जितनी शक्ति चाहिये, उतनी शक्ति हममें नहीं है। जो राष्ट्र विश्वभरमें अत्यंत प्रबल राष्ट्र होंगे, वेही मिलकर इस विश्वमें शान्ति रखनेके कार्य कर सकते हैं। उनसे भिन्न कोई मनुष्य जागतिक शान्तिके लिये प्रयत्न भी नहीं कर सकता, फिर इसको पूर्णतया निभाना तो बहुत ही दूरकी बात है। इतने महत्त्वका यह कार्यक्रम है।

राष्ट्रीय शान्ति

जागतिक शान्ति एक व्यक्ति नहीं स्थापन कर सकती है तो न सही, परंतु राष्ट्रमें शान्ति तो एक व्यक्ति स्थापन कर सकती है, ऐसा कोई कह सकते हैं। पर वह भी सत्य नहीं। राष्ट्रमें गुण्डोंका उपद्रव, चोर, खूनी, डाकू, आदि दुष्ट लोगोंके उपद्रव एक व्यक्ति किस तरह दूर कर सकती है ? व्यक्तिकी शक्ति इस कार्यके लिये पर्याप्त नहीं है। जिस समय राष्ट्रकी शासक शक्ति राष्ट्रमें शान्ति स्थापन करनेके लिये अपनी सब शक्ति लगायेगी, गुण्डोंका दमन करेगी, सज्जनोंका परित्राण करेगी, शान्तिकी स्थापना करेगी, उस समय राष्ट्रमें शान्तिस्थापन हो सकेगी। अर्थात् यहां भी एक व्यक्तिका सामर्थ्य पर्याप्त नहीं है। राष्ट्रकी संपूर्ण शक्ति राजाके अथवा महामंत्रीके आधीन रहती है। उसकी आज्ञासे वह राष्ट्रशासन शक्ति कार्य करनेमें प्रेरित होती है। इसलिये राष्ट्रमें शान्ति स्थापन करना या न करना यह सब राजा अथवा महामंत्रीके अधीन है। दूसरी किसी व्यक्तिके अधीन नहीं है।

तीसरी शांति जागतिक है और यह दूसरी शान्ति राष्ट्रीय है। ये दोनों शान्तियां किसी भी एक व्यक्तिके प्रयत्नसे सिद्ध होनेवाली नहीं हैं। राष्ट्रीय शान्ति शासककी प्रेरणासे सिद्ध हो सकती है और जागतिक शान्ति प्रबल राष्ट्रोंके शासकोंके संघटित प्रयत्नसे सिद्ध हो सकती है। व्यक्ति कितनी भी आत्मिक शक्तिसे युक्त क्यों न हो, वह इन शान्तियोंकी स्थापना नहीं कर सकती। राष्ट्रशासकोंके संघटित प्रयत्नोंसे ये दोनों शान्तियोंकी स्थापना हो सकती है, अन्यथा नहीं। अब वैयक्तिक शान्तिके विषयमें देखिये—

वैयक्तिक शान्ति

आध्यात्मिक शान्ति व्यक्तिके शरीर, इंद्रियां, मन, बुद्धि तथा आत्माके अन्दरकी शान्ति है। इसलिये इसको वैयक्तिक शान्ति कह सकते हैं। कई लोग कहते हैं योग आदि साधनोंके अनुष्ठानसे यह वैयक्तिक शान्ति प्राप्त हो सकती है। परंतु इसमें भी कई बातें विचार करने योग्य हैं।

योगसाधन करनेसे वैयक्तिक शान्ति प्राप्त हो सकती है यह सत्य है, पर योगसाधन कहां हो सकता है, देखिये-

योगसाधनके लिये योग्यस्थान

सुभिक्षे धार्मिके देशे। यो० प्रदीपिका

' जिस देशमें अच्छा अन्न मिलता है और जिस देशमें धार्मिक राज्यशासन है, जहां धार्मिक लोग रहते हैं। उस देशमें योगसाधन हो सकता है। ' हरएक स्थानपर योगसाधन नहीं हो सकता। जिस देशपर धार्मिक शासकोंका राज्य नहीं है, जहां गुण्डोंका राज्य है, मारपीट, खून, डाके, आदि जहां होते रहते हैं, जहां शान्ति नहीं रहती, जहां उत्तम अन्न मिलता नहीं, वहां योगसाधन नहीं हो सकता। योगसाधन करनेके लिये आदमी बैठ जांय, और बाहर मारपीट चलती रहे, जाळपोळ होती रहे, लूट और डाके होते रहें, तो इस साधकको अपने जीवनकी सुरक्षितता नहीं रहेगी और ऐसी अशान्तिमें यह योगसाधन कभी नहीं कर सकेगा ! फिर इसे ऐसे गुण्डोंके देशोंमें योगसाधनसे शान्ति किस तरह प्राप्त हो सकेगी ? इसलिये वैयक्तिक शान्ति भी योगसाधन पर निर्भर है और योगसाधन उक्त कारण उत्तम राज्यशासनसे ही होनेवाला है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि व्यक्तिमें शान्ति, राष्ट्रमें शान्ति और जगत्में शान्ति ये तीनों शान्तियां उत्तम सुयोग्य राज्यशासनसे ही सिद्ध होनेवाली हैं। विना उत्तम सुयोग्य राज्यशासनके ये शान्तियां सिद्ध होनेवाली नहीं हैं।

अब तीसरी शान्तिमें और एक विभाग है, उसका विचार करनेका कार्य शेष है। वह है भूचाल, ज्वालामुखी, विद्युत्पतन, अतिवृष्टी आदि अशान्तिको दूर करना। यह भी राजाश्रयसे ही हो सकेगा तो हो सकेगा। व्यक्तिके प्रयत्नसे इसमें कुछ होगा ऐसा दीखता नहीं है। इसका कारण यह है कि इसका प्रबंध करनेके लिये जो व्यवस्था करनी पडेगी वह अत्यंत व्ययसे होनेवाली है और उतना व्यय कोई एक व्यक्ति कर नहीं सकती।

बडे प्रबन्धोंका कार्य

जैसा अनावृष्टीका प्रतीकार नहर आदिके प्रबंधसे हो सकता है, अतिवृष्टीका प्रतीकार जलके लिये उत्तम पर्याप्त विस्तृत गमन मार्ग कर देनेसे हो सकता है। इस तरहके बडे बडे प्रबंध करनेका कार्य शासक संस्थाके द्वारा हो सकता है। यह कार्य व्यक्तिकी शक्तिसे होनेवाला नहीं है। इन आपत्तियोंमें कई आपत्तियां ऐसी हैं कि उनका प्रतीकार करनेके साधन मनुष्यके पास इस समय नहीं है। जैसे प्रचंड वायु प्रकोपको रोकनेका कार्य मनुष्य कर नहीं सकता, क्योंकि उसके पास आज वायुवेगको रोकनेके साधन अधिक व्यय करनेपर भी नहीं है। अस्तु इसका तात्पर्य यह है कि ये सब आपत्तियोंको रोकनेके प्रबंध शासकसंस्था कर सकेगी, तो ही होंगे। व्यक्तिके प्रयत्नसे इसमें कुछ भी बननेवाला नहीं है। जो व्यक्तिके अन्दर परिणाम करनेवाला योगसाधन है, वह भी सुराज्यमें ही होनेवाला है, गुण्डोंके जहां उपद्रव होते रहते हैं, वहां योगसाधन भी नहीं होगा। फिर अन्य साधनोंका तो निःसंदेह राजाश्रय पर ही अवलंबन है। सारांशसे यह कह सकते हैं कि, इन तीनों शान्तियोंकी साधना राज्यशासक शक्ति पीछे रही, तो ही हो सकती है, अन्यथा नहीं हो सकती।

बलसे होनेवाला कार्य

इससे पता लग सकता है कि 'ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः' का घोष करनेसे राजकीय दायित्व हमारे पर कितना आता है। प्रत्येक वैदिकधर्मीको इसका विचार करना चाहिये और यह दायित्व निभानेके लिये कटिबद्ध रहना चाहिये। यदि आप इन तीनों शान्तियोंकी घोषणा करनेकी इच्छा करते हैं, तब तो आपको अपने पीछे प्रबल शासनसंस्थाको खडा करना चाहिये। नहीं तो निर्बलकी घोषणासे क्या बनेगा? जगत्के अन्दर निर्बल रह सकेगा या नहीं यह भी संदेह है। क्योंकि बलसे ही यहां सब खडे हैं, बल चला जाय तो सब नीचे गिर जांयगे। खडा रहकर कार्य करना बलसे होनेवाली बात है। इसी तरह तीनों शान्तियोंकी स्थापना करना बलसे ही होनेवाला कार्य है।

पुरुषार्थका धर्म

'ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः' यह घोषणा तो कोई निर्बल भी कर सकेगा, पर इस घोषणाकी पूर्णता करना, विना राजकीय शक्तिके विशेष प्रबल रूपमें पीछे रहे, नहीं हो सकता। वैदिक धर्ममें रहनेवाले सब व्यक्तियोंको, जो समय समयपर इन तीन शान्तियोंका घोष करते हैं, उनको इस दायित्वकी उत्तम कल्पना आनी चाहिये। **वैदिक धर्म पुरुषार्थका धर्म है पुरुषार्थ प्रयत्न करने वाले ही यहां यशस्वी होंगे।** जो आलसी और दुर्बल रहेंगे, वे पीछे पडेंगे। अब हमें देखना है कि इन तीनों शान्तियोंकी स्थापना करनेकी साधना किस तरह करनी चाहिये।

वैदिक धर्म सामुदायिक जीवनका धर्म है। यह केवल वैयक्तिक जीवनका धर्म नहीं है। वैयक्तिक जीवन और सामुदायिक जीवनका समविकास इसमें हैं। समाजवादियोंकी तरह यहां व्यक्तिको दबाकर समाजकी ही संघटनाशक्तिका विकास करनेका यत्न करनेकी घातक मनीषा यहां नहीं है और न वैयक्तिक विकासवादियोंकी तरह, यहां समाजकी ओर पूर्ण दुर्लक्ष्य करके वैयक्तिक गुणविकास करनेकी मूर्खता भी यहां नहीं है। यहां वैदिक धर्ममें तो व्यक्तिके गुणोंका पूर्ण विकास करनेका कार्यक्रम परिपूर्ण रीतिसे बनाया है और सामाजिक तथा राष्ट्रीय विकासका भी उत्तम कार्यक्रम है। समविकास करनेका यह धर्म है। इसलिये इसमें किसी बातमें अधूरापन नहीं है। ऐसा यह समविकासका वैदिक धर्म मनुष्योंको व्यक्ति, राष्ट्र और विश्वमें स्थायी शान्ति स्थापन करनेका उत्तम कार्यक्रम दे रहा है।

वैयक्तिक शान्ति

वैयक्तिक शान्तिका अर्थ व्यक्तिके शरीरके अन्दरकी शक्तियोंकी शान्ति, समता अथवा अस्वस्थताका दूर होना। व्यक्तिके शरीरमें प्रथम स्थूल शरीर है जो बाहरसे दीखता

है। स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर ये तीन शरीर एक दूसरेके अन्दर हैं। स्थूल शरीरमें सूक्ष्म और कारण शरीर भरपूर व्यापक हैं। इनको ही अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, और आनन्दमय कोश कहते हैं।

कोशका अर्थ थैली; ये थैलियां एक दूसरेके अन्दर हैं। अन्नमय कोश यह स्थूल शरीर है जो अन्नसे पुष्ट होता है, प्राणमय कोश इसके अन्दर है, जो जलसे तथा प्राणवायुसे पुष्ट होता है। मनोमय शरीर मन ही है, चित्त, मन, अन्तःकरण अहंकार ये यहां हैं। विज्ञानमय कोश बुद्धि है और आनन्दमय कोश आत्मा ही है।

स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर कहो, अथवा अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय-आनंदमय कोश कहो, तो भी भाव एक ही है। इसी विषयको हम आधुनिक रीतिसे वर्णन करते हैं।

स्थूल--शरीर

प्रथम स्थूल शरीर लीजिये। हरएक प्राणी इसे देख सकता है। इसीसे व्यवहार करता है। प्रतिदिनके अनुभवसे वह जानता है कि स्थूल शरीर स्वस्थ रहा तो हमारे सब कार्य ठीक तरह होते हैं नहीं तो नहीं होते। इस स्थूल शरीरमें नाना प्रकारके रोगोंकी संभावना है। किसी न किसी अशुद्धिके होनसे यहां रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अशुद्धिके दूर होनेसे रोग चले भी जाते हैं।

आयुर्वेद

इन रोगोंको हटानेके लिये ऋषियोंने आयुर्वेद बनाया है। यह विशेषतः स्थूल शरीरकी चिकित्सा करता है। कचित् मानसचिकित्साका भी अन्तर्भाव इसके कार्यमें होता है। शारीरिक चिकित्सामें इंद्रियोंकी चिकित्सा आचुकी है। युरोप अमेरिकाका चिकित्साशास्त्र भी बढ रहा है। अनेक चिकित्साके साहित्योंसे यह शास्त्र उपयोगी सिद्ध हुआ है। इसमें एक एक इंद्रियके विशेष ज्ञानी चिकित्सक हैं। शस्त्र वैद्य भी अच्छे अच्छे हैं। यह सब आयुर्वेद, अलोपथी और यूनानी चिकित्सा इसलिये हो रही है कि, इससे शरीर और इंद्रियां उत्तम अवस्थामें रहें और मनुष्यको सुदृढ शरीरके साथ उत्तम नीरोग और कार्यक्षम इंद्रियां मिलें और इसको दीर्घायु प्राप्त हो। केवल शरीर और इंद्रियोंकी स्थायी शान्ति स्थापन करनेके लिये कितने शास्त्र हुए हैं और कितने साधन बढ रहे हैं, देखिये। कोई एक मनुष्य अपने जीवनमें इसमें पारंगत नहीं हो सकता, इतना इस चिकित्सा शास्त्रका विस्तार हुआ है, और प्रतिदिन यह बढ रहा है। यह किसलिये हो रहा है? यह मनुष्यके शरीरमें स्थायी शान्ति स्थापन हो इसलिये यह सब संभार है। कितने ग्रंथ, कितने विद्वान् और कितने साधन मनुष्यके आध्यात्मिक अर्थात् शरीर और इंद्रियोंमें स्थायी शान्ति स्थापन करनेके लिये लग रहे हैं।

योगसाधनका मार्ग

इतने ही नहीं परंतु ऋषिमुनियोंने योगसाधनका और एक उत्तम मार्ग शुरू किया है। जिसके आसन तथा धौति बस्ती, त्राटक आदि साधन शरीर और इन्द्रियोंके स्थानमें स्वस्थता और स्थायी शान्तिस्थापन करनेके लिये ही महामुनि पतञ्जलि आदिकोंने सिद्ध किये हैं। धौतीसे पेट और पेटके ऊपरका अन्ननलिकाका मार्ग स्वच्छ और निर्दोष होता है। बस्तीसे नीचेका पेटका भाग निर्दोष होता है। त्राटकसे आंख निर्दोष होते हैं। इस तरह पञ्चशुद्धिसे सब शरीर शुद्ध पवित्र और निर्दोष होता है। नीरोग और स्वस्थ होता है और शुद्धताका आनन्द मनुष्यको मिलता है।

आसनसे शरीरकी नसनाडियां, पुट्ठे आदि भाग निर्दोष और बलवान होते हैं। स्वस्थ होते हैं और रोगोंको दूर करनेकी शक्ति इस शरीरमें बढाते हैं। यह योगशास्त्र ऋषि-मुनियोंकी देन है जो आध्यात्मिक उन्नतिका साधन करनेके लिये सुयोग्य शरीरका निर्माण करता है।

(चित्र पृष्ठ ६-७-१५ पर देखो)

पाठक यहां देखें कि मनुष्यका शरीर स्वस्थ रखनेके कार्य के लिये कितना विस्तृत कार्य करना पडता है। इस ज्ञानकी परिपूर्णता कोई एक मनुष्य अपने जीवनमें नहीं कर सकता। इतना यह विस्तृत ज्ञान है। इतने ज्ञानसे तो शरीरकी स्वस्थता हुई, इंद्रियोंका आरोग्य हुआ। इसके पश्चात् मनको स्वस्थ करनेकी वारी आती है।

मनकी स्वस्थता

वेदमें कहा है—

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः। यजु. ५।१४



(१) प्रणाम ।



(२) जानुनास ।



(३) एक पाद प्रसरण ।



(५) साष्टांग प्रणिपात ।



(४) तुलितवपु ।



(६) कशेरुसंकोच ।

(९) जानुनास ।
आसन दो देखो ।



(७) कशेरुविकसन ।



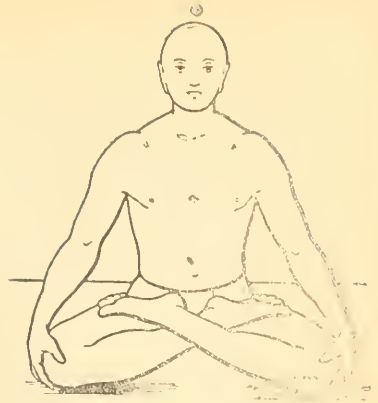
(८) एक पाद प्रसरण ।



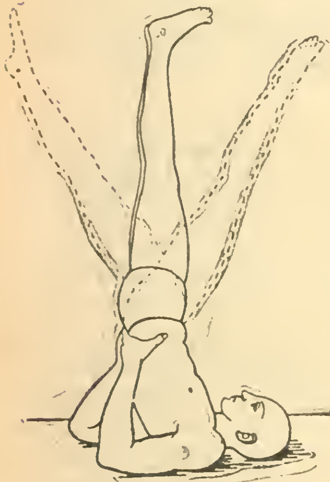
(१०) प्रणाम ।



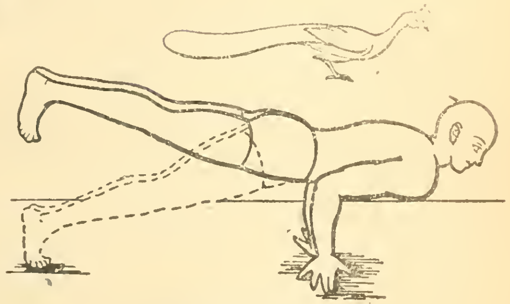
मत्स्येंद्रासन।



पद्मासन।



सर्वांगासन।



हंसासन। मयूरासन।



सर्पासन।



वृश्चिकासन।

'मनका योग करते हैं, बुद्धिका योग करते हैं' ऐसा जो कहा है वह मनकी स्वस्थता स्थापन करनेके लिये कहा है। मन अत्यन्त चञ्चल है, उसको स्वस्थ और शान्त करना बडा कठिन कार्य है। इसलिये इसके पूर्व आसन, प्राणयाम और प्रत्याहारका अभ्यास है। आसनाभ्याससे शरीरकी चंचलता दूर होती है और शरीरमें स्थैर्य आकर एक प्रकारका अपूर्व आनन्द मिलता है। प्राणायामसे मन स्थिर करनेमें बडी सहायता होती है, इसलिये कहा है कि—

चले वाते चलं चित्तं
निश्चले निश्चलं भवेत्। यो० प्रदीपिका

'प्राणकी गति चञ्चल होनेसे मन चञ्चल होता है और प्राण स्थिर हुआ तो मन स्थिर होता है' यह नियम होनेसे मनके स्थिरीकरणके लिये प्राणके स्थिरीकरणकी आवश्यकता है, इसलिये आसनसे शरीरको स्थिर करनेके बाद प्राणायाम का अनुष्ठान कहा है। इससे मन शान्तिका अनुभव करने लगता है। इसके पश्चात् प्रत्याहारका अभ्यास कहा है। विषयोंसे इन्द्रियों और मनको निवृत्त करना और अपने स्थानमें अथवा पवित्र आलंबन पर स्थिर करनेका यह अनुष्ठान है। इससे मनकी चञ्चलता दूर होती है। ध्यानधारणा समाधि ये आगेके अभ्यास हैं। जो मनको स्वस्थता और शान्ति देनेवाले हैं।

मनुष्यके शरीरमें अवयव, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और आत्मा इतने पदार्थ होते हैं। इनमें शान्तिस्थापन करनेकी सूचना पहिले 'शान्ति' पदने की है। उसका विचार यहां तक संक्षेपसे हुआ। इससे पता लगा कि इस कार्यके लिये नाना शास्त्रोंका अभ्यास करना आवश्यक है। किसी एक व्यक्तिके प्रयत्नसे इतना अध्ययन नहीं हो सकता। यह तो अनेक विद्वानोंके साहचर्य और सहकारितासे होनेवाला कार्य है। इसके साथ साथ राष्ट्रशासन भी ऐसा होना चाहिये कि जिसमें रहकर एक व्यक्ति अपनी उन्नतिके लिये यथेच्छ योगसाधन उत्तम रीतिसे कर सके। राष्ट्रमें शान्ति हो, समता और न्याय हो, वैयक्तिक अनुष्ठानके लिये आवश्यक स्वतंत्रता हो। अनुष्ठानके लिये सब साधनोंकी अनुकूलता हो। गौका दूध तथा घी यथेच्छ प्राप्त हो। शालीके चावल आदि योगान्न पर्याप्त प्रमाणमें मिलता हो। किसी तरह गुण्डोंका उपद्रव न हो। योगसाधनके मठोंकी सुरक्षा शासनके सुप्रबंधसे होती रहे। ऐसी सब अनुकूलता रहेगी, तो योगसाधन होगा और मनुष्यको अपने अन्दरकी शान्तिका लाभ प्राप्त होगा।

अन्यथा योगसाधन हो नहीं सकेगा। चारों ओरसे गुण्डे आते हैं, हमला करते हैं, मारपीट हो रही है, धान, चावल, दूध, घी की न्यूनता है, जो मिलता है वह खानेके लिये मिलेगा ऐसा प्रबंध नहीं है। तो योगसाधन नहीं होगा और वैयक्तिक अशान्ति बनी रहेगी।

वैयक्तिक शान्तिके साथ योगशास्त्र, मानसशास्त्र, इंद्रिय विज्ञान, शरीरशास्त्र, आयुर्वेद, आदि शास्त्रोंका संबंध है। आरोग्य व्यवस्था राष्ट्रमें उत्तम हो, सुरक्षा हो, सस्ताई हो, झगडे फिसाद न हों, ऐसा होनेपर इस योगसाधनसे वैयक्तिक शान्तिका लाभ हो सकता है।

राष्ट्रीय शान्ति

व्यक्तिमें शान्ति योगसाधनसे स्थापित हो सकती है, पर योगसाधनका अनुष्ठान (सुभिक्ष धार्मिके राष्ट्रे) जहां सस्ताई है ऐसे धार्मिक राष्ट्रमें हो सकता है। जहां धार्मिक राज्यशासन है, वहां योगसाधन हो सकता है, यह हमने देखा। अब राष्ट्रीय अथवा सामाजिक शान्ति किस तरह स्थापन होती है वह देखिये। राष्ट्रीय शान्ति स्थापन करनेका मुख्य कार्य राज्यशासन द्वारा ही किया जा सकता है। राष्ट्रीय शान्तिके कार्यका प्रारंभ शिक्षाविभागसे होता है—

शिक्षा मंत्रीका कार्य— राष्ट्रमें सुशिक्षाका प्रचार और प्रसार सर्वत्र अच्छी तरह होना चाहिये। शिक्षामंत्रीका यह कर्तव्य है। सुशिक्षाके लिये योग्य ग्रन्थोंका निर्माण करना, सब बालकों और युवकोंको उसका प्रदान करके सुशिक्षित बनाना यह राष्ट्रीय शान्तिके लिये अत्यंत आवश्यक है। यह शिक्षा विभाग स्वतंत्र ऋषियोंके आधीन होता था। शासक उसका संरक्षण करे, पर उसके सुधारका भार स्वतंत्र वृत्तीके ऋषियोंपर रहे। गुरुकुलों द्वारा सुशिक्षाका फैलाव वैदिक समयमें होता था। और गुरुकुल राजाके द्वारा सुरक्षित परंतु विद्यावृद्धि करनेमें स्वतंत्र रहते थे। ऐसी व्यवस्था हरएक राष्ट्रमें रहनी चाहिये। नहीं तो राज्यशासकों के आधीन शिक्षाका कार्य जायगा और वे अपने रजोगुणसे पवित्र शिक्षाको कलुषित करेंगे, जिससे स्पर्धा और संघर्ष

बढेगा और सत्त्वगुण वृद्धिसे होनेवाली शान्ति कदापि स्थापन नहीं होगी। अस्तु राष्ट्रीय शान्ति इस सुशिक्षाके फैलाव पर अवलंबित है, जो सुशिक्षा सबको मिलनी चाहिये। सब जनता ज्ञानविज्ञानसंपन्न, सत्त्वगुण युक्त, स्वकर्तव्यको करनेवाली और शान्तिप्रिय होनी चाहिये, तब राष्ट्रमें शान्ति रह सकेगी।

गृहमंत्रीका कार्य— राष्ट्रके अन्दर सुरक्षा रहनी चाहिये। राष्ट्रमें—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥ गी०

'राष्ट्रमें सज्जनोंका संरक्षण होना चाहिये, दुष्टोंका दमन होना चाहिये और वर्ण तथा आश्रमोंके कर्तव्योंका उत्तम रीतिसे पालन लोगोंके द्वारा होता रहे ऐसी सुव्यवस्था होनी चाहिये। अन्दरके गुण्डे लोग कभी उपद्रव न कर सकें और वे सज्जनोंको उपद्रव न दे सकें इतनी सुरक्षा राष्ट्रमें रहनी चाहिये। यह गृहमंत्रीका कार्यक्षेत्र है। यह इनके द्वारा ही हो सकता है। एक व्यक्ति इसमें क्या कर सकती है?

राष्ट्र सुरक्षा— राष्ट्रके अन्तर्गत सुरक्षा रही तो भी बाहरसे कोई शत्रु अपने राष्ट्रपर आक्रमण न करे और अपने राष्ट्रकी शान्तिका भंग न कर सके ऐसा प्रबंध रहना चाहिये। आन्तरिक सुरक्षाके लिये आरक्षकोंका सुप्रबंध रहना चाहिये और बाहरके शत्रुओं-को प्रतिबंध करनेके लिये उत्तम सेना सुसज्ज रहनी चाहिये। यह युद्धमंत्रीका कार्यक्षेत्र है। राष्ट्रमें दुर्गोंकी सुव्यवस्था, स्थान स्थानमें सेना विभागोंका रक्षण, समुद्रपर सागर सेना और वैमानिक सेना आदि सर्वत्र चतुरंग बलकी सुसज्यता रहेगी, तो बाहरके शत्रु दब जायंगे और वे मित्रभावसे बर्ताव करने लगेंगे। अपनी युद्धकी तैयारी जितनी उत्तम रहेगी, उतने बाह्य शत्रु उपद्रव नहीं करेंगे। पर यदि अपनी निर्बलता रहेगी, तो उसी समय बाहरके शत्रु प्रबल होंगे और वे हमला करेंगे। ऐसी अवस्थामें एक एक व्यक्ति कितना भी शान्तिके लिये प्रयत्न करता रहेगा, तो भी वे सब प्रयत्न व्यर्थ जायंगे। इसलिये अपने राष्ट्रकी युद्धकी तैयारी अच्छी रही तो ही शान्तता रहनेकी संभावना है। वैदिक धर्ममें इन्द्रका कार्य देखिये, वह अपनी मरुतोंकी सेना सर्वदा सुसज्य रखता है, शत्रुका पूर्ण नाश करता है, शत्रुको भगाता है, शत्रुके नगरों और कीलोंका नाश करता है, अपने अनुयायियोंकी गौवें चुरानेवालोंको उग्र दण्ड देता है, उनसे गौवें वापस लाकर देता है। आदि कार्य हैं जो अपने राष्ट्र-को सुरक्षित रखते और शान्ति प्रदान करते हैं।

राष्ट्रमें ज्ञानी, शूर, व्यापारी और शिल्पी ऐसे चार प्रकारके लोग रहेंगे। उनमें शूर क्षत्रियों पर ही अन्दरके और बाहरके शत्रुओंको दूर करनेका भार रहता है। ये क्षत्रिय युद्धमें लगे रहनेपर भी नागरिक व्यवहार, अन्य तीन संघोंके नगरमें सुरक्षित रहनेके कारण, सुरक्षित रहता है। पर इसमें एक आपत्ति है, वह यह कि क्षत्रियसंघ पर ही युद्धका भार पडता है और बाकीकी जातियां आक्रमणकर्ता शत्रुको रोक नहीं सकती। इस कारण क्षत्रियोंका पराभव होते ही सब राष्ट्र शत्रुके आधीन हो जाता है। इस आपत्तिको हटानेके लिये राष्ट्रके सब लोगों-को स्वसंरक्षणार्थ युद्ध करनेकी शिक्षा कुछ मर्यादा तक मिलनी चाहिये। जिससे क्षत्रियोंका पराभव होनेपर भी अन्य नागरिक अपना संरक्षण कर सकेंगे और शत्रुको अन्दर घुसने न देंगे। अर्थात ब्राह्मण-वैश्य-शूद्रोंको आपत्कालमें स्वसंरक्षण करनेके लिये शस्त्र ग्रहण और शस्त्र प्रयोग करने-की विद्या मिलनी चाहिये और क्षत्रियोंको तो युद्धविद्यामें प्रवीणता प्राप्त करनी चाहिये।

मनुका आदेश

शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते।
द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते॥
आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च संगरे।
स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन् धर्मेण न दुष्यति॥

मनु० ८।३४८-९

'विप्लव उत्पन्न होनेपर द्विजातीके लोगोंको भी हाथमें शस्त्र लेना चाहिये और अपना संरक्षण करना चाहिये। आत्मरक्षण, स्त्री विप्र आदिके संरक्षणके लिये, गौ आदि पशुओंके संरक्षणके लिये शस्त्र लेकर शत्रुका वध किया तो उसका दोष कर्ताको लगता नहीं है।' इस तरह आप-त्कालमें सब लोगोंको शस्त्रग्रहण करके स्वसंरक्षण करने-का अधिकार है और वह योग्य है। इससे यह स्पष्ट हो रहा है कि राष्ट्रमें युद्ध करनेकी शिक्षा तो सामान्यतः सब-को मिलनी चाहिये, परंतु क्षत्रियोंको विशेष मिलनी

चाहिये। सब लोग स्वसंरक्षण करनेके लिये तैयार रहने चाहिये। जब सब जनता ऐसी जाग्रत रहेगी, तब राष्ट्रमें शान्ति स्थापित हो सकती है।

राष्ट्रके शासन करनेमें राजा अथवा राष्ट्राध्यक्ष और उसके सब मंत्री लगे रहें, और अच्छी तरह उन्होंने राष्ट्रका शासन किया तो यह शान्ति स्थिर रह सकती है। हमने ऊपर दो तीन मंत्रियोंके कार्यका ही उल्लेख किया है, पर सभी मंत्री एकनिष्ठासे इस कार्यको करने लगे, तो राष्ट्रमें शान्ति रह सकती है। हमने विस्तार न हो इसलिये दो तीन मंत्रियोंके कार्यका उल्लेख किया है। राष्ट्रके अन्दरका प्रत्येक कार्य करनेवाला राष्ट्रमें शान्ति स्थापन करनेके लिये प्रयत्नशील होना चाहिये, तब यह कार्य होनेवाला है। राष्ट्रमें थोडेसे गुण्डे उठ खडे हुए तो वे भी अशान्ति मचा सकते हैं। इसलिये प्रत्येकको अपना कर्तव्य करना चाहिये।

राष्ट्रीय शान्ति चिरस्थायी रहनेके लिये ऐसा बडा दायित्व सब सामान्यतः प्रजाजनोंपर तथा विशेषतः शासकोंपर है। इतने प्रयाससे राष्ट्रीय शान्ति स्थापन हो सकती है। यह केवल 'शान्ति' के शब्दोच्चार मात्रसे नहीं हो सकती, यह तो इतने विवरणसे पाठक जान सकते हैं।

जागतिक शान्ति

अब रही तीसरी विश्वशान्ति। इसमें सब राष्ट्रोंने मिलकर शान्ति स्थापन करनेका यत्न करना चाहिये। तब इस भूमंडल पर शान्ति स्थापन हो सकती है। यदि बडे बडे राष्ट्रशासक न मिलेंगे, और भूमंडल पर शान्तिस्थापन करनेके लिये पराकाष्ठाका यत्न नहीं करेंगे, तो विश्वशान्ति होना बडा कठिन कार्य है। प्रत्येक राष्ट्रशासक जबतक अपना स्वार्थ ही देखेगा, और अपने स्वार्थसाधनके लिये जितना चाहिये उतने अनर्थ करता जायगा, तो विश्वशान्तिकी आशा कैसी की जा सकती है? मनुष्यके अन्दरका स्वार्थ कम हो और सबमें शान्ति स्थापन करनेकी प्रबल इच्छा हो, तब यह विश्व शान्ति स्थापन हो सकती है।

विश्वशान्तिमें भूचाल, अतिवृष्टी, अनावृष्टि सूर्यका प्रचण्डताप, झंझावात, जलकी प्रचंड बाढ आदि अनेक आपत्तियां हैं। इनका निवारण करनेका प्रयत्न सब राष्ट्रोंके सामूहिक रीतिसे ही हो सकता है। अन्यथा इसमें सफलता होनेवाली नहीं है।

शासक शक्तिकी सहायता

यहां तकके विवरणसे हमने देखा कि व्यक्तिमें शान्ति स्थापन करनेका कार्य हो, समाजमें या राष्ट्रमें शान्ति स्थापन करनेका कार्य हो अथवा विश्वशान्तिका प्रयत्न करना हो, ये सब कार्य राष्ट्रकी अथवा राष्ट्रोंकी शासन शक्तियां मिलेंगी और सामूहिक रूपसे कार्य करेंगी, तभी यह कार्य हो सकता है, अन्यथा नहीं होगा। व्यक्तिकी सदिच्छासे यह कार्य होनेवाला नहीं। पर यह यहां स्पष्ट करना चाहिये कि यदि व्यक्तिमें सदिच्छा है तो व्यक्तिको शान्तिके लिये यत्न करना चाहिये और शान्तिके विचार फैलानेका यत्न करना तो व्यक्तिके अधीन ही है।

शान्तिके विचारोंकी जाग्रति तो व्यक्ति कर सकती है। यह तो करना ही चाहिये। पर यह भी यदि शासक शक्ति इसके पीछे रही, तो ही इसमें सफलताकी संभावना अधिक हो सकती है। वैदिक धर्मने इन तीन शान्तियोंकी घोषणा करके कितना बडा कार्यक्रम करनेका भार लोगोंपर रखा है, यह देखिये। यह कर्तव्य इस लोकमें सुख शान्ति स्थापनार्थ करना चाहिये यह वेदका आदेश है देखिये—

द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष९ँ शान्तिः पृथिवी शान्तिः-
आपः शान्तिरोषधयः शान्तिः वनस्पतयः
शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः
सर्व९ँ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः
सा मा शान्तिरेधि ॥ वा० य० ३६।१७

'द्यु, अन्तरिक्ष और पृथिवी पर शान्ति हो, जलमें शान्ति हो, औषधि वनस्पतियोंमें शान्ति हो, सब सूर्य आदि देवोंसे शान्ति प्राप्त हो, ज्ञान शान्ति स्थापन करनेवाला हो, सब जो भी यहां है वह शान्तिकी स्थापना करनेमें सहायक हो और जो शान्ति हो वह सच्ची शान्ति हो, ऐसी सच्ची शान्ति मुझे प्राप्त हो।' यह वेदका कथन बडा मननीय है। इसका थोडासा अधिक मनन करना चाहिये।

त्रिलोकीमें शान्ति

द्युलोकमें सूर्यादि देवता हैं, वहां शान्ति हो। सूर्यपर किसी कारण धब्बे आने लगे, तो उसका परिणाम वायुमण्डल पर तथा पृथिवीपर होता है और बडे कष्ट उत्पन्न होते हैं, इसलिये द्युलोकमें ऐसा कोई उत्पात न हो, कि जिससे यहां

कष्ट होने लग जांय। यह इच्छा उत्तम है। पृथ्वीपरका जीवन ही सूर्य की जीवन शक्तिपर अवलंबित है इसलिये द्युलोकमें शान्ति रही तो पृथ्वीपर शान्ति रहेगी। इसलिये इस मंत्रमें क्रमसे कहा है कि " द्यौः शान्तिः, अन्तरिक्षं शान्तिः, पृथिवी शान्तिः " यह योग्य ही है। यदि सूर्यलोकमें अशान्तिका प्रारंभ हुआ, तो मनुष्य वहां क्या कर सकता है? इसलिये यहां दिव्य परमात्मशक्तिसे प्रार्थना है कि द्युलोक और अन्तरिक्षलोकमें शान्ति रहे और तदनुरोधसे पृथिवीपर भी शान्ति रहे। इसके नंतर कहा है कि- ' आपः शान्तिः ओषधयः शान्तिः वनस्पतयः शान्तिः' अर्थात् औषधिजल और वनस्पतियोंमें शान्ति रहे।

जलका महत्त्व

जल एक प्रकारका जीवनरस है। यह एक अद्भुत औषधि-रस ही है। इसलिये कहा है-

> अप्सु मे सोमो अब्रवीत्
> अन्तर्विश्वानि भेषजा।
> अग्निं च विश्वशंभुवम्
> आपश्च विश्वभेषजीः। ऋ०

' सोमने कहा कि जलमें सब प्रकारकी औषधियां हैं। अग्नि सब प्रकारका कल्याण करनेवाला है और जलमें सब औषधियां हैं।' ऐसा यह प्रभावी जल शान्ति स्थापन करे, रोग दूर करे, आरोग्य देवे, बल बढावे और अशान्ति दूर करे। यह जलका कार्य है। शरीरमें क्या और विश्वमें क्या जलसे शान्ति होती है। प्रखर धूपके पश्चात्, ग्रीष्मसमयके नंतर जब वर्षा होती है, उस समय सर्वत्र एक दम शान्ति होती है। इसी तरह शरीरके दोष दूर करके शरीरमें जल जाकर विषमता दूर करता है और समता स्थापन करता है। इस तरह जल शान्तिस्थापन करनेवाला है। जलका रस ही औषधि वनस्पतियोंमें जाकर नाना प्रकारके रसोंसे मिलकर शरीरान्तर्गत दोषोंको धोडाल-कर (ओषधीः दोषं धयन्ति) शरीरको निरोगिता प्रदान करना जलसे ही होता है। विश्वमें कितना महान् समता स्थापन करनेका कार्य यह जल कर रहा है वह देखने योग्य है।

" विश्वेदेवाः शान्तिः " सब देव शान्ति स्थापन करें। पृथिवी, आप, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र आदि सब देवता यहां शान्ति स्थापन करें, यह इसका तात्पर्य है। अग्नि और वायु ये जबतक शान्त रहते हैं तबतक ठीक है, परंतु जब ये ही भडक जाते हैं तब ये ही बडी अशान्ति उत्पन्न करते हैं। इसी तरह प्रत्येक देवताके संबंधमें है। इसलिये शान्तिस्थापनमें सब देवोंकी अनुकूलता होनी चाहिये यह इसका आशय है।

ज्ञान शान्तिस्थापन करनेवाला हो

' ब्रह्म शान्तिः ' यह बडा महत्त्वका वचन है। जो ज्ञान यहां हमें प्राप्त होता है, वह शान्ति स्थापन करने-वाला हो, यह इसका तात्पर्य है। इस समय नाना राष्ट्रोंमें जो ज्ञान फैल रहा है, वह वास्तवमें अज्ञान है, अतएव वह भ्रान्ति विद्वेष फैला रहा है। यदि सत्यज्ञान जगत्में फैल जाय, तो वह समता तथा शान्ति फैलानेमें सहायता करेगा। इसलिये इस वेद वचनमें कहा है कि ' ब्रह्म शान्तिः ' ज्ञान शान्ति फैलानेवाला हो। यह सत्य है। इसलिये जगत्में शान्ति स्थापन होनी चाहिये तो सत्यज्ञान, ब्रह्म-ज्ञान, राष्ट्रमें फैलना चाहिये। ज्ञान भी शान्ति बढानेवाला चाहिये। मनुष्य मनुष्यमें, जाति जातिमें, राष्ट्र राष्ट्रमें विद्वेष इस समय फैल रहा है, इसका कारण आजकलका ज्ञान ज्ञानका आभास उत्पन्न करनेवाला, परंतु वस्तुतः अज्ञान ही फैलनेवाला है। इसलिये इस वेदवचनने कहा है कि ' ज्ञान शान्ति देनेवाला हो ' और वह राष्ट्रमें फैले। तब शान्तिस्थापन होनेमें सहायता होगी।

आगे ' सर्वं शान्तिः ' सब जो भी कुछ है वह शान्ति स्थापनके कार्यमें सहायक हो ऐसा कहा है। जो भी प्रयत्न होता है, जो साधन मिलते हैं, जो भी विचार किये जाते हैं, वे सबके सब शान्ति बढानेवाले हों। सब शान्ति और समता स्थापन करनेवाले होंगे, तभी शान्ति स्थापन होगी। उनमें एक भी दुष्ट होगा, दोषी होगा तो वह सबका बना बनाया कार्य बिगाड देगा और उसके कारण अशान्ति फैल जायगी। इसलिये यह वचन बडा महत्त्वपूर्ण उपदेश कर रहा है कि सबके सब शान्ति स्थापनके साधन सचमुच शान्तिके सहायक ही हों।

शान्ति सच्ची शान्ति हो

' शान्तिरेव शान्तिः ' जो शान्ति होगी वह सच्ची

शान्ति होनी चाहिये। यह तो बडा ही उत्कृष्ट तथा अर्थ–पूर्ण वचन है। शान्ति भी भ्रम उत्पन्न करनेवाली होती है जैसी मुर्देकी शान्ति है। यह सच्ची शान्ति नहीं है। यह तो मृत्यु है। हमें मृत्युकी शान्ति, परवशतामें जो अकर्मण्यता होती है वैसी नहीं चाहिये। हमें जीवित अवस्थाकी शान्ति चाहिये। इसलिये कहा है कि शान्ति भी सच्ची शान्ति होनी चाहिये।

ऐसी सच्ची शान्ति 'सा मा शान्तिः एधि' ऐसी उत्तम शान्ति हमें प्राप्त हो। ऐसा शान्तिके विषयमें वेदका कहना है। यह सब मंत्र महत्त्वपूर्ण उपदेश कर रहा है और शान्तिस्थापन करनेका मार्ग यह मंत्र बता रहा है। वेद इस शान्तिके विषयमें और अधिक क्या कहता है वह अब देखिये–

बुद्धि और धन

शं नः पुरंधिः शमु सन्तु रायः।

ऋ० ७।३५।२

'हमारी बुद्धि शान्ति बढानेवाली हो और हमारे धन शान्ति फैलानेके कार्यमें लगें।' यह कितना उत्तम उपदेश है? इस समय लोगोंकी बुद्धि युद्ध बढानेके कार्य कर रही है। राष्ट्रोंके धन युद्धके साधन बढानेके कार्य कर रहे हैं। इसलिये वेद कहता है कि ऐसा नहीं होना चाहिये। बुद्धि और धन शान्तिके कार्यमें लगने चाहिये। तथा—

शं नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु।

ऋ० ७।३५।४

'पुण्य कर्म करनेवालोंके पुण्य कर्म शान्ति स्थापन करनेवाले हों।' नहीं तो वे ही युद्धकी चेतना बढानेवाले होंगे तो कितना अनर्थ होगा। तथा–

शमु सन्तु यज्ञाः... ... शमु अस्तु वेदिः।

ऋ० ७।३५।७

'यह शान्ति करनेवाले हों...और वेदी भी शान्तिका प्रचार करनेवाली हो।' पाठकोंको यहां आश्चर्य प्रतीत होगा कि यज्ञ और वेदी शान्ति स्थापन करनेवाली हो, ऐसा क्यों कहा है? क्या कभी यज्ञसे आपत्ति फैल सकती है? इस विषयमें इतना ही कहना है कि चाणक्यके अर्थशास्त्रमें ऐसे यज्ञ और उनमें हवन करनेके ऐसे हविर्द्रव्य कहे हैं कि ऐसे यज्ञोंसे राष्ट्रमें रोग फैलते हैं और मनुष्य मर जाते हैं, ये यज्ञ शत्रु राष्ट्रमें करनेके लिये हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि ऐसे यज्ञ हैं कि जो अशान्ति फैलाते हैं। इसलिये यहां कहा है कि यज्ञ और वेदी शान्ति स्थापन करनेवाले हों। अर्थात् रोग फैलनेवाले हवन कोई न करें, परंतु आरोग्य बढानेवाले ही यज्ञ किये जांय। तथा और कहा है--

राजा शान्ति स्थापन करे

शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शंभुः।

ऋ० ७।३५।१०

'राष्ट्रका राजा हमारे लिये शान्ति स्थापन करनेवाला हो।' यह तो हमने प्रारंभसे ही देखा है कि इन तीनों शान्तियोंकी स्थापना करनेके लिये शासककी अर्थात् राजाकी अनुकूलता चाहिये। विना राजा शान्तिस्थापनके लिये यत्न करे, किसी एक व्यक्तिके प्रयत्नसे शान्ति स्थापन हो नहीं सकती। इसीलिये यहां कहा है कि राष्ट्रका पति शान्तिस्थापन करनेवाला हो। यह राजा शान्तिस्थापन करनेवाला होगा, तो राष्ट्रमें शान्तिस्थापन होगी, अन्यथा गुण्डपन फैलेगा और अशान्तिके भंवरमें प्रजा त्रस्त हो जायगी। तथा—

शान्ति फैलानेवाली विद्या

शं सरस्वती सह धीभिरस्तु॥ ऋ० ७।३५।१२

'विद्या देवी अनेक लोगोंकी बुद्धियोंके साथ शान्ति स्थापन करनेवाली हो।' सरस्वती विद्या है। बुद्धिवान् लोगोंकी बुद्धियां इस विद्याका ग्रहण करती हैं और विद्याका प्रचार करती हैं। ये बुद्धियां शान्ति करनेवाली होंगी, तो ही अच्छा होगा, अन्यथा उलटा प्रचार होगा। इसलिये इस मंत्रने बडा उत्तम उपदेश दिया है। तथा—

शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु।

शं नः सुकृतः सुहस्ताः। ऋ० ७।३५।१२

'सत्यके संरक्षक और पुण्यकर्म करनेवालोंके सुकृत शान्तिस्थापन करनेवाले हों' इन वचनोंमें वेदने तो बडी ही उत्तम सावधानीकी सूचना दी है। इतिहासमें बहुत वार देखा गया है कि सत्यकी सुरक्षा करनेवालोंके प्रयत्नसे कभी कभी युद्ध छिड जाते हैं और सुकृत करनेवालोंके

उत्तम पुण्यकर्म भी अशान्ति फैलानेवाले होते हैं। इसलिये सत्यके पक्षपातियोंको और सुकृत करनेवालोंको भी अपने कर्मोंका परिणाम कैसा हो रहा है यह देखना चाहिये। नहीं तो ये ही सुकृत और किसी जातिका नाश करनेवाले बनेंगे और शान्तिके स्थानपर विद्वेष और अशान्ति फैलेगी।

अथर्ववेदमें कहा है—

शान्तानि पूर्वरूपाणि शान्तं नो अस्तु कृताकृतम्।
शान्तं भूतं च भव्यं च सर्वमेव शमस्तु नः ॥२॥
इयं या परमेष्ठिनी वाग्देवी ब्रह्मसंशिता।
ययैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः ॥ ३ ॥
इदं यत्परमेष्ठिनं मनो वां ब्रह्मसंशितं। येनैव० ॥४॥
इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि मे हृदि
ब्रह्मणा संशितानि। यैरेव ससृजे घोरं तैरेव
शान्तिरस्तु नः ॥ ५ ॥ अथर्व १९।९

'हमारा किया हुआ कर्म और न किया हुआ परंतु नियोजित किया कर्म यह सब शान्ति करनेवाला हो। परमेष्ठिनी वाग्देवी-वाणी है, इससे घोर परिणाम होते हैं, इसीसे शान्ति स्थापन हो। यह मन है जिसमें ज्ञानकी शक्ति है। इस मनसे घोर परिणाम भी होते हैं यह मन शान्ति स्थापन करनेवाला बने। ये पांच इंद्रिय हैं, मन जिनमें छठा है, ये ज्ञानसे तीक्ष्ण बनते हैं। इनसे घोर परिणाम होता है। ये ही शान्ति स्थापन करनेवाले बनें।'

ये मंत्र बडे अच्छे उपदेश कर रहे हैं और शान्ति स्थापनके कार्यमें योग्य संमति दे रहे हैं। मनुष्यके पास वाणी, मन, पञ्चज्ञानेंद्रिय और पञ्चकर्मेन्द्रिय होते हैं। ये अशान्ति भी फैलाते हैं और शान्ति भी फैलाते हैं। उदाहरणार्थ देखिये कि हमारी वाणी है और उसीका रूप हमारी लेखन कला है। वाणी ही लेखमें लिखी जाती है। यह वक्ताकी वाणी तथा लेखकके लेख जनताको भडकाते भी हैं और भडके हुए लोगोंको शान्त भी करते हैं। ऐसे ही मन, इंद्रियां और मनुष्यकी कृतियां हैं। ये अच्छा भी करते हैं और बुरा भी करते हैं। इसीलिये मन्त्रमें कहा है।

येनैव ससृजे घोरं तेनैव शान्तिरस्तु नः।

'जिससे घोर परिणाम होता है, उसीसे हमारे अन्दर शान्ति स्थापन हो।' यह कितनी उत्तम सूचना है यह मनन करनेवाले पाठक जान सकते हैं। एक एक इंद्रियके विषयमें यह सत्य है। उदाहरणके लिये मनुष्यका प्रजननका इंद्रिय ही देखिये। वंश सुधार करनेके लिये ही यह है। पर इसने कितने घोर परिणाम समाजमें किये हैं देखिये। सब इतिहासमें हुए क्रूर कृत्य इसके कारण हैं। कितने खून, कितनी खराबी और कितनी कतलें इस इंद्रियके घोर परिणामके कारण हुई हैं। पर वास्तवमें यदि यह इंद्रिय अपनी मर्यादामें रहेगा तो जगतमें सुप्रजा उत्पन्न होकर कितना कल्याण होगा, इसका ज्ञान विचार करनेसे विदित हो सकता है। पूर्व स्थानमें 'द्यौः शान्ति' यह यजुर्वेदका मन्त्र दिया है। वैसा ही मंत्र थोडे हेरफेरसे अथर्ववेदमें आया है वह अब देखिये—

पृथिवी शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिर्द्यौः शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे मे देवाः शान्तिः सर्वे मे देवाः शान्तिः शान्तिः शान्तिः शान्तिभिः। ताभिः शान्तिभिः सर्वे शान्तिभिः शमयामोऽहं यदिह घोरं यदिह क्रूरं यदिह पापं तच्छान्तं तच्छिवं सर्वमेव शमस्तु नः ॥ अथ० १९।९।१४

'पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोकोंमें शान्ति रहे, जल, ओषधि और वनस्पति शान्ति बढानेवाली हों, सब देव शान्ति स्थापन करें, शांतिसे सच्ची शांति स्थापन हो। इन शांतिके उपायोंसे सब अशान्ति, घोर, क्रूर और पाप हो वह सब दूर होकर सर्वत्र शुभ ही शुभ हो, सर्वत्र आनन्दमयी शान्ति स्थापन हो जाय।' यह मंत्र पूर्वस्थानमें दिये मंत्र जैसा ही है, पर इसमें थोडे शब्दोंमें परिवर्तन है। पाठक पूर्वोक्त यजुर्वेदके मन्त्रसे इस अथर्ववेदके मंत्रकी तुलना करें और मननपूर्वक बोध प्राप्त करें।

विश्वशान्तिके लिये वेदने जो अनेक आदेश दिये हैं वे ये हैं। इनका मनन करनेसे पता लग सकता है कि यह प्रत्येक व्यक्तिके लिये और प्रत्येक राष्ट्रशासकके लिये यहां भरपूर कार्यक्रम दिया है। व्यक्तिकी उन्नति होनी चाहिये। इस कार्यके लिये योगसाधन, उपासना, वेदाध्ययन, सद्ग्रन्थोंका अध्ययन, सज्जनोंकी संगति आदि साधन हैं। व्यक्तिकी उन्नतिमें बाधा न हो और सामाजिक तथा राष्ट्रीय उन्नतिका साधन होजाय, इसलिये स्वराज्य तथा सुराज्य शासन

की सहायता आवश्यक है। इसीसे राष्ट्रमें तथा राष्ट्रके बाहर शान्ति स्थापन हो सकती है और सब लोग आनन्दमें रह सकते हैं। भयसे मुक्त होकर सुखका अनुभव कर सकते हैं।

सबका कार्य

यह शान्ति स्थापनका कार्यक्रम पृथ्वीके ऊपरके संपूर्ण राष्ट्रोंके लिये है। आज हम एक एक व्यक्ति ' ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ' ऐसा बोलते हैं और कई बडी घोषणा भी करते हैं। पर घोषणा करनेवाले यदि अपनी दिनचर्या देखेंगे, तो उनको स्वयं पता लगेगा कि, वे दिनके एक क्षणमें भी शान्तिस्थापनके वेदद्वारा उक्त कार्यक्रमको तत्परतासे करते नहीं हैं। अनुष्ठान न करनेपर सिद्धि किस तरह प्राप्त हो सकती है ? साधारण खान पान भी योग्य अनुष्ठानके विना सिद्ध नहीं हो सकता, फिर वैयक्तिक-राष्ट्रीय-जागतिक शान्ति विना अनुष्ठानके किस तरह सिद्ध हो सकेगी ? और यदि अनुष्ठान न करनेसे जगत्में शान्ति नहीं हुई, और सर्वत्र अशान्ति और अस्वस्थता, अथवा संघर्ष, स्पर्धा और युद्ध होने लगे, तो हमारे त्रिवार शान्तिका घोष करनेका क्या प्रयोजन होगा ? वैदिक धर्मका एक एक वचन विशेष अनुष्ठानका सूचक है। वेद मंत्रका प्रत्येक पद, वचन और मंत्र एक एक अनुष्ठान बताता है। वह अनुष्ठान मनुष्यको करना चाहिये। मनुष्यपर उस अनुष्ठानको यथा-योग्य रीतिसे करनेका बडा भार है। मनुष्यका नाम ' क्रतु ' है। यह एकसो पचीस वर्ष जीवित रहकर सौ वर्ष सौ क्रतु करके यह ' शतक्रतु ' बननेवाला है। इसका यह ' क्रतु ' नाम इसका जन्म ही अनुष्ठान करनेके लिये है यह बता रहा है। यदि इसका जन्म ही अनुष्ठानके लिये है, तब तो इसको अपना जीवन यज्ञानुष्ठानमें ही लगाना चाहिये।

वेदका कोई शब्द लीजिये, वचन लीजिये किंवा मन्त्र अथवा सूक्त लीजिये, मनुष्यके सन्मुख उन्नतिका परिपूर्ण कार्यक्रम वह रखता है। जो इस अनुष्ठानको करते हैं, वे कृतकृत्य होते हैं। उनका जीवन सफल होता है। जो अनुष्ठान करनेमें दत्तचित्त नहीं रहते, वे असफल होते हैं, और पश्चात्तापसे त्रस्त होते हैं।

अनुष्ठानसे तारण

वैदिक धर्म केवल विश्वाससे तारण नहीं मानता, अनुष्ठानसे ही तारण होनेवाला है। इस निबंधका विषय ' शान्तिः शान्तिः शान्तिः ' है, ये तीन पद इस जगतके व्यवहारमें शान्ति स्थापन करनेके लिये अनुष्ठान बता रहे हैं।

यह कोई अभौतिक सुखके लिये अनुष्ठान नहीं है। मरणोत्तर कुछ अवस्था विशेष प्राप्त करनेके लिये यह अनुष्ठान नहीं है। यहां इस जगत्में जीतेजी अनुभवमें आनेवाले शान्ति समाधानके लिये प्रसन्नतापूर्वक आनन्द प्रसन्नताकी प्राप्तिके लिये यह अनुष्ठान है। इस जीवनमें यह आनन्द मनुष्यको लेना है, इसीलिये यह अनुष्ठान है।

यदि इस जगत्के मनुष्य ' शान्ति ' के त्रिवार उच्चारण करनेसे जो अनुष्ठान सूचित होता है, उस अनुष्ठानको करेंगे और उससे व्यक्तिमें, राष्ट्रमें और जगत्में शान्ति स्थापन करनेमें सफल हो जायंगे, तो उनको जो आनन्द, जो समाधान और जो शांतिका लाभ होगा वह यहां जीतेजी होगा।

सर्वत्र आरोग्य, निर्भयता, नीरोगिता, विपुलता, सुख, क्षेम, शान्ति, प्रसन्नताका आनंद मिलेगा। यही प्राप्त करनेके लिये ही मनुष्यने जन्म लिया है। जो प्रयत्न करेंगे वे सफल होंगे।

ओंकारका महत्त्व

त्रिवार ' शांति ' के पूर्व ' ओं ' कार बोला जाता है। इसका थोडासा मनन करना चाहिये। (अवति इति ओं) संरक्षण करता है वह ओं है। ओंका अर्थ संरक्षण है। ' अव् ' धातुका अर्थ ' रक्षण, प्रगति, कांति, प्रीति, तृप्ति, ज्ञान, प्रवेश, श्रवण, स्वामी होना, याचना, क्रिया, इच्छा, प्रकाशना, प्राप्ति, आलिंगन, दान, स्वीकार, होना, बढना ' आदि हैं। मनुष्य मात्रके जीवनमें ये व्यवहार होते ही हैं। ये व्यवहार करते हुए तीनों शान्तियोंकी स्थापना हो ऐसा प्रयत्न करना चाहिये। इस एक एक अर्थका मनन करके अधिक बोध प्राप्त करनेके लिये इस लेखमें अपने पास समय नहीं है। ओंकारके अर्थोंकी व्याप्ति इतनी विशाल है। ओंकारसे बोधित होनेवाले इतने व्यवहारोंसे शान्ति

स्थापन होनी चाहिये। और इसके विपरीत परिस्थिति निर्माण नहीं होनी चाहिये। इतनी दक्षता धारण करनेकी सूचना यहां इस ओंकारसे मिलती है।

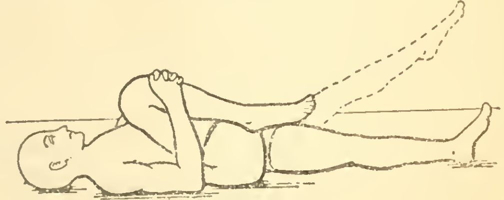
ओंकारमें 'अ-उ-म' ये तीन अक्षर हैं। जाग्रति--स्वप्न--सुषुप्तिका बोध इनसे होता है। यह भाव माण्डूक्य उपनिषद्में कहा है। अर्थात् जाग्रति स्वप्न सुषुप्तिमें उत्तम शान्तिका अनुभव प्राप्त होना चाहिये। यह इसका तात्पर्य है।

'अ' कारसे 'आदि अथवा प्रथम' होना, 'उ' कारसे उत्तम होना और 'म' कारसे मान्य होना यह भाव भी उक्त उपनिषद्में दिया है। उत्तम परिपूर्ण उन्नत होनेका भाव अ--उ--म के अर्थमें है। यह भाव 'ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः' के साथ जोडकर देखिये। इसका विचार पाठक करें और ऐसी उत्तम प्रसन्नताकी शान्ति प्राप्त करें और आदर्श जीवन व्यतीत करें।

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः।

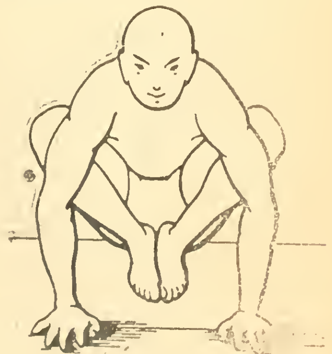
व्यक्तिमें शान्ति हो, राष्ट्रमें शान्ति हो, जगतमें शान्ति हो।


मयूरासन।


पवनमुक्तासन।


पश्चिमोत्तानासन।


हलासन।


बकासन।

प्रश्न

१ शांतिका तीन वार उच्चारण क्यों किया जाता है ?

२ तीन प्रकारके कष्ट कौनसे हैं ?

३ तीन प्रकारके कष्टोंसे मनुष्य किस तरह बच सकता है ?

४ जागतिक शान्तिकी सिद्धिके लिये कौन यत्न कर सकता है ?

५ राष्ट्रीय शान्तिकी स्थापना कौन कर सकता है ?

६ वैयक्तिक शान्ति किस तरह सिद्ध हो सकती है ?

७ योगसाधन किस देशमें हो सकता है ?

८ योगसाधन करनेके लिये अनुकूल परिस्थिति कौनसी है ? वह किस प्रकारके राज्यमें हो सकती है ?

९ विश्वशान्ति कैसी होगी ? कौन करेगा ? उसके साधन कौनसे हैं ?

१० क्या बलके विना शान्ति स्थापन करनेका कार्य हो सकता है ? कौनसे बल चाहिये जिससे शान्ति स्थापन हो सकती है ?

११ वैदिक धर्म व्यक्तिगत धर्म है वा सामुदायिक अथवा दोनों प्रकारका ?

१२ व्यक्तिमें शान्तिके लिये जो योगसाधन आवश्यक है उसका वर्णन करो ।

१३ आयुर्वेदसे कौनसे लाभ होते हैं और कौनसी शान्ति स्थापन हो सकती है ?

१४ मनकी स्वस्थता और शान्तिके लिये कौनसा उपाय करना उचित है ?

१५ राष्ट्रिय शान्ति कौन स्थापन कर सकता है और किस रीतिसे उसकी स्थापना हो सकती है ? इन उपायोंका वर्णन करो ।

१६ ईश्वरके त्रिविध कार्य कौनसे हैं जो राष्ट्रोन्नतिमें साधक होते हैं ?

१७ किस समय द्विजातियोंको शस्त्र धारण करना योग्य है ?

१८ क्या शासक शक्तिकी सहायताके विना कोई शान्ति स्थापन हो सकती है ? हो सकती हैं तो किस तरह और न हो सकती हो तो क्यों ?

१९ विश्व शान्तिकी कौनसी कठिनता हैं ?

२० जलसे कहां शान्ति स्थापन होती है ?

२१ ज्ञानसे कहां शान्ति स्थापन होगी ?

२२ क्या सब प्रकारकी शान्ति हितकारिणी है ?

२३ बुद्धि और धनसे कैसी शान्ति हो सकेगी ?

२३ शान्ति स्थापन करनेकी इच्छा करनेवाले किस तरह व्यवहार करें ?

२५ ओंकारका अर्थ क्या है ?

२६ तीनों शान्तियोंका परस्पर संबंध कौनसा है ?

२७ अ उ म् से किसका बोध होता है ?

२८ त्रिलोकीमें पदार्थोंका मानवी उन्नतिके साथ कौनसा संबंध है ?

२९ पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोकमें कौन कौनसे पदार्थ हैं कि जो मानवके लिये अत्यंत आवश्यक हैं ? जिनके विना जीवन नहीं चल सकता ऐसे पदार्थ कौनसे हैं ?

३० बाह्य विश्व और मानव शरीरका परस्पर संबंध क्या है ? वह संबंध बताओ ।



श्रीमद्भगवद्गीता ।

इस '**पुरुषार्थ-बोधिनी**' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गई है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंकेही सिद्धान्त गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस '**पुरुषार्थ-बोधिनी**' टीकाका मुख्य उद्देश्य है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता के १८ अध्याय तीन विभागोंमें विभाजित किये हैं और उनकी एकही जिल्द बनाई है। मू० १०) रु० डाक व्यय १॥)

भगवद्गीता-समन्वय।

यह पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीताका अध्ययन करनेवालोंके लिये अत्यन्त आवश्यक है। '**वैदिक धर्म**' के आकारके १३५ पृष्ठ, चिकना कागज। सजिल्दका मू० २) रु०, डा० व्य० ।=)

भगवद्गीता--श्लोकार्धसूची।

इसमें श्रीमद् गीताके श्लोकार्धोंकी अकरादिक्रमसे **आद्याक्षरसूची** है और उसी क्रमसे **अन्त्याक्षरसूची** भी है। मूल्य केवल ॥।), डा० व्य० ≈)

सामवेद कौथुमशाखीयः

ग्रामगेय [वेय प्रकृति] गानात्मकः

प्रथमः तथा द्वितीयो भागः।

(१) इसके प्रारंभमें संस्कृत-भूमिका है और पश्चात् '**प्रकृतिगान**' तथा '**आरण्यकगान**' है। **प्रकृतिगानमें** अग्निपर्व (३८१ गान) **ऐन्द्रपर्व** (६३३ गान) तथा '**पवमानपर्व**' (३८४ गान) ये तीन पर्व और कुल ११९८ गान हैं। **आरण्यकगानमें अर्कपर्व** (८९ गान), **द्वन्द्वपर्व** (७७ गान) **शुक्रियपर्व** (८४ गान) और **वाचोव्रतपर्व** (४० गान) ये चार पर्व और कुल २९० गान हैं।

इसमें पृष्ठके प्रारंभमें ऋग्वेद-मन्त्र है और सामवेदका मन्त्र है और पश्चात् गान हैं। इसके पृष्ठ ४३४ और मूल्य ६) रु० तथा डा० व्य० ॥।) रु० है।

(२) उपर्युक्त पुस्तक केवल '**गानमात्र**' छपा है। उसके पृष्ठ २८४ और मू० ४) रु. तथा डा०व्य०॥) रु. है!

आसन।

" योगकी आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति "

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है कि शरीरस्वास्थ्यके लिये आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यन्त सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्य भी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २॥) दो रु० आठ आने और डा० व्य० ॥) आठ आना है। म० आ० से २॥।≥) रु० भेज दें।

आसनोंका चित्रपट— २०"×२७" इंच मू० ।) रु., डा० व्य० -)

मन्त्री— स्वाध्याय-मण्डल 'आनन्दाश्रम' किल्ला-पारडी (जि० सूरत)

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवलेकर, बी. ए., भारत-मुद्रणालय, आनन्दाश्रम, किल्ला-पारडी (जि. सूरत)



वैदिक व्याख्यान माला - सातवाँ व्याख्यान

अध्यात्मज्ञान से

वैयक्तिक दिव्य जीवन

और

राष्ट्रीय उन्नति

लेखक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
अध्यक्ष- स्वाध्याय-मण्डल, 'आनन्दाश्रम', किल्ला-पारडी, जि. सूरत

मूल्य छः आने

ॐ

(१) अध्यात्म ज्ञान से
वैयक्तिक दिव्य जीवन

अध्यात्मके सिद्धान्त पर आधारित वैयक्तिक जीवन किस प्रकारका होना सम्भव है, इस विषयपर आज हमें विचार करना है। भारतीय ऋषि-मुनियोंने बहुतसी तपस्या एवं ध्यानधारणा करके एवं अनेक अनुभव प्राप्त करके अध्यात्मशास्त्रके सिद्धान्तोंका निर्धारण किया है। ये सिद्धान्त तीनों कालोंमें टिकनेवाले हैं; अतएव इसी अध्यात्मकी नींवपर उन्होंने वैयक्तिक एवं राष्ट्रीय जीवनकी इमारत खडी की। आर्योंके वैयक्तिक एवं सामुदायिक जीवनकी यही मौलिक विशेषता है। आज हमारा ध्यान ही इस विशेषताकी ओर नहीं है: अपितु आज तो हमारा जीवन अध्यात्मकी इस उच्च भूमिकासे बहुत नीचे तक पतन हो चुका है। पतनकी यह स्थिति लगभग दो हजार वर्षोंसे निरन्तर चली आ रही है। बीच बीचमें अनेक महान पुरुषोंने इसे रोकनेका प्रयत्न किया और इसके फलस्वरूप यह पतन कुछ रुक भी गया, किन्तु पुनः वह उसी वेगसे आरम्भ होता रहा। हमारी यह अवस्था दो हजार वर्षोंसे है!!! ऐसा क्यों हो रहा है? इस प्रश्न पर विचार करनेका समय अब आ चुका है; अतएव आज इसी विषयपर विचार किया जाता है।

स्वराज्य प्राप्तिके पश्चात् हमारा उत्तरदायित्व

हमें स्वाधीनता मिली है। इस स्वराज्यका उपभोग हमें सुराज्य बनाकर करना है और भारतीय सभ्यताके उद्यानको नन्दनवन बनाकर विश्वको यह दिखाना है कि भारतीय सभ्यता इतनी ऊंची है कि जिसमें उसे सच्ची शान्ति प्राप्त हो सकेगी।

समुद्रपर्यन्तायाः पृथिव्या एकराट्। ऐ. ब्रा.

'समुद्र तक पृथ्वीका एक आर्यराजा हो और इस समग्र पृथ्वीका राज्य एक आर्य विधानके अनुसार चले' यह पांच हजार वर्ष पूर्व की गई ऋषियोंकी घोषणा आज तक पूर्ण नहीं हो पाई। उसे पूर्ण करके दिखानेकी इच्छा आज यदि किसी की हो तो वह पूर्ण हो सकती है; क्योंकि आज हम स्वतन्त्र हैं। यदि हम व्यवस्थितरूपसे प्रयत्न करें तो सफलता अवश्य मिल सकती है। बात केवल इतनी है कि इसके लिये जो कुछ प्रयत्न किया जाय वह सर्वथा सच्चा हो।

इसके लिये सर्वप्रथम हमें पतनकी ओर अग्रसर होती हुई अपनी गतिको शीघ्र रोकना चाहिये, तथा अभ्युदय एवं निःश्रेयसकी प्राप्तिके लिये एक सफल कार्यक्रम निर्धारित कर हमें यथाशीघ्र उस दिशाकी ओर प्रगति करनी चाहिये।

विचार, वक्तव्य, आचार

मनुष्योंके अन्दर कुछ विचार स्थायी रूपसे रहते हैं। कुछ निश्चितसे सिद्धान्तोंको वह अपने जीवनमें ढाल लेता है। तदनुसार बोलता है तथा जो बोलता है उसीके अनुसार वह कार्य किया करता है। इस कार्य द्वारा मनुष्यकी उन्नति या अवनती जो कुछ होनी सम्भव है वह हुआ करती है। यदि पिछले हजार दो हजार वर्षोंसे सचमुच हमारी अवनती होती जा रही है तो हमें यह विचार करना आवश्यक है कि हमारे आचार विचार ठीक हैं या नहीं।

वेदकालीन आर्यराष्ट्रकी तेजस्विताकी प्रशंसा संसारके सभी विद्वान एक स्वरसे सदैव करते आये हैं। वेद, उपनिषद्, गीताकी कोई प्रशंसा नहीं करता, ऐसा उदाहरण नहीं मिलेगा। इतने श्रेष्ठ तत्वज्ञानके अधिकारी एवं बडी सावधानीसे उसकी रक्षा करनेवाले हम इतनी अवनतावस्थामें क्यों हैं। विगत हजार डेढ हजार वर्षोंमें बाहरके

आक्रमण बराबर यहाँ आते रहें, यहाँ आकर हमारी कतल करें, लूटपाट करें और स्वयं खूब चैन उडावें; किन्तु हमें सुखसे न रहने दें!! ऐसा क्यों हुआ, इस बातका विचार करना चाहिये।

विचार, कथन और आचरणका बहुत अधिक महत्व है; किन्तु इनमें भी विचारोंका विशेष महत्व है। जैसे विचार होंगे वैसाही कथन होगा और तदनुसार ही आचरण होगा। अतः हम प्रथम यह देखेंगे कि वैयक्तिक विचार पहले कैसे थे और आज किस प्रकारके हैं। हमने पहले ही कहा है कि प्राचीन भारतीय आर्योंके वैयक्तिक जीवनका आधार अध्यात्म था। जबतक वह ठीक रहा तब तक आर्य दिग्विजयी होते रहे। किन्तु वह आधार ज्यों ज्यों ढसरता गया त्यों त्यों आर्योंकी अवनती होती चली गई। इस अवनतिके कारण कौनसे विचार थे ? इसपर हमें यहाँ प्रकाश डालना है।

उत्तम पुरुष

आर्योंके जीवनकी आध्यात्मिकता उनके सम्पूर्ण जीवनमें ओतप्रोत थी। अतएव उनके सभी शास्त्रोंपर आध्यात्मिकताकी छाप दिखाई देती है। हम उदाहरणार्थ व्याकरण-शास्त्रके तीन पुरुषोंको लेंगे—

१ - उत्तमपुरुष--अस्मत्, अहं। २ - मध्यम पुरुष--युष्मत्, त्वं। ३ - तृतीयपुरुष--तत्, सः। 'मैं' उत्तम पुरुष है, उत्तम पुरुषकाही अर्थ 'पुरुषोत्तम' है। 'उत्तमपुरुष' और 'पुरुषोत्तम' एकही बात है। मैं 'उत्तम पुरुष' हूँ अर्थात् 'पुरुषोत्तम' हूँ, यही अध्यात्मज्ञान है। 'अहं ब्रह्म अस्मि' में 'मैं ही' पुरुषोत्तम' हूँ, ऐसा कहा गया है। साधारणसे व्याकरण शास्त्रने यह इस प्रकार अध्यात्मके मुख्य सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है!

अस्तित्ववान् पुरुष

उत्तम पुरुष अर्थात् 'अस्मत्' पद द्वारा निर्दिष्ट पुरुष। 'अस्+मत्' अर्थात् 'अस्तित्ववान्' जिसका अस्तित्व है ऐसा पुरुष। जिसके लिये स्वयं का अस्तित्व है ऐसा पुरुषोत्तमके अतिरिक्त और कौन होगा? 'अस्मत्' पद 'मेरे अपने स्वयंभूपनेका अस्तित्व बता रहा है। दूसरे किसी की भी सहायता प्राप्त किये बिना मैं अपना अस्तित्व स्थिर रख सकता हूँ। ऐसा मैं स्वयंसिद्ध पुरुष हूँ। यही मेरा 'उत्तमपुरुषत्व' और यही 'पुरुषोत्तमत्व' है।

इस 'अस्मत्' शब्दका प्रथमाका एकवचन 'अहं' बनता है। 'अ+हं' अर्थात् 'जिसका त्याग न हो सके वह' (अ) नहीं (हा) त्याग जिसका वह 'अ-हं' है। यही 'अस्-मत्' और यही 'उत्तमपुरुष' अथवा 'पुरुषोत्तम' है। यही 'स्वयम्भू' स्वरूप 'मैं' हूँ। अध्यात्मका यह तत्वज्ञान व्याकरणके दो शब्दोंद्वारा यहाँ पर दिखाया गया है।

मैं उत्तमपुरुष, मैं (अस्मत्) अस्तित्ववान् अथवा जिसका अपना अस्तित्व है ऐसे मेरा त्याग किसीसे भी (अ+हं) नहीं हो सकता, ऐसा मैं हूँ।

तू 'युष्मत्' अर्थात् 'आयुष्+मत्' मेरे आशीर्वादसे आयुष्य प्राप्त हुआ हुआ, ऐसा तू है। मैंने तुझे अस्तित्व प्रदान किया है। 'तू है' ऐसा मैंने कहा, अतएव तुझे अस्तित्व प्राप्त हुआ है। यह मध्यमपुरुष है।

मैं और तू के अतिरिक्त (तत् अर्थात् वह) एक तीसरा पुरुष है। वह (अस्मत्) अस्तित्ववान् भी नहीं है और (युष्मत्, आयुष्मत्) उसे मैंने अस्तित्व भी प्रदान नहीं किया है। इस प्रकारका यह तृतीयपुरुष है।

मैं तू और वह इन तीन पुरुषोंसे समस्त विश्व व्याप्त है। इनमें 'मैं' उत्तमपुरुष है। सबसे उच्च 'मैं' है। इस मैं के अस्तित्वसे ही अन्य सबको अस्तित्व प्राप्त हुआ है। इस प्रकारका मैं स्वयम्भू और स्वयंके अस्तित्वसे सदैव रहनेवाला तथा दूसरोंको अस्तित्व देनेवाला सबमें सामर्थ्य-युक्त मैं हूँ। यह समस्त तत्वज्ञानका आधार है। इसे व्याकरणके २-३ शब्दोंद्वारा हमने बताया है। यही बात उपनिषदोंमें भी व्यक्त की गई है—

अहं ब्रह्म अस्मि ! तत् त्वं असि।

'अहं ब्रह्म अस्मि' अर्थात् 'मैं एक बडी शक्ति हूँ' 'मैं सर्वश्रेष्ठ हूँ' 'मैं उत्तम पुरुष' अथवा 'पुरुषोत्तम हूँ। ये उपनिषदोंके विचार हैं। मैं एक महान् शक्ति हूँ। मैं दीन हीन नहीं हूँ, मैं तुच्छ अथवा उपेक्षणीय नहीं हूँ, ये कितने ऊंचे विचार हैं? ये विचार मनमें आते ही हमारी उंचाई थोडी बहुत बढी है, हममें कुछ शक्ति बढी है, ऐसा प्रतीत होता है। ऐसे उच्च पदारूढ इस 'मैं' की कालान्तरमें जो अवनति हुई वह कहाँतक पहुँची, इसका विचार करना चाहिये। देखिये—

पापोऽहं पापकर्माहं पापात्मा पापसम्भवः ।

'मैं पापी हूँ, मैं पाप कर्म करता हूँ, मैं पापात्मा हूँ और पापके कारण ही यह मेरा जन्म हुआ है; इस प्रकार मैं बड़ा अपराधी हूँ, दोषी हूँ ।'

एकदम ऊंचे शिखरसे घसरते हुए बहुत नीचे जाकर गिर पड़नेके समान यह स्थित्यन्तर हुआ है । कहाँ स्वयम्भू, स्वतः सिद्ध पुरुषोत्तमकी स्थिति और कहाँ 'पापमूलक मेरा जन्म है और मैं पापी हूँ' ऐसा मानना। समस्त वेदों और उपनिषदोंमें ऐसा एक भी वाक्य नहीं है कि जहाँ इस प्रकारसे हमने स्वयंको ही कोसा हो या अपमानित किया हो। बुद्धके पश्चात् 'जन्म पापमूलक है' ऐसे विचारोंको प्रोत्साहन मिला और तबसे यह आत्मघातकी विचारसरणी उत्पन्न हुई, जो आज तक जारी है।

मैं इन्द्र हूँ

'मैं उत्तम पुरुष हूँ' अर्थात् 'मैं पुरुषोत्तम' हूँ, यह उपनिषदोंका तत्त्वज्ञान व्याकरणमें किस प्रकार आया है, अब इसे देखना है तथा वेद मन्त्रोंमें यही बात किस रूपमें उल्लिखित है, इसे देखना है—

अहं इन्द्रो न पराजिग्य इद्धनं ।
न मृत्यवे अवतस्थे कदाचन ॥ ऋ. १०।४८।५

'मैं इन्द्र हूँ, मेरा धन मुझे पराजित करके कोई भी छीन नहीं सकता, मैं कभी भी मृत्युको प्राप्त न होऊंगा।'

'मैं पुरुषोत्तम हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, 'मैं इन्द्र हूँ।' ये वाक्य एक ही आशयको व्यक्त करते हैं और वह आशय है कि 'मैं शक्तिमान् हूँ' 'मैं शक्तिका केन्द्र हूँ' इसीका स्पष्टीकरण उपर्युक्त मन्त्रोंके अगले भागोंने किया है 'न परा जिग्ये' मैं पराभूत नहीं होता, मेरा कोई भी पराभव नहीं कर सकता, मेरा पराभव करके मेरा धन कोई भी नहीं छीन सकता। यह सब 'मैं इन्द्र हूँ' का स्पष्टीकरण है।

शक्तिका केन्द्र मैं

'मैं' द्वारा जिसका निर्देश किया जाता है उसका स्वरूप-वर्णन करना अध्यात्मशास्त्रका विषय है। 'मैं' नाम की जो वस्तु है वह शक्तिमान् है अथवा निर्बल है? यह प्रश्न यहाँ उपस्थित है। इस प्रश्नका उत्तर इस मन्त्र द्वारा 'मैं शक्तिमान् हूँ' के रूप में दिया है। मैं इतना शक्तिमान हूँ कि मेरा पराभव कोई भी नहीं कर सकता, इतना मुझमें सामर्थ्य है। 'अहं इन्द्रः' मैं इन्द्र हूँ। इन्द्र अर्थात् मैं (इन्) शत्रुका (द्र) विदारण करनेवाला हूँ।। मैं इन्द्र हूँ का ही अर्थ है कि मैं सामर्थ्यशाली हूँ और मैं अपने सम्पूर्ण शत्रुओंका विदारण करके उनका विनाश कर सकता हूँ। मुझमें इतना अधिक सामर्थ्य है। इस मन्त्रका यह आशय है। 'मैं' नामकी जो वस्तु है उसका यह इतना महान् सामर्थ्य है।

जिस प्रकार सामर्थ्यशाली विद्युत् सम्पूर्ण वस्तुओंमें है, किन्तु वह घर्षणादि प्रयोगों द्वारा प्रकट करनी पड़ती है। इसी प्रकार 'मैं' के अन्दर यह इन्द्रशक्ति है। वह अनेक अनुष्ठानों द्वारा प्रकट होती है। अर्थात् यह तो सुनिश्चित है कि वहाँ शक्ति है और वह 'मैं' निर्बल नहीं, सबल है। इसमें स्वभावतः शक्ति है। यह शक्ति किसीमें गुप्त हुआ करती है तो किसीमें प्रगट। किन्तु मूलतः वह शक्ति अन्दर रहती है। इस 'मैं' में ऐसी बड़ी शक्ति विद्यमान है। इसी शक्ति पर हमें ध्यान देना चाहिये। इसकी उपेक्षा करना उचित नहीं है। हमारे समस्त अध्यात्मशास्त्र इसी शक्तिका वर्णन करते हैं। इसी को हमें देखना चाहिये।

इन्द्रकी सभा

इन्द्र की एक सभा है, उस सभाका अध्यक्ष इन्द्र है और अन्य सब देव उस सभाके सभासद हैं। मुख्य देव ३३ हैं और इनमें प्रत्येकके कोट्यवधि देव अनुयायी हैं। इसीलिये 'तेंतीस कोटि देव' की कहावत पड़ी है। इस सभाके नाम 'इन्द्रसभा, देवसभा' है। यह देवसभा इसी शरीरमें विद्यमान है, ऐसा वेद एवं उपनिषदोंमें कहा गया है। जहाँ इन्द्र होगा वहाँ उसके सहचारी देव होने ही चाहिये। अतः यदि 'मैं' इन्द्र है तो उसकी देवसभा वहाँ पर होनी ही चाहिये।

इन्द्र एवं इन्द्रियाँ

किन्तु 'मैं इन्द्र हूँ' इसका पताही पहले तो बहुतसों को नहीं होगा। अतः इसी बातको प्रथमतः सिद्ध करना चाहिये। सब लोगोंको यह पता है कि इस शरीरमें पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियाँ एवं कुछ अन्तरिन्द्रियाँ हैं।

यह इन्द्रिय शब्द अत्यन्त महत्वका है तथा विचारणीय भी है। इन्द्रियका अर्थ है 'इन्द्रकी शक्ति' ये सारी इन्द्रियाँ इस इन्द्र की शक्तियाँ हैं। यदि कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ एवं अन्तरेन्द्रियाँ इन्द्रकी शक्तियाँ हैं तो फिर इन सबके पीछे इन्द्र भी कहीं न कहीं तो होना ही चाहिये, यह स्पष्ट है। इन्द्रियोंका यह नामकरण 'इन्द्रकी शक्ति' होनेके कारण ही हुआ है। अतः इनका जो अधिष्ठाता, अधिपति या संचालक होगा वही इन्द्र होना चाहिये, यह स्पष्ट है। इन्द्र कहाँ है? इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमें अपने शरीरमें ही मिल सकता है। इस प्रमाणके आधारपर यह सिद्ध होता है कि देहका स्वामी जो 'मैं' वही इन्द्र है और उसकी यह शक्ति इन समस्त इन्द्रियोंमें फैली हुई है। इस आत्माको इन्द्र कहा जाता है; अतएव उसकी शक्तियोंको 'इन्द्रिय' कहा जाता है।

इन्द्र--सभाके देवता

अबतकके विवरणसे यह प्रतिपादित हुआ कि इन्द्र इसी शरीरमें निवास करता है। जहाँ वह निवास करता है वहीं स्वर्ग है, वहीं अमरावती है, स्वर्ग का जो नन्दनवन है वह यहीं है। इसी अमरावतीमें देवोंकी सभा भरा करती है और उस सभाका अध्यक्ष इन्द्र बना करता है। अब हम इस सभाका कुछ समीपसे निरीक्षण करेंगे। ऐतरेय उपनिषद्में यही विषय आया है—

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्, सूर्यः चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्, आपः रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् (ऐ. उ.)

'अग्नि वाग्रूपसे मुखमें प्रविष्ट हुआ, वायु प्राण बनकर नासिका द्वारा हृदयमें प्रविष्ट हुआ, सूर्य नेत्र बनकर आंखोंमें प्रविष्ट हुआ, जल वीर्य बनकर शिश्न इन्द्रियमें प्रविष्ट हुआ' इस प्रकार विश्वके पूरे तेंहतीस देव भिन्न भिन्न इन्द्रियों एवं अवयवोंके रूपमें शरीरमें आकर भिन्न भिन्न स्थानोंपर आकर रहने लगे। इस प्रकारकी यह देवसभा इस शरीरमें भरी है और इसका अध्यक्ष इन्द्र बना है। ये देव इस शरीरमें किस प्रकार प्रविष्ट हुए? इसका स्पष्टीकरण अथर्ववेदमें इस प्रकार मिलता है—

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवता अङ्गे सर्वे समाहिताः ॥१३॥

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवता अङ्ग गात्रा विभेजिरे।
तान् वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेको ब्रह्मविदो विदुः॥२७॥
अ: १०-७

'ये तेंहतीस देव शरीरके अवयवोंमें तथा इन्द्रियोंमें आकर रहे हैं' अथर्ववेदका यही वर्णन ऐतरेय उपनिषदने विशेष विस्तारसे दिया है। हमारे शरीरकी प्रत्येक इन्द्रियमें और अवयवमें इस प्रकारसे समस्त देव आकर रहे हैं। इस प्रकार यह शरीर 'देवोंका मन्दिर' है।

सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते। अथर्व०।

'जिस प्रकार गोशालामें गायें रहती हैं उसी प्रकार सब देव यहाँ आकर बस गये हैं' सब देवोंका आगमन यहाँ हुआ है और वे अपने अपने निश्चित स्थानोंपर आकर बस गये हैं। इस प्रकार हमारा यह शरीर देवोंका मन्दिर है। इस देव सभाका मैं ही अध्यक्ष हूँ अर्थात् मैं इन्द्र हूँ और यही 'मैं' पुरुषोत्तम हूँ, यह विवरण पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। यही इन्द्र, यही उत्तमपुरुष, यही आत्मा एवं यही ब्रह्म है। कितनी अधिक है हमारी योग्यता! कितना है यह हमारा सामर्थ्य!! अपनी इस शक्तिको प्रगट करके उसे अपने आधीन करनेके लिये ही योगमार्गोंके अनेक अनुष्ठान हैं। इस शक्तिके प्रति आज हमारा उपेक्षा भाव है। आज हम इसी देहको 'पूयविण्मूत्रका गोला' कहते हैं!!! यह कितना अमङ्गल एवं बीभत्स वर्णन है! हम देव मन्दिरमें थे। वहाँ से अवनत होते होते हमारा पतन शौच रूपमें हो गया!! विचारोंका यह परिवर्तन हमारी मनोभूमिकामें हो चुका है और यही हमारे पतनका मुख्य कारण है।

मैं 'उत्तम पुरुष' हूँ यह विचार समाप्त हो गया और उसके स्थानपर 'मैं पापी हूँ' यह विचार आ गया।' मेरा शरीर देवमन्दिर है' यह उच्च कल्पना जाकर उसके स्थान पर यह मेरा शरीर 'पूयविण्मूत्रका गोला' है, यह कुकल्पना आगई। पुरुषोत्तमकी यह कैसी दुरवस्था है?

शक्तिवृद्धिका अनुष्ठान

जिस समय यह कल्पना थी कि यह शरीर देवमन्दिर है उस समय शरीरकी शक्ति बढानेके लिये अनेक अनुष्ठान किये जाते थे। हम सब यह विश्वासपूर्वक अनुभव करते हैं

कि बाहरके विश्वमें जो बड़े देव विद्यमान हैं उन्हींके अंश हमारे शरीरमें आकर बस गये हैं तथा बाह्यस्थित देवोंकी सहयतासे ही हमारे शरीरकी शक्ति बढ़ती रहती है। बाहरके प्राणवायुकी सहायतासे हम अपने प्राणोंकी शक्ति बढा सकते हैं, बाहरके सूर्यप्रकाशसे हमारे नेत्रोंका बल बढता रहता है। बाहरके जलतत्वसे हमारे शरीरका जल-तत्व व्यवस्थित रह सकता है। बाहरका अन्न खाकर ही हम जीवित रहते हैं। इस प्रकार बाहरके विश्वमें स्थित इन देवोंकी सहायतासे हम अपने शरीरकी शक्ति एवं अन्तः-करणकी शक्ति बढा सकते हैं। यह शक्ति जिस अनुपातसे बढेगी और जिस अनुपातसे वह हमारे आधीन रहेगी उसी प्रमाणसे हमारी आत्माकी शक्ति भी अभिव्यक्त हो सकती है।

अपनी इन शक्तियोंके अभिव्यक्तिकरणका अनुष्ठान करने के लिये ही समस्त योगसाधनोंका निर्माण किया गया है। जब तक इस शरीरको देवमन्दिर माना जाता था और जबतक बाहरके विश्वव्यापक देवोंका एवं अपने शरीरमें स्थित शक्ति-योंका सम्बन्ध लोगोंको मालूम था तब तक यहां की दिव्य शक्तियोंकी अभिवृद्धि करनेका अनुष्ठान लोग किया करते थे। किन्तु यह उच्च कल्पना तो समाप्त हो गई और इस देहको 'पूयविण्मूत्रका गोला' माना जाने लगा, जिसके कारण इस शरीरके विषयमें मनमें घृणा उत्पन्न हुई। परि-णाम यह हुआ कि इसके बाद शारीरिक एवं अन्तःकरण सम्बन्धि शक्तियोंको बढानेका अनुष्ठान स्वयमेव बंद हो गया। पूयविण्मूत्रके गोलेकी शक्ति भला कौन बढायेगा और किस लिये?

हमने ऐसे आदमी देखे हैं कि जो अपने शरीरके विषय-में सदैव निन्दात्मक भाषण करनेमें ही अपना भूषण मानते हैं। ऐसा करनेसे वे समझते हैं कि हम बडे भारी ज्ञानी हैं। अनेक साधुसंतोंके साहित्यमें भी इसे 'विण्मूत्रका गोला' आदि कहा गया है। ये विचार जैन और बौद्धोंने आरम्भ किये और उन्हींका अनुसरण अन्य विचारकोंने किया। शरीरके सम्बन्धमें विण्मूत्र गोलेकी कल्पना इन साधुसन्तोंके प्रचारके कारण आज आबालवृद्धोंमें फैली हुई है। कथा-प्रवचनकारोंके प्रवचनोंमें पूर्वरङ्गमें यही प्रति-पादन किया जाता है। इस प्रकारकी इन अमङ्गल कल्पना-ओंका यह प्रचार हजार डेढ हजार वर्षोंसे इस देशमें प्रचलित है और आज तो यह कल्पना दृढमूल हो चुकी है। प्राचीन कालके विचार कितने ऊंचे थे और वे ही बादमें कितने विपरीत दिशामें बदल गये, इसका विचार हमें करना चाहिये। हमें देवमन्दिरमें रहना है अथवा शौचकूपमें गिरना है? इसका निर्णय आज हमें करना है। ऐसा करने पर स्वयं ही निर्णय हो जाएगा कि हमें किन विचारोंको मानना है। और भी देखिये—

सप्तऋषियोंका आश्रम

इस शरीरको ऋषिगण 'सप्तऋषियोंका आश्रम' मानते थे। देखिये—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे, सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्। सप्तापः स्वपतो लोकमीयुः तत्र जाग्रतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ।
(वा. य.)

" सप्त ऋषि प्रत्येक शरीरमें हैं। ये सात ऋषि प्रमाद न करते हुए इस यज्ञशालाका रक्षण किया करते हैं। यहाँपर सात नदियाँ भी हैं, वे सोते समय सोनेवालेके स्थानकी ओर बहा करती हैं और जागते समय बाहरकी ओर बहा करती हैं। वहाँ दो देव जागकर इस आश्रमका रक्षण किया करते थे।"

इस मन्त्रमें इसी शरीरको 'सप्तऋषियोंका आश्रम' कहा गया है। यह कल्पना कितनी उदात्त, पवित्र और उच्च है। यह शरीर मानो तपोभूमि है जहाँ सात नदियां बह रही हैं। इन नदियोंके पवित्र संगमस्थानपर सात ऋषि तप करते हुए बैठे हैं। इस प्रकारका यह सप्तर्षियोंके पवित्र-तपसे पुनीत हुआ आश्रम है।

ऋषि लोग ज्ञान लिया और दिया करते हैं। यहाँ मस्तक-में दो आंखें, दो कान और दो नासापुट तथा एक मुख ये सात ऋषि हैं। ये सब ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं तथा ज्ञान दे रहे हैं। इनका यह ज्ञान-व्यवहार निरन्तर जारी है। ये ऋषि हैं जो दूरका देखा करते हैं तथा यदि वह भविष्य भयप्रद हो तो उस विषयमें ये मनुष्यको सावधान किया करते हैं। ये यदि संयमी हुए तो ये ही ऋषि और देव बन जाते हैं तथा मनुष्यके लिये बडे लाभदायी सिद्ध

हो जाते हैं; किन्तु यदि ये भोगी हो गये तो ये ही राक्षस बन जाते हैं। भोगी एवं संयमीका ही भेद राक्षस और देवोंमें है।

दशरथ एवं दशमुख

इसके लिये एक उदाहरण प्रस्तुत करने जैसा है। हमारे यहाँ दशरथ-दश इन्द्रियोंका संयम करनेवाला-राजा है और उसका पुत्र 'राम' सबको आनन्द देनेवालेके रूपमें प्रसिद्ध है। यह देव है। संयमका फल देवत्व है। दूसरा भोगी दशमुख रावण है। यह इन्द्रियोंसे भोग भोगनेवाला तो है; किन्तु रावण अर्थात् 'रोनेवाला' है। उसके पल्ले रोनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसकी लङ्का जलकर खाक हो जाती है और अन्तमें इसका भी सम्पूर्ण विनाश हो जाता है। वह असुर या राक्षस है, क्योंकि असंयमका यही निश्चित परिणाम होता है। संयमसे ऋषि या देव बना जा सकता है। भोगसे यदि प्रथम सुख मालूम हो तब भी अन्तमें रोना पड़ता है और सर्वस्वनाशका दुःख भोगना पड़ता है। यही कारण है कि 'इस शरीरको ऋषियोंका आश्रम कहा गया है और यहाँपर इन्द्रिय संयम, मनोनिग्रह और तप करना है' आदि बातें सूचित की गई हैं। नरका नारायण होनेका यही मार्ग है। वह इसी शरीरमें किया जा सकता है; अतएव यह ऋषियोंका आश्रम है।

दो देवोंका जागृत पहरा

सात नदियोंके प्रदेशका अन्वेषण संशोधक लोग पंजाबसे अफगानिस्तान तक कर रहे हैं। किन्तु उन्हें इन नदियोंका कहीं पता नहीं चलता। वहाँ सात नदियाँ हैं ही नहीं, फिर मिलेंगी कैसे? इन नदियोंका उल्लेख हमने ऊपर किया है। ये ही वे सात नदियाँ हैं। यह सात नदियोंका पवित्र प्रदेश है। इस प्रदेशमें सप्त ऋषियोंका यह आश्रम है। यहाँ दो देव सदैव जागृत रहकर इस आश्रमका राक्षसोंके आक्रमणसे संरक्षण किया करते हैं। ये 'दो देव' हैं 'श्वास और उच्छ्वास'। शरीरकी रक्षा करनेवाले ये दो पहरेदार हैं। इस आश्रमकी रक्षा करनेके लिये ये दो देव सदैव पहरा देते हुए खडे हैं। ऋषियोंका यज्ञ निर्विघ्न रूपसे पार हो, इस लिये ये दो देव सतत जागृत पहरा दे रहे हैं।

ऋषि आश्रमकी यह कल्पना कितनी उत्तम, पवित्र एवं आनन्ददायिनी है यह हमें देखना है और इसके साथ इस शरीरको, इस जीवको कैदीकी जो उपमा दी जाती है उससे इसकी तुलना करनी है। ऐसी निन्द्य कल्पनायें आज हमारे समाजमें घर कर गई है। इन दो कल्पनाओंमेंसे कौनसी कल्पना हमें स्वीकारनी चाहिये?

द्वारका और अयोध्या

और एक वैदिक कल्पना देखिये। यहाँपर द्वारका एवं अयोध्या नामोंसे इसी शरीरका वर्णन किया है—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूः अयोध्या।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषाऽवृतः ॥३१॥
तस्मिन् हिरण्मये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यत् यक्षं आत्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ३२
प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरिवृताम्।
पुरं हिरण्मयीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥ ३ ॥
अथर्व १०।२

"आठ चक्र एवं नौ द्वारवाली यह देवोंकी नगरी अयोध्या है। इसमें तेजस्वी स्वर्ण और सुवर्णका कोश भरपूर है। इस सुवर्ण नगरीमें एक आत्मा है, जिसे ब्रह्मज्ञानी लोग जानते हैं। यह नगरी तेजस्वी, यशस्वी, मनोहारिणी, सुवर्णमयी एवं अपराजित है। इस नगरीमें विजयी ब्रह्मा प्रवेश करता है, वह वहाँ राज्य करता है।"

यह नगरी नौ द्वार होनेके कारण द्वारावती अथवा 'द्वारका' है और इसका पराभव कभी भी नहीं होता इसलिये यह 'अयोध्या' है। यह सुवर्णकी तेजस्वी देवनगरी है। यह हमारे शरीरका वर्णन है। इसे यहाँपर (देवानां पूः) देवोंकी पुरी कहा गया है। अनेक देव यहाँ आकर रहा करते हैं। कौनसा देव कहाँ आकर रहता है, इसका वर्णन पूर्व किया जा चुका है। यह देवनगरी, यह स्वर्ग, यह ब्रह्मलोक, यही अमरावती और यही अयोध्या है। कितनी ऊंची कल्पनायें इस शरीरके विषयमें वेदमन्त्रोंमें वर्णित हैं। हमारा शरीर इतना सुन्दर है। स्वर्गका सुख हमें यहींपर प्राप्त हो सकता है। देवोंके साथ यहीं पर निवास किया जा सकता है। यहीं ब्रह्मसुखका अनुभव किया जा सकता है। ऐसा है यह हमारा शरीर। यह दीन या तुच्छ तो

कदापि नहीं हो सकता। जो देवोंकी नगरी है वह भला हीन दीन क्यों होने लगी ?

आज इसी शरीरको मलिन, क्षणभङ्गुर और दुःखकारण माना जाने लगा है; किन्तु उपर्युक्त वेदमन्त्रोंमें इसे स्वर्ग कहा गया है। वेदोंके इसी स्वर्गको आज मलोंका आगर, दुःखदायी, और क्षणभङ्गुर माना जाने लगा है। दो विभिन्न कालोंमें कल्पनाका कितना बडा अन्तर पड गया है !!

कुरुक्षेत्र

यह शरीर कुरुक्षेत्र है। इस स्थानपर आकर यज्ञ करनेकी इच्छासे समस्त देव आकर बसते हैं और सौ वर्षोंतक यज्ञ करते हैं। इस प्रकारकी यज्ञभूमि यह शरीर है। समस्त देवोंद्वारा मिलकर चलाया हुआ यज्ञ यहाँपर प्रचलित है। वह यह बीचमें बिनाविघ्न हुए उत्तम रीतिसे सफल होना चाहिये।

कुरुक्षेत्रं वै देवानां देवयजनं (जाबाल उ. १)

'यह शरीररूपी कुरुक्षेत्र देवोंके यज्ञकरनेका यज्ञक्षेत्र है' देव यहाँ आते हैं और शतसांवत्सरिक यज्ञ करनेके लिये अपने अपने स्थानोंपर बैठते हैं। यज्ञमें अनेकोंकी अपमृत्यु होनेके कारण बीचमें ही यज्ञ नष्ट हो जाता है। यहाँ जो १२० वर्ष तक जीवित रहेगा वह शतसांवत्सरिक यज्ञ पूर्ण कर सकता है। 'पुरुषः वै यज्ञः' यह मनुष्य रूपी जो पुरुष है वही यज्ञ है। मनुष्य स्वयं यज्ञ है। मनुष्यका शरीर कुरुक्षेत्र है। समस्त देव यहाँ आते हैं और यज्ञ करते हैं। इस प्रकार मनुष्यका जीवन यज्ञमय होना चाहिये।

उपर्युक्त कथनका यही एकमात्र अभिप्राय है कि मनुष्यका समस्त जीवन यज्ञमय हो। ईश्वरका अंश और ३३ देवोंके अंश ये सब यहाँ पर उपस्थित होते हैं। वे यह निश्चय करते हैं कि यज्ञ करना चाहिये और इसके लिये इस शरीररूपी यज्ञभूमिको तैयार करते हैं। इतनी ऊंची कल्पना जीवनके विषयमें यहाँ की गई है।

अब तक हमने शरीरके विषयमें जिन वैदिक कल्पनाओंका उल्लेख किया है वे इस प्रकार हैं- मैं पुरुषोत्तम हूँ, ब्रह्म हूँ, इन्द्र हूँ। मेरा शरीर देवमन्दिर है, यह ऋषियोंका पवित्र आश्रम है, सप्त नदियोंका यह पवित्र तीर्थ है, यह यज्ञभूमि है, पवित्र कुरुक्षेत्र है। पाठक इन कल्पनाओंको अपने मनमें रखें और उसके पश्चात्-

यह शरीर पूयविण्मूत्रका गड्ढा है, यह तुरङ्ग है, यह अमङ्गल है। मैं पापी हूँ, मेरा जीवन पापपूर्ण है, मेरे पाप संकल्प हैं, मेरी उत्पत्ति पापसे है, मैं दीनहीन दुर्बल और अपराधी हूँ। मैं यहाँ कारावासमें पडा हुआ कैदी हूँ, यह विश्व एक बडा कारागृह है, मैं उसमेंका एक कैदी हूँ, यह सब क्षणभङ्गुर है, यह सब दुःखमय है, ये प्रचलित कल्पनायें हम देखें और हमारा जीवन किस भूमिपर आधारित है इसका विचार करें।

जैसे विचार वैसे आचार

जैसे हमारे विचार होते हैं वैसे ही हमारे आचरण होते हैं। जैसे- मान लीजिये कि हम एक गांवमें गये और वहाँ पता लगा कि इस गांवमें महामारीका भयङ्कर उपद्रव है। यह सुनते ही हम तत्काल वहाँसे भाग कर अन्यत्र जानेका प्रयत्न करेंगे। किन्तु यदि हमें यह पता लगे कि हम ऋषिके एक पवित्र आश्रममें आ गये हैं और इस आश्रममें रहनेपर ही हमारे सम्पूर्ण रोग दूर होंगे और पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त होगा तो हम वहाँपर यावच्छक्य अधिक ठहरनेका प्रयत्न करेंगे।

चोरोंके गांवमें हम मुकाम नहीं करेंगे। अपितु ऋषियोंके आश्रममें सर्वथा निश्चिन्त होकर रहेंगे। हमारे विचारोंका आचरणपर ऐसा प्रभाव पडता है। हम चाहे जितनी उदासीन वृत्तिसे इन विचारोंकी ओर देखें तथापि हम यह अवश्य अनुभव करेंगे कि गत दो हजार वर्षोंमें अनेक प्रचारकोंद्वारा क्षणभङ्गुर संसार, यह असार संसार, सर्व-क्षणिक, सर्वं दुःखं, यह शरीर पूयविण्मूत्रका गोला है, पापमूलक जन्म, शरीर तुरङ्गवास है आदि जो कुकल्पनायें हमारे अन्दर फैलाई गई उनका अनिष्ट परिणाम हिन्दुओंके सूक्ष्म मनपर हुआ है। यही कारण है कि आजका हिन्दु इह लौकिक सुखोंके विषयमें निरुत्साहित हो गया है। उसे यह जीवन दो दिनोंका लगता है। किन्तु वेद तो 'भूयश्च शरदः शतात्' ऐसा कहता है। कोई भी मनुष्य ऋषि आश्रम अथवा देवमन्दिरमें सौ वर्षोंसे भी अधिक रहनेकी इच्छा करेगा। किन्तु शौचकूपमें किसीकी भी इच्छा अधिक देरतक रहनेकी न होगी। हमने उच्च वैदिक कल्पनाओंका परित्याग कर दिया। वास्तवमें ये कल्पनायें

कितनी ऊंची थी ? किन्तु हमने उनका परित्याग कर दिया और अवैदिक कल्पनाओंको मनमें स्थान दिया। परिणाम स्वरूप इनका यदि हमारे जीवनपर भी अनिष्ट परिणाम हुआ तो इसमें आश्चर्यकी कौनसी बात है। हिन्दुओंका मन इन कलुषित कुविचारोंसे यह इस प्रकार भर गया है और वे आजकी हीनस्थितिको प्राप्त हो गये हैं। इस स्थितिको यदि दूर करना है तो हमें अपने मनके उन कुविचारोंको आमूलाग्र बदल देना चाहिये।

त्यागमय जीवन

हमारी वर्तमान त्यागकी कल्पनाने मूलकी त्यागकी कल्पनाको भी विकृत कर दिया है, 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः' (वा. य. ४०।२) 'त्यागसे भोग कर' ऐसा वैदिक ऋषियोंका जो कथन था। किन्तु उनका त्याग और उनकी निवृत्ति संसारका उच्छेद करनेवाली नहीं थी। देखिये–

अनेक स्त्रियोंसे सम्बन्ध करनेकी जो प्रवृत्ति थी उनका निवारण विवाहके विधानद्वारा किया गया। अर्थात् विवाह निवृत्तिमार्गका ही एक स्वरूप है और त्याग ही है। आज तो संन्यास लेकर सन्तान परम्पराका उच्छेद करनेको ही निवृत्ति कहा जाता है। किन्तु यह निवृत्ति राष्ट्रका घात करनेवाली है। जब तक इस निवृत्तिका पालन एक या दो करते हैं तभी तक यह ठीक है; किन्तु यदि सभी लोग इस संन्यास धर्मका पालन करने लगे, तो साराका सारा राष्ट्र तत्काल नष्ट हो जावेगा। यही स्थिति अन्य त्यागोंके विषयमें है। उदाहरणार्थ देखिये—

यदि हम वस्त्रधारण करना छोड दें तो जुलाहे मर जायँगे, घरमें नहीं रहना है, ऐसा निश्चय करलें तो राज और बढई मरने लगेंगे। जबतक इस त्यागका आचरण सब लोग नहीं करते तभी तक इनका प्रतिपादन या कथन भला मालूम होता है। किन्तु यदि सबके सब उसपर आचरण करने लग जांय तो इससे राष्ट्रकी अधोगति हुए बिना कदापि न रहेगी।

वैदिक निवृत्ति समर्याद होनेके कारण राष्ट्रोन्नतिके लिये पोषक थी। आगे जाकर बौद्धयुगमें उसे अमर्यादित किया गया। इसका कारण यह था कि बुद्धोत्तर कालमें इस जगत् के विषयमें और अपने शरीरके विषयमें अत्यन्त हीन कल्पना निर्माण हो गई और इस संसारका त्याग किये बिना हमारी आत्मोन्नति नहीं हो सकती, ऐसे असत्य विचार रूढ होगये। इस कारण सर्वस्व त्याग ही यदि जीवनका ध्येय बन गया हो तो उसमें कोई अस्वाभाविकता नहीं है।

जो अपना ध्येय सर्वस्व त्याग बनाता है उसके द्वारा इस संसारका क्या भला हो सकता है ? लोग पूर्णतः सर्वस्व त्याग नहीं करते। इसीलिये उनके द्वारा लोकोन्नतिका थोडा बहुत कार्य हो जाता है। अस्तु। अब हम एक पराकाष्ठातक पहुँची हुई विपरीत विचारसरणी पर थोडासा प्रकाश डालेंगे।

निवृत्तिमार्गका ज्ञान

उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं गीता ये तीन ग्रन्थ प्रस्थानत्रयीके हैं। इसलिये बडे बडे आचार्योंने यह लिख रखा है कि जब पुत्र बडा हो जाय, घरबार सम्भाल ले, तब गृहस्थका भार लडकेपर डालकर फिर इन ग्रन्थोंका अध्ययन करें। देखिये—

> गर्भाधानादि-संस्कार-संस्कृतं अधीतवेदं जनितसुतं अनुष्ठितयज्ञं निस्पृहं मुमुक्षं शिष्यं पुत्रं वा ऋषिरूपदिशन् आह। ईशावास्यमिति।
>
> उवट, महीधर भाष्य

जिसके गर्भाधानादि संस्कार हो चुके हैं, जिसने वेदोंका अध्ययन किया है, जिसके लडके हो चुके हों, जिसने यज्ञ किये हैं, जो निरिच्छ है, जिसे केवल अपनी मुक्ति प्राप्त करनेकी इच्छा है ऐसे शिष्यको अथवा पुत्रको ऋषि उपदेश करते हैं।'

पुत्र उत्पन्न होनेपर तथा उनके बडे हो जानेपर, सांसारिक समस्त इच्छायें तृप्त होजानेपर जिसकी केवल मुक्त होजानेकी इच्छा हो, अर्थात् घर गृहस्थीमें जिसके लिये कुछ भी करना शेष न रहा हो, ऐसे व्यक्तिको ईश उपनिषद् सीखना चाहिये। यहाँ और बातें छोड भी दी जावें तो महत्वपूर्ण बात ध्यान देने जैसी है और वह यह कि 'पुत्र उत्पन्न होजानेपर तथा इसके पश्चात् पुत्र होनेकी सम्भावना न रहनेपर इस अध्यात्मशास्त्रका अध्ययन करे।' पुत्र उत्पन्न होजानेपर ईशोपनिषद् सीखें तथा अन्य गीता, उपनिषदादि ग्रन्थ सीखें, ऐसा

उक्त आचार्योंका अभिप्राय दिखाई देता है। यदि यह बात सत्य मान ली जावे तो उसका क्या परिणाम होगा, यह देखिये—

ब्रह्मज्ञानका परिणाम सुप्रजा

बृहदारण्यक उपनिषद्में समस्त उपनिषद् विद्याओंका उपदेश कर देनेके पश्चात् 'सुप्रजा-जनन' की विद्या कही गई है। सुप्रजाजननके लिये मातापिता कैसा व्यवहार करें, क्या खायें; क्या पढ़ें, मनमें कैसे विचार धारण करें, जिससे निःसंशय इष्टसन्तति निर्माण की जासके। जिस प्रकारकी सन्तति निर्माण करना चाहें उस प्रकारकी सन्तति निर्माण की जासकती है। यही आशय इस अन्तिम अध्यायका है। ज्ञानी, शूर, व्यवहारकुशल, एक या चारों वेदोंका ज्ञाता, जैसा चाहें वैसा पुत्र उत्पन्न किया जासकता है। यही बातें इस उपनिषद्के अन्तमें वर्णन की गई हैं। यदि पुत्र उत्पन्न करनेके पश्चात् ब्रह्मविद्या सीखनी हो तो इस अध्यायकी बृहदारण्यक उपनिषद्-में होनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं है। किन्तु वह अध्याय वहाँपर है। अथर्ववेद भी उसीका समर्थन करता है—

यो वै तां ब्रह्मणो वेद अमृतेनावृतां पुरिम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च आयुः प्राणं प्रजां ददुः॥
(अथर्व० १०।२।२९)

'जो इस अमृतसे भरी हुई ब्रह्मपुरीको जानता है, उसे ब्रह्मकी कृपासे दीर्घ आयुष्य, निरोग शरीर, एवं सुप्रजा प्राप्त होती है।' अथर्ववेदने ब्रह्मज्ञानका यह फल लिखा है। यहाँपर ब्रह्मकी कृपासे जो प्रजा होगी वह दत्तक तो नहीं होगी!! वह तो औरस सन्तति ही होगी; इसीलिये औरस सन्तति होनेके समयसे पूर्व यह ब्रह्मज्ञान उन स्त्री-पुरुषोंको होना चाहिये। यह है वास्तवमें वेद और उपनिषदोंका कथन। सुप्रजाकी प्राप्ति तो ब्रह्मज्ञानी पुरुषोंको हुआ करती है। यही तो ब्रह्मज्ञानका फल है। प्राचीन वैदिक परम्परा ब्रह्मज्ञानका परिणाम सुसन्तती होना बताती है और आचार्य कहते हैं कि सन्तती होनेपर संसार त्याग करना चाहिये तथा उसके पश्चात् उपनिषदोंका अध्ययन करें। अब हमें सचमुच किसकी बात माननी चाहिये?

विचारोंका यह इस प्रकारका भयङ्कर परिवर्तन हुआ है जो कदापि उपेक्षणीय नहीं माना जाना चाहिये।

विचार करके तो देखिये

अब हम प्रमाणवचनोंको छोड़कर इस बातपर यहाँ विचार करेंगे। मातापिता सुशिक्षित, ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न व सदाचारी, ब्रह्मनिष्ठ एवं ब्रह्मज्ञानी हों तो उनकी सन्तानें अवश्य ही उत्तम होंगी, इसमें किंचिन्मात्र भी संशय नहीं है। वेद और उपनिषदोंका यही ध्येय था। यह बात उपर्युक्त वचनोंसे स्पष्ट सिद्ध होती है। प्रथम आयुमें कन्या और पुत्र उत्तम ज्ञान प्राप्त करें, समस्त अध्यात्मज्ञानका अध्ययन भी करें और फिर उनका विवाह हो,

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। (अथर्व)

इस प्रकार विवाह हो जानेके पश्चात् वे बृहदारण्यकोपनिषद्के कथनानुसार, ध्येयनिष्ठापूर्वक, मैं अमुक प्रकारकी सन्तती निर्माण करूंगा, ऐसा संकल्प करके उसके लिये अपेक्षित नियम-बन्धनोंका पालन करके उत्तम सन्तती निर्माण करें। ब्रह्मविद्याका यही फल है। 'अथर्ववेद एवं बृहदारण्यक उपनिषद् जो कहते हैं वह सत्य है' ऐसा विचार करनेपर स्पष्ट प्रतीत होता है।

किन्तु आज तो हम इसके सर्वथा विपरीत मानने लगे हैं। मान लीजिये कि हम उपर्युक्त विचारोंके अनुसार पुत्रपर संसारका सब भार डालकर उपनिषदोंका अध्ययन प्रारम्भ करें और फिर १० वर्षोंमें ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति हो तो ९० वें वर्ष ब्रह्मकी कृपा होनेपर भी औरस सन्तती उत्पन्न करनेकी सम्भावना ही नहीं रहती तथा दत्तक पुत्र प्राप्त करनेके लिये फिर ब्रह्मकी कृपाकी भी आवश्यकता बिलकुल नहीं रहती।

मैंने वेदान्त विषयके एक प्राध्यापकसे यह प्रश्न किया कि 'बृहदारण्यक उपनिषद्के अन्तमें यथेष्ट पुत्र उत्पन्न करनेका अध्याय है, उसका क्या प्रयोजन? तथा उसका आध्यात्मिक तत्वज्ञानसे क्या सम्बन्ध?' इसका उत्तर उन्होंने यह दिया कि 'बृहदारण्यक शतपथमेंसे लिया गया और चूंकि शतपथमें यह अध्याय था, इसलिये बृहदारण्यकमें भी वह आ गया। इस अध्याय और तत्वज्ञानका कोई सम्बन्ध नहीं है।'

अर्थात् इनके मतसे बृहदारण्यक उपनिषद्का संघ अज्ञानी था तथा अनजानेमें उन्होंने यह अध्याय यहाँपर ले लिया। ऐसे लोग हमारे विद्यार्थियोंको तत्वज्ञान सिखावें,

हमारे विद्यार्थी सीखें और उसकी तेजस्विता संसारमें फैलावें। कितनी शोचनीय स्थिति है यह ?

आचरणके लिये ही तत्वज्ञान

वास्तविक परिस्थिति यह है कि तत्वज्ञानका अस्तित्व मनुष्यके आचरणमें उतारनेके लिये ही है। तत्वज्ञान केवल वादविवादका विषय नहीं है। मनुष्यके आचरणमें उतरकर मनुष्यका निर्माण तदनुरूप होना चाहिये। मानवी आचरण पवित्र एवं शुद्ध होना चाहिये। नरका नारायण बनना चाहिये। ऐसे ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करनी चाहिये। क्योंकि इसीलिये प्रत्येक आर्यशास्त्रमें अध्यात्मशास्त्र गुम्फित किया गया है। मनुष्यका जीवन ही इस ज्ञानद्वारा पवित्र बनना चाहिये।

आज गीता और उपनिषदोंके अध्यापनवर्ग चालू हैं। किन्तु उनमें वे लोग आते हैं जो पेन्शनर हैं, जिन्हें आंखोंसे बराबर दिखाई नहीं देता और कानोंसे बराबर सुनाई नहीं देता। जिसके शरीरमें पुरुषार्थ करनेकी शक्ति शेष नहीं है, प्रायः ऐसे ही लोग गीताका अध्ययन किया करते हैं। किन्तु मूल जिस गीताका उपदेश किया गया वह भारतके युवक वीर अर्जुनको किया गया था। उपदेश करनेके समय भगवान भी युवक ही थे। एक युवक द्वारा दूसरे युवकके लिये उपदिष्ट ग्रन्थ आज गलितगात्र वृद्ध पढते हैं। भारतीय युद्ध समाप्त हो जानेके पश्चात् अर्जुनने ३० वर्षोंतक राज्यका संचालन किया था और आन्तरिक एवं बाह्य शत्रुओंका विनाश किया था। अर्थात् गीता एवं उपनिषद् जैसे ग्रन्थ ऐसी आयुमें आत्मसात् करने चाहिये कि उस आयुके पश्चात् कमसे कम ३०-४० वर्षोंतक जनसेवा एवं राष्ट्रसेवा करनेकी शक्ति हममें रहे।

युद्धोत्तरकालमें स्वयंकी तुच्छता व्यक्त करनेकी रूढी हो गई थी जो आजतक भी प्रचलित है। यह रूढी समाप्त होनी चाहिये। मेरा अर्थात् व्यक्तिका स्वरूप क्या है ? उसकी शक्ति कितनी है ? उसकी कार्यक्षमता कितनी है ? तब इसकी सुन्दर कल्पना युवकोंको हो सकती है। इसी दृष्टिकोणसे आजका पाठ्यक्रम निर्धारित होना चाहिये। अर्थात् स्नातक होनेसे पूर्व उसे अध्यात्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान एवं भौतिक विज्ञान प्राप्त होना चाहिये। ऐसे ज्ञानसे युक्त तरुण भारतीय ज्ञानका प्रसार विश्वमें कर सकते हैं; जिससे भारतीय तत्वज्ञानकी विशेषता संसारके सामने आ सकती है।

अध्यात्मज्ञान एवं राष्ट्रीय जीवन

यदि अध्यात्मज्ञान व्यक्तिगत जीवनका अवलम्ब बन जाय तो उसके द्वारा मानवी जीवनमें अभ्युदय-निःश्रेयसकी सिद्धि हो सकती है। अबतकके विवरणसे यही निष्पन्न होता है। अब हमें यह देखना है कि यही अध्यात्मकी भूमिका राष्ट्रोन्नतिके लिये किस प्रकार सहायक हो सकती है।

(२) अध्यात्मज्ञानसे राष्ट्रीय उन्नति

ऐसा प्रतीत होता है कि अध्यात्मज्ञान आर्योंके जीवनोपयोगी समस्त शास्त्रोंके आधारस्थानपर विराजित था। प्रत्येक आर्यशास्त्रके आधार स्थानपर अध्यात्मशास्त्रका आधिपत्य अवश्यमेव होगा। महाभारतके युद्धसे पूर्व जिस गीताशास्त्रका उपदेश किया गया था, वह अध्यात्मशास्त्र ही माना गया है। गीताशास्त्रका श्रवण करके अर्जुनका मन यदि शुद्ध न हुआ होता तो वह वनमें जाकर, कन्द-मूल-फल खाकर हरिहरि जपता हुआ अपना जीवन समाप्त कर देता। क्योंकि गीता श्रवणसे पूर्व उसने अपना यही निश्चय कर लिया था।

श्रीरामचन्द्रकी दैववादी प्रवृत्ति दूरकरके, पुरुषार्थ द्वारा सबकुछ प्राप्त कर लेनेकी उत्साही प्रवृत्ति उत्पन्न करनेका समस्त श्रेय 'योगवासिष्ठ' नामक अध्यात्मग्रन्थको ही देना चाहिये। इस ग्रन्थका उपदेश सुनकर श्रीरामचन्द्र दैववादको छोडकर पक्के पुरुषार्थी बन गये।

जिस प्रकार गीताका श्रवण करनेके पश्चात् अर्जुनने कौरवोंकी साम्राज्यशाही को समाप्त कर दिया और अपने राज्यकी फिरसे स्थापना की, उसी प्रकार योगवासिष्ठका उपदेश सुनकर श्रीरामचन्द्रने अपने दैववादी विचार दूर फेंक दिये और अपने अन्दर प्रयत्नवादी विचारोंका उदय करके रावण साम्राज्यका विनाश कर दिया। ३३ कोटि देवोंको रावणकी बन्दिशालासे मुक्त कराया और रामराज्यकी स्थापना की। इस रामराज्यकी प्रशंसा सारा विश्व आजतक करता आ रहा है।

दो स्थानोंपर अध्यात्मशास्त्रका उपदेश दिया गया और दोनों ही स्थानोंपर राष्ट्रीय दृष्टिसे सर्वाङ्गीण उन्नति हुई, यह बात स्पष्ट दिखाई देती है। इससे यह सिद्ध होता है कि अध्यात्मशास्त्र राष्ट्रीय उन्नतिके लिये साधक है।

शान्तिकी स्थापना

संसारको और मनुष्यमात्रको शान्ति चाहिये। मनुष्य शान्तिके लिये छटपटाया करता है। वह युद्ध भी इसीलिये करता है कि जिससे शान्ति स्थापित हो सके। यदि उसके इन प्रयत्नोंके बावजूद युद्ध होते हों तो हों; किन्तु उसका ध्येय शान्ति ही रहता है। यह शान्ति तीन प्रकारकी है। एक वैयक्तिक शान्ति, दूसरी राष्ट्रीय शान्ति और तीसरी जागतिक शान्ति। इस प्रकार इन तीनों शान्तियोंकी स्थापना इस धरतीपर होनी चाहिये। वैयक्तिक शान्ति अन्तःकरण एवं शरीरमें होनेवाली शान्ति है। दूसरी राष्ट्रीय शान्ति है जो राष्ट्रमें हुआ करती है। अर्थात् राष्ट्रमें गुण्डोंका चोर और डाकुओंका, व्याघ्रादि पशुओंका उपद्रव न हो, रोग न फैलें इत्यादि राष्ट्रीय शान्ति है। जागतिक शान्तिका अर्थ यह है कि जगत्‌में युद्ध न हों तथा अन्य जागतिक अशान्तिके कारण दूर हों। इन तीनों प्रकारकी शान्तियोंकी इच्छा मनुष्योंके अन्दर है। जनता एतादृश शान्तिके लिये आज अत्यन्त आतुर है। इसीलिये भारतीयोंके प्रत्येक धर्म-कार्योंके अन्तमें "ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः" ऐसा कहा जाता है। यह रूढ़ी हजारों वर्ष प्राचीन है। हम जो कुछ करते हैं वह इन तीनों शान्तियोंकी स्थापनाके लिये करते हैं। इस रूढ़ीका यही अर्थ है।

समस्त उपनिषदोंके प्रारम्भ एवं अन्तमें इन तीनों शान्तियोंका उच्चारण अवश्य करना चाहिये, ऐसी अनादि कालसे प्रचलित प्रथा है।

किन्तु हमने तीन शान्तियोंका उच्चारण किया, इसका यह अर्थ नहीं होता कि हमने इन तीनों शान्तियोंकी स्थापनाका कार्य कर लिया। क्या यह सब करनेका दायित्व हमपर है? इस प्रकार हम यदि गम्भीरतासे विचार करें तो यह स्पष्ट विदित हो जावेगा कि इन तीनों शान्तियोंकी स्थापनाका वास्तविक उत्तरदायित्व बहुत कम व्यक्ति अनुभव करते हैं और उस उत्तरदायित्वको निभानेकी शक्ति भी बहुत कम लोगोंपर है।

*

जागतिक शान्ति

आज जागतिक शान्ति स्थापन करनेके कार्यको पूरा करनेकी शक्ति केवल दो पुरुषोंमें ही है। एक है रशियाका अध्यक्ष स्तालिन और दूसरा है अमेरिकाका अध्यक्ष ट्रुमैन। ये दोनों यदि मिल जांय और सोच लें तो शान्ति स्थापित हो सकती है और यदि ये सोच लें कि युद्ध करेंगे तो इस सारी पृथ्वीपर युद्ध भड़क सकते हैं।

राष्ट्रीय शान्ति

दूसरी शान्ति राष्ट्रीय है। केवल भारतके विषयमें यदि कुछ कहना हो तो यहाँपर श्री जवाहरलाल नेहरू शान्ति स्थापना कर सकते हैं। विदेशसे युद्ध करना या न करना आज उनकी अनुमतिपर निर्भर है। सर्व साधारण जनता आज चाहे जितना हल्ला मचावे तब भी कुछ होना जाना नहीं है। श्रीनेहरू युद्ध करनेका यदि निश्चय करलें तो भारत राष्ट्र युद्धमें समा सकता है। जबतक वे यह कहते हैं कि 'हमें युद्ध नहीं करना है' तभीतक शान्ति रह सकती है। राष्ट्रीय शान्ति भी इस प्रकार बिल्कुल गिनेचुने लोगोंके हाथमें रहा करती है।

जागतिक शान्ति एवं राष्ट्रीय शान्ति दोनों ही राज्याधिकारियों द्वारा ही सम्भव है और यदि वे चाहें कि युद्ध हो तो युद्ध भी उन्हींकी इच्छापर अवलम्बित है। अर्थात् युद्ध एवं शान्ति उन्हींकी इच्छापर अवलम्बित रहनेवाली बात है। सदैव ऐसी परिस्थिति रहा करती है। महाभारतका युद्ध अकेले दुर्योधनके दुराग्रहके कारण हुआ और लंकाका युद्ध भी अकेले रावणके हठके कारण हुआ। अन्य बड़े बड़े पुरुषोंका सारा शान्तिप्रयास व्यर्थ ही गया।

वैयक्तिक शान्ति

वैयक्तिक शान्ति व्यक्तिके अन्तःकरणमें स्थापित करनी होती है; अतः वह प्रत्येक व्यक्तिके अपने अधिकारकी बात है, ऐसा यदि हम कहें तो यह भी सत्य नहीं है। क्योंकि अन्तःकरणकी शान्ति योगसाधनादि द्वारा हुआ करती है और योगसाधन 'सुभिक्षे धार्मिके राज्ये' जहाँ सस्ताई और धार्मिक राज्य हो वहीं सम्भव है। चाहे जहाँ-पर योगसाधन सम्भव नहीं है और इसीलिये चाहे जहाँ वैयक्तिक शान्ति भी सम्भव नहीं है।

जहाँपर खून, रक्तपात, अग्निकाण्ड, लूट और डाकेजनी होती हो, जहाँकी राज्यव्यवस्था अशान्तिको रोकनेमें समर्थ न हो वहाँ कोई भी किस प्रकारसे योगसाधन कर सकेगा? ऐसे अशान्तिके युगमें और अशान्त देशमें योगसाधन सम्भव ही नहीं है। अतःऐसे स्थानपर वैयक्तिक शान्तिकी स्थापना भी असम्भव है।

इन सब बातोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि तीनों शान्तियोंका सम्बन्ध राज्यव्यवस्थासे है। यदि राज्यव्यवस्था उत्तम एवं समर्थ होगी तो ही ये तीनों शान्तियाँ स्थापित हो सकेंगी; अन्यथा ये तीनों शान्तियाँ स्थापित न हो सकेंगी। हम लगभग पांच हजार वर्षोंसे ' शान्तिः शान्तिः शान्तिः ' चिल्लाते आरहे हैं; किन्तु शान्ति स्थापित न होकर अशान्ति ही बढती जारही है। इसका कारण यह है कि राज्यशासनशक्ति जिनके आधीन है उनके मनमें यह बात नहीं है कि शान्तिस्थापित हो और जो शान्तिका जयघोष करते हैं उनके पास राज्यशासन शक्ति नहीं होती।

जिन ऋषियोंने प्रथम तीनबार शान्तिका उच्चारण किया, उन्हें यह विदित था कि राज्यशासनशक्तिसे ही इन तीन शान्तियोंकी स्थापना सम्भव है। उस समयके ऋषि राज्यशासन शक्तिका उपयोग कर सकते थे; इसी लिये उनके ' शान्ति ' उच्चारण करनेका महत्व है। संसार में उन्हें स्थायी शान्ति स्थापित करनी थी और इस विषयमें उनके पास एक व्यवस्थित योजना भी थी। इसीलिये उन्होंने ' समुद्र पर्यन्तायाः पृथिव्याः एकराट् ' समुद्रतक पृथ्वीका एक सार्वराजा होना चाहिये और उसका विधान भी एक ही होना चाहिये, ऐसा घोषित किया था। यह घोषणा पूजा आदि के अवसरोंपर आज भी ब्राह्मण करते हैं; किन्तु उनके हाथमें राज्य-सत्ता नहीं रहती। ऐसी स्थितिमें इस घोषणाका कोई महत्व नहीं रह जाता। इस प्रकारसे विचार करनेपर यह प्रतीत होता है कि प्रत्येक उपनिषद्के आरम्भ और अन्तमें किया जानेवाला यह त्रिवार शान्तिघोष राजकीय स्वरूपका है। इस घोषके साथ राज्यशक्ति होनेपर ही शान्तिस्थापना सम्भव है।

उपनिषदोंका शान्तिमन्त्र आध्यात्मिक ध्येयका एक अंश है और इसका सम्बन्ध इस प्रकार राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूपकी राजनीतिसे है। बहुत बडी राजकीय योजना और बहुत बडी राज्यशासन शक्ति पीछे होनेपर ही त्रिवार शान्तिका कुछ मूल्य हो सकता है। अन्यथा केवल खोखले शब्दोंके उच्चारणसे क्या लाभ ?

अध्यात्मका राष्ट्रीय जीवनसे क्या सम्बन्ध है। यह बात इस विवरणसे स्पष्ट हो जाती है। आजके अध्यात्मशास्त्रका अध्ययन करनेवाले यह समझते हैं कि आन्तरराष्ट्रीय, राष्ट्रीय एवं प्रान्तीय राजनीतिसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। यही नहीं अपितु स्वयंके घरके प्रबन्धसे भी मुझे कोई सरोकार नहीं है। मैं अकेला रहूँगा, किसीसे सम्बन्ध न रखूंगा एवं आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त करूँगा, आदि। किन्तु ये विचार अशुद्ध हैं, गलत हैं। ऐसा होना कभी भी सम्भव नहीं है।

अमृत प्राप्ति संघशः होती है

यजुर्वेद अ. ४० ईशोपनिषद्में स्पष्ट रूपसे कहा है कि ' संभूत्या अमृतं अश्नुते ' सम्भूतिसे ही अमृतकी प्राप्ति होती है। ' सम्भूति ' अर्थात् सं= एकरूप होकर, भूति= रहना। संघ बनाकर रहनेसे अमरत्व की प्राप्ति होती है। व्यक्ति तो मरेगा ही। व्यक्तिका अमर होना असम्भव है। संघ अमर है। हिन्दु व्यक्ति मरते रहते हैं; किन्तु हिन्दु समाज अमर है। सम्भूति द्वारा यह इस प्रकार अमरत्व प्राप्त हो सकता है।

प्रजया अग्ने अमृतत्वं अश्यां। ऋ०

प्रजा द्वारा अमरत्वकी प्राप्ति होती है। अखण्डित प्रजासातत्यसे अमरत्व प्राप्त होता है। इसी प्रकार शिष्य परम्परासे अमरत्व प्राप्त हुआ करता है। संघमें रहनेसे, प्रजासातत्यसे, शिष्य परम्परासे अमरत्व प्राप्त होता है। यह बात अच्छी प्रकारसे सिद्धकी जा सकती है।

एक मनुष्यको दस पुत्र हुए। इस प्रकार प्रत्येक पीढीमें होता गया तो तीसवी पीढीको धरतीपर रहनेके लिये उनके वंशजोंको स्थान ही न रहेगा। किन्तु यह केवल संख्याकी बात हुई। ' न अस्य कुले अब्रह्मवित् भवति ' ऐसा माण्डूक्योपनिषद्में कहा गया है। जो ओंकारकी उपासना करता है उसके कुलमें ब्रह्मज्ञानहीनपुरुष उत्पन्न नहीं होते। सन्तति हो और वह ज्ञानसम्पन्न हो, यह कितनी बडी महत्वाकांक्षा है। ' हम ज्ञानविज्ञानसम्पन्न अविच्छिन्न सन्तति परम्परासे अमर होंगे '। यह महत्वाकांक्षा वैदिक

ऋषियोंकी थी और ऐसी महत्वाकांक्षा किसीके भी लिये भूषणावह ही होगी। दो चार पीढियों तक निरन्तर विद्वान उत्पन्न होते रहें तो उस कुलका कितना गौरव होता है। यहाँ तो इस प्रकारकी सन्तान परम्परासे आनन्त्यकी प्राप्ति करनी है। यदि किसी कुलमें बीस पीढियोंतक अविच्छिन्न ज्ञान परम्परा रहे तो उसकी कीर्ति कितनी होगी! शिष्य परम्परासे भी इस प्रकार आनन्त्य प्राप्त हो सकता है। वसिष्ठ-विश्वामित्रादि गोत्र पुत्र परम्परा और शिष्य परम्परा दोनोंसे आनन्त्य प्राप्त करनेवाले कुल थे।

व्यक्ति विश्वका सम्बन्ध तोडकर मुक्त होती है, इस प्रकारकी जो मुक्तिकी कल्पना सर्वत्र की जाती है वह इन प्राचीन ऋषियोंके मनमें भी नहीं आई थी। अपने संघकी वृद्धि करके, पुत्रपरम्परा एवं शिष्य परम्परा अविच्छिन्न रूपेण सुरक्षित रखकर आनन्त्य प्राप्त करना ही ऋषिजीवनका आदर्श था। मैंने यह ज्ञान ढूंढकर निकाला है और इसे मैं इन तीनों परम्पराओं द्वारा स्थायी बनाऊंगा, ऐसे भाव यहाँ हैं। सारे विश्वका त्याग करके केवल मैं ही मुक्तिका-अमृतपान करता रहूँगा, ऐसे भाव यहाँ नहीं है। सम्भूति समुदाय, समाज, राष्ट्र, मानव समष्टि इस प्रकार यह सम्बन्ध उत्तरोत्तर वृद्धिंगत होता जाएगा। इसके द्वारा एक होकर हमें समुदायका हित साधन करना है। पृथक् पृथक् होनेका भाव यहाँपर नहीं है। यह संगठन बढकर समुद्रतक व्यापक समस्त पृथ्वीके मानवोंतक पहुँचाना है। यह विश्व एक कुटुम्ब या एक शरीर है, ऐसा अनुभव हमें प्राप्त करना है।

सबका कारणशरीर एक

स्थूल, सूक्ष्म और कारण इस प्रकार मनुष्यके तीन शरीर हुआ करते हैं। कोई कोई एक चौथा महाकारण शरीर भी मानते हैं। प्रत्येकका स्थूल एवं सूक्ष्मशरीर भिन्न भिन्न हुआ करता है। किन्तु कारणशरीर समस्त मानव जातिका एक ही होता है। वैयक्तिक भाव केवल स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरके विषयमें ही सीमित रहता है। कारणशरीरमें जाकर पृथक् पृथक् वैयक्तिक भाव रहता ही नहीं है। क्योंकि वह कारणशरीर सबका मिलकर एक है। मुक्तिमें अवस्थित अमृत यहींपर संचित रहता है। इसी लिये इस प्रकारकी सम्भूतिद्वारा अमृतत्वकी प्राप्ति होती है। अविच्छिन्न ज्ञानकी परम्परासे अमरत्वकी प्राप्ति होती है, ऐसा कहा गया है।

जागृत अवस्थाके मनमें व्यक्तिभावका पार्थक्य है। एक बार जागृतिमेंका मन स्तब्ध हो जानेपर भूमा अवस्था प्राप्त होती है। यह कारणशरीरकी भूमा अवस्था सम्भूतिकी अवस्था है। यहाँ सर्वात्मभावका अनुभव होता है। यही अमृतत्व है। यही विश्वरूप है। यहीं पर सर्वात्मता अवस्थित है।

समस्त जनता ही एक पुरुष है

पृथ्वीपरकी समस्त जनताको मिलाकर एक शरीर बनता है। यहाँ मत, पंथ, वंश, देश आदिके भेद नहीं हैं। समस्त मानव जाति कारणशरीरसे एक ही है। वह एकता अविभक्त एवं अविच्छिन्न है, ऐसा मानकर ही मनुष्योंके समस्त व्यवहार होने चाहिये। इसीका नाम 'समुद्रतककी समस्त पृथ्वीपर एक राजा हो और समस्त मानव जातिका एकराज्य हो' यह है। इस अखिल मानव जातिको वेदने 'पुरुष' कहा है। समस्त मानवी जनता मिलकर 'एक पुरुष' है। इसी बातको प्रथम समझना चाहिये। यह बात जनताको आज समझ लेनी है। वह बात वेदोंने दी, ऋषियोंद्वारा उपदिष्ट हुई। समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका एक आर्यराज्य हो, इस प्रकारकी घोषणा पांच हजार वर्ष पूर्व भारतीय ऋषियोंने की और वह घोषणा वहीं तक रही। इन पांच हजार वर्षोंमें एक कदम भी आगे नहीं बढा गया। समस्त जनता एक पुरुष है। अर्थात् सब मनुष्योंका मिलकर एक देह है। इतनी अधिक एकात्मता सब मनुष्योंमें उत्पन्न होनी आवश्यक है। देखिये—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठत् दशाङ्गुलम्।
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥
(ऋक्. १०।९०)

सहस्र बाहुः पुरुषः। (अथर्व० १९।६)

हजारों मस्तक, हजारों बाहु, हजारों नेत्र, हजारों उदर, हजारों जांघें और हजारों पैरोंवाला एक पुरुष इस पृथ्वीपर चारों ओर फैला हुआ है। ज्ञानी मनुष्य इसके मुख हैं, शूरवीर बाहू हैं, किसान और व्यापारी इसके उदर हैं तथा जांघे हैं, कारीगर इसके पैर हैं' इस प्रकारका यह

ज्ञानी, शूर, व्यापारी और शिल्पी मिलकर एक देह है। एक देहमें जिस प्रकार एकात्मता होनी चाहिये वैसी एकात्मता इस जनता रूपी पुरुषमें होनी चाहिये।

कौटुंबिक एकात्मता

कुटुंबमें अनेक मनुष्य भिन्न भिन्न होनेपर भी कुटुंब रूपसे उनमें जिस प्रकार एकात्मता रहती है (क्योंकि इस प्रकारकी एकात्मता होनेपर ही उस कुटुंबका यश एवं सामर्थ्य बढ सकता है) उसी प्रकार गांवमें, प्रान्तमें, राष्ट्रमें और पृथ्वीपर एकात्मता होवे तो ही समुद्रपर्यंत पृथ्वीपर एक आर्यराजा होगा एवं सर्वत्र एक राज्य व्यवस्था हो सकेगी। 'वसुधैव कुटुंबकम्' की वृत्ति यही है। सम्पूर्ण पृथ्वीकी समस्त जनता एक कुटुंबके समान एकात्मतासे एकरूप होनी चाहिये।

राष्ट्रीय जीवनका पाया

अध्यात्मके आधारपर राष्ट्रीय जीवनका इस प्रकारका यह सुदृढ पाया है। इसी पर राष्ट्रीय जीवनकी रचना होनी है। यहाँ यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि विश्वात्मा, सूत्रात्मा या सर्वात्मा एक है, सबका कारणशरीर एक है। इस अध्यात्मके सिद्धान्तपर ही ये विचार आधारित हैं। व्यक्तिके पृथक्त्वको एवं पृथक् मुक्तिको यहाँ कोई विशेष स्थान नहीं है। व्यक्तिको अपनी पूर्ण उन्नति अवश्यमेव कर लेनी चाहिये। इसकी कारणशरीरमें जागृति होने तक पारसीमा है। इसका उदाहरण हम भगवान श्रीकृष्ण एवं अर्जुनके रूपमें दे सकते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण स्वयंको विश्वरूपमें अनुभव करते थे। उनका यह अनुभव उनके कारणशरीरपर जागृति होनेकी अवस्थामेंका था। श्रीकृष्णके लिये वैयक्तिक अथवा अन्य छोटेमोटे भेद प्रतिबन्ध स्वरूप नहीं हो पाते थे। इस कारण उनके सार्वजनिक हितके कार्य अव्याहत रूपसे जारी थे।

इनके साथ अर्जुन था। उसकी जागृति केवल उसके शरीरतक ही सीमित रहती थी। उसे इस बातका सुखदुःख अनुभव होता था कि 'मेरे सगे सम्बन्धि मर जायँगे अथवा जीवित रहेंगे।' भगवान् श्रीकृष्ण इस सुखदुःखसे मुक्त थे। क्योंकि उनकी जागृति कारणशरीरपर अर्थात् वैश्वानर स्थिति की थी। मनुष्यको इस स्थितितक पहुँचना है। इस लिये कहा है कि—

वैश्वानर स्थिति

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥
१५।१४

'मैं वैश्वानर होकर प्राणियोंके देहमें रहा हूँ और प्राण तथा अपानसे युक्त होकर मैं चतुर्विध अन्न शरीरमें पचाया करता हूँ।' शरीरमें अन्न पचाना वैयक्तिक कार्य है तथा प्राणियोंके देहमें रहनेवाला, सदैव कारणशरीरपर जाग्रत रहनेवाला विश्वव्यापक आत्मा वैश्वानर है। इस वैश्वानर अवस्थाका अनुभव श्रीकृष्ण किया करते थे और उसी कालमें उनके सहवासमें रहनेवाला अर्जुन वैयक्तिक अवस्थामें जाग्रत था। ये दोनों कौरवोंके दुष्ट साम्राज्यको तोडकर उसके स्थानमें धर्मके साम्राज्यकी स्थापनाका राष्ट्रीय आन्दोलन एकमनसे कर रहे थे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कारण शरीरकी उच्च भूमिकापर पहुँचा हुआ पुरुष भी राजनीतिके डावपेंच खेल सकता है। अर्जुन केवल स्थूल शरीरपर जाग्रत होनेके कारण बार बार मोहित हो जाता था और इसी कारण वह अपने कर्तव्यसे भी च्युत हो जाता था।

ज्ञानी, शूर, व्यापारी और शिल्पी ये सब मानवसमष्टिरूप एक पुरुषके मस्तक, बाहू, उदर और पैर हैं। इन एक एक अवयवोंके अन्तर्गत और भी बहुतसे उपविभाग हैं। किन्तु मुख्य मुद्दा तो यह है कि यह सम्पूर्ण मानव समष्टि एक देह है। एक देहके समान इसमें एकात्मता अपेक्षित है। इसमें अनन्यभाव चाहिये। आज इसमें वैर है।

अध्यात्मज्ञानद्वारा वैश्वानर, सूत्रात्मा, सर्वात्मा, विश्वात्मा इत्यादि नामोंकी यही सबके एकात्मताकी कल्पना प्रतिपादित की गई है। इस कल्पनाका प्रतिपादन वेद और उपनिषदों द्वारा होनेपर भी मानवजातिने अभीतक उसे स्वीकार नहीं किया है। अभीतक मानवजातिके वंशभेद, धर्मभेद, पंथभेद, देशभेद, प्रांतभेद आदिके चक्रमें ही पडी हुई है। अभीतक इस मानवसमाजमें 'वसुधैव कुटुंबकम्' की वृत्ति उत्पन्न होनी है। आर्यऋषियोंमें यह वृत्ति खूब

विकसित हुई हुई थी; किन्तु वह विकास आज उनके वंशजोंमें नहीं रह गया है। किन्तु भारतीय तत्त्वज्ञानके ग्रन्थोंमें वह है और वे ग्रन्थ आज हमारे पास हैं, यह सौभाग्यकी बात है।

मानव सृष्टिकी एकात्मता

मानव सृष्टिकी एकात्मता आर्योंकी आध्यात्मिक राष्ट्रीयताका आधार है। यह एकात्मता हमारे अन्दर एकरस हो जानेके पश्चात् केवल राष्ट्रीयताके नामपर वैर नहीं बढेंगे। यह वैश्वानरीय एकात्मता हममें न होनेके कारण और इस प्रकारकी अज्ञान-स्थितिमें भौतिक विज्ञान अत्यधिक बढ जानेके कारण युरोपियन राष्ट्र आपसमें व्यर्थ ही संघर्ष करते रहते हैं और इस प्रकार अपना गला अपने आप ही काट लेते हैं। किन्तु ऐसा करनेका कोई कारण नहीं है। जिस प्रकार एक कुटुम्बमें अनेक मनुष्य स्वतन्त्ररूपसे रहनेपर भी कुटुम्बभावनासे एकात्म हो सकते हैं, इसी प्रकार विश्वरूपी वैश्वानर पुरुष एक ही है, यह जानकर प्रत्येक राष्ट्र एक कुटुंबके अवयवके समान अपनेको मानेंगे और सेवा भावसे एक दूसरेकी उन्नतिके लिये पूरक होंगे। किन्तु इसके लिये विश्वात्मा एक है, समस्त पृथ्वीके मनुष्य मिलकर एक पुरुष है, यह अध्यात्मका ज्ञान उन्हें समझा देना आवश्यक है। यह बात यदि इन यूरोपीय राष्ट्रोंकी समझमें आ जाय तो उनका जो भौतिक विज्ञान आज विनाशक यन्त्रोंको उत्पन्न करनेमें अपनी शक्ति व्यय कर रहा है वही सहायक एवं हितकारी यन्त्रोंका निर्माण करेगा, जिससे संसारको सुख मिल सकता है। इसीलिये अध्यात्मज्ञानपर संचालित राष्ट्रीय जीवनका प्रसार होना आज आवश्यक है।

राजाका आदर्श ईश्वर

ईश्वर विश्वका राजा है और राजा एक राष्ट्रका राजा है। राज्य छोटा हो या बडा हो उसकी व्यवस्था एवं अनुशासन सर्वत्र समान ही रहना आवश्यक है। ऋषियोंने जो ईश्वरकी स्तुति की है और उसमें जो उसका वर्णन किया है वह विश्वके श्रेष्ठ एवं निर्दोष राज्यशासकका वर्णन है। ईश्वर शुद्ध, पवित्र, निर्दोष, समर्थ, दक्ष एवं प्रमादरहित शासक है। इस प्रकारके जिन गुणोंका वर्णन किया गया है वे सब राष्ट्रके शासकके लिये आदर्श स्वरूप होवे इसीलिये किया गया है। ईश्वरके सब गुण इस प्रकारसे आदर्श राजाके गुण हो सकते हैं। इस एक सूत्रको यदि हमने ध्यानमें रखा तो अध्यात्मशास्त्रका सिद्धान्त राज्यव्यवस्थामें किस प्रकार उपयोगी होते हैं, यह सहज ही समझमें आ जायेगा। उदाहरणार्थ हम ईश्वरके एक दो गुणोंको लेंगे। ईश्वरके ज्ञानी, निर्दोष, दक्ष, समर्थ आदि जो गुण हैं वे राजामें भी होवें, यह बात किसे स्वीकार न होगी? हम यहाँ एक दो गुणोंका सोदाहरण विचार करेंगे।

अकर्ता ईश्वर एवं प्रकृति कर्त्री

ईश्वर अकर्ता है और जो कुछ करना होता है वह सब प्रकृति किया करती है। यह अध्यात्मका एक बडा सिद्धान्त है।

> कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ॥ २० ॥
> प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
> यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २९॥
> (गीता १३)

'प्रकृति ही सब कर्म किया करती है और आत्मा अकर्ता है, इस प्रकार जो जानता है वही सचमुच सत्य जानता है।' प्रकृति समस्त सृष्टिके व्यवहार किया करती है और आत्मा अथवा ईश्वर उस प्रकृतिके खेल देखा करता है। स्वयं कुछ नहीं करता। अध्यात्मका यह सिद्धान्त सबको विदित है। ईश्वर अथवा आत्माके स्थानपर हम 'राजा' को रखेंगे और प्रकृतिका अर्थ 'प्रजा' है, यह तो प्रसिद्ध ही है। यदि उसके प्रमाण अपेक्षित हों तो देखिये—

> प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः। शाकुन्तल ७/३५
> नृपतिः प्रकृतिरवेक्षितुं। रघु. ८।१८-१९

> स्वामी-अमात्य-सुहृत्-कोष-राष्ट्र-दुर्ग-बलानि च।
> राज्याङ्गानि प्रकृतयः पौराणां श्रेणयोऽपि च।
> (अमरकोष २।८।१७)

(प्रकृतिहित) राजा प्रजाका हित करे। प्रजाकी देखरेखके लिये राजा होता है। (१) अधिकारी, (२) मन्त्री, (३) मित्र, (४) कोश, (५) देश-राष्ट्र, (६) किले, (७) सेना ये राज्यके सात अङ्ग हैं और इसे प्रकृति कहते हैं। नागरिकोंके समुदायको भी प्रकृति कहा जाता है। (पौरश्रेणी)

नागरिकोंका यह भी एक आठवा अङ्ग है, ऐसा किन्ही विद्वानों का कथन है । ' प्रकृति ' का अर्थ प्रजाजनोंका संघ । प्रकृति सब कार्य करे, इसका अर्थ यह होता है कि प्रजाजनोंकी समितियाँ और उसके संघ राष्ट्रशासनके सब कार्य करे । राजा प्रकृतिके कार्यमें हस्तक्षेप न करे । प्रकृतिको-प्रजाको-अपनी उन्नतिके लिये जो कुछ करना आवश्यक हो वह सब करनेके लिये उसे पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये ।

प्रजा ज्ञानविज्ञानसे इतनी अधिक सम्पन्न होनी चाहिये कि जिससे वह अपना समस्त कार्यव्यवहार स्वयं कर सके और राजाको करनेके लिये कुछ शेष ही न रहे ! 'आत्मा अकर्ता एवं प्रजा सब कुछ करनेवाली' अध्यात्मके सिद्धान्त-का क्या यह राजकीय रूपान्तर नहीं है ? इसमें अर्थ विषयकी कोई खींचातानी भी नहीं है अथवा कोई विशेष कल्पना भी नहीं करनी पडी है । ईश्वरके विश्वराज्यके सिद्धान्तोंको हमने पृथ्वीके राजाके लिये प्रयुक्त किया है । इसी प्रकार अन्य सिद्धान्त लगाकर देखना चाहिये । और देखिये-

विशि राजा प्रतिष्ठितः । धर्मोऽस्मि । वा. य. २०।९
वशो मे अङ्गानि सर्वतः ॥ वा. य. २०।८

'प्रजाका आधार राजाको है । राजा कहे कि मैं धर्म हूँ, और मेरा समस्त शरीर प्राजाका बाना हुआ है । ' इस प्रकार राजा माने । राजा और प्रजाकी एकात्मताका यहाँ उत्तम प्रकारसे वर्णन किया गया है । यहाँ राजा प्रजाका संघर्ष नहीं है अपितु उनका एकात्म्य है ।

राज्यशासकका शरीर प्रजाजनोंका शरीर है और प्रजा राज्यशासकका शरीर है । इतनी यहाँपर एकात्मता है ।

हमने पहले दिखाया है कि समस्त जनता मिलकर एक पुरुष है एक शरीर है । इस शरीरमें एक राष्ट्र भी है और वह उस अखिल मानवसंघरूपी शरीरका एक अवयव बनकर रहेगा । वहाँपर वैरभाव उत्पन्न न होनेके लिये ' समस्त मानवसमाज एक शरीर है ' यह कल्पना राष्ट्र-शासनके मूलमें रखी है । यह एक शरीर है; अतएव समुद्र पर्यंत पृथ्वीका एक आर्यराजा हो और उसका राज्यशासन एक हो, ऐसा कहा गया है । एक शरीरमें एक ही शासन हो, यह बात विशेष स्पष्टीकरण करनेकी नहीं है । प्रत्येक राष्ट्रको ' मैं समस्त मानवसंघको एक भाग हूँ, एक अवयव अथवा एक अंग हूँ, ' ऐसा मानकर व्यवहार करना चाहिये । इससे विश्वसेवाके भाव प्रत्येकमें उत्पन्न होंगे और द्वेषभाव जडमूलसे नष्ट हो जावेंगे ।

अपने शरीरको ही लीजिये । प्रत्येक अवयव अन्य शरीरकी सेवा करनेके लिये ही है । प्रत्येक अवयवको चाहिये कि वह समर्थ बने और अन्य शरीरकी सेवा करे । तभी सम्पूर्ण शरीर सुखी हो सकता है । इसी प्रकार समस्त राष्ट्रोंको चाहिये कि वे मिलकर अपनेको अखिल मानव जातिरूपी शरीरके अवयव माने और अपने सामर्थ्य एवं वैशिष्ट्यकी वृद्धि करके, समस्त जनताकी सेवाद्वारा सुखका वातावरण निर्माण करें । इस प्रकार समस्त मानवजातिका कल्याण होगा, विद्वेष कम होकर पृथ्वीपर स्थायी शान्ति हो सकेगी ।

सर्वव्यापक ईश्वर

एक और सिद्धान्तका अब विचार करेंगे । ' ईश्वर सर्व-व्यापक है ' यह बात अध्यात्म द्वारा निश्चित की गई है और यह सर्वविदित है ।

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत् किं च ।

वा. य. ४०।१ ईश. १

' ईश्वर इस सबमें व्यापक है ' ऐसा इस मन्त्रका कहना है । जो ईश्वर समस्त विश्वमें है वह स्वयंके सामर्थ्यसे ही वहाँ व्याप्त है । किसी दूसरेकी दयासे वहाँ नहीं रहा है । उससे अधिक सामर्थ्यवान् कोई अन्य नहीं है जो कि उसे वहाँसे हटा सके ।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव । ऋ. १०।१२१।१०

' हे प्रजापते ! यहाँपर तुमसे अधिक सामर्थ्यवान् दूसरा और कोई नहीं है, जो तेरा पराभव कर सके ' इसलिये यह ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है । इसका तात्पर्य यह है कि जिसके शरीरमें शक्ति होती है वही यहाँपर इस राष्ट्रमें रह सकता है । यदि कोई दूसरा यहाँपर उससे बढचढ कर होगा तो वह उसे हटा देगा ।

इस अर्थको अपने राष्ट्रमें घटाइये । आज हम स्वतन्त्र हैं । हमें स्वराज्य प्राप्त हुआ है । यदि इसे स्थायी रखना हो तो तदर्थ हमें सामर्थ्यवान् बनना चाहिये, हमसे अधिक दूसरा कोई भी अधिक सामर्थ्यशाली न हो, ऐसा प्रयत्न करना चाहिये । हमारा सामर्थ्य अपने शत्रुकी अपेक्षा

अधिक प्रभावशाली होना चाहिये। शत्रुकी अपेक्षा यदि हम अधिक दक्ष, अधिक प्रभावी और अधिक समर्थ होंगे तो ही प्राप्त हुआ स्वराज्य टिक सकेगा। यदि हमारी लापर्वाहीसे शत्रुकी शक्ति अधिक प्रभावी हो गई तो हमारा टिकाव लगना भी कठिन हो जायेगा।

'ईश' वह है जो ईशन शक्तिसे युक्त हो। जिसमें इस प्रकारकी शासक शक्ति होगी वही राज्यका शासन चला सकेगा। जिसमें शासन करनेका सामर्थ्य न होगा उसे यदि राज्यपर अधिष्ठित कर दिया जाय तो उसका वहाँ स्थिर रहना सम्भव ही नहीं है।

ऊपर बताया गया है कि ईश्वर सर्वत्र व्यापक है। उसकी शक्ति सर्वत्र विद्यमान है। ऐसा स्थान कहीं भी नहीं है जहाँपर उसकी शक्ति न हो। राष्ट्रभरमें यह शासक-शक्ति सर्वत्र समानरूपेण प्रभावशाली होनी चाहिये। केवल केन्द्रमें प्रभावशाली हो और अन्यत्र न हो, ऐसा न होना चाहिये। ईश्वर सर्वत्र पहुँचा है और सर्वत्र प्रभावशाली है। इसीलिये उसे इधर उधर सरकाना सम्भव नहीं है। हमारे राज्यशासकका शासन यदि सभी स्थानोंपर उत्तम रूपेण प्रभावी होगा तो ही वह स्थिर रह सकता है। जहाँ संरक्षण कम होगा वहाँ शत्रु आक्रमण कर देगा और अपना आधिपत्य जमा लेगा।

ईश्वरके उपर्युक्त गुणोंका ही यदि केवलमात्र विचार किया जाय तो यह भलिभांति विदित हो जायेगा कि हमारा राज्य-शासन किस प्रकारका होना चाहिये। ईश्वरके गुणोंको ही हमें अपने राज्यशासनमें अन्तर्हित कर लेने चाहिये। उनका समावेश हम अपनेमें करें, इसीलिये ऋषिमुनियोंने ईश्वरके गुणोंका वर्णन किया है। इस प्रकार सम्पूर्ण राज्यशासनके विषयमें पूरा विवरण बताया जा सकता है।

ईश्वरके एक दो गुणोंका वर्णन हम उदाहरणार्थ और कर लेते हैं और यह दिखानेका यत्न करते हैं कि वे गुण राज्यशासनमें किस प्रकार समाविष्ट हो सकते हैं—

तत् दूरे तद् उ अन्तिके। तत् अन्तर् अस्य सर्वस्य। तत् उ सर्वस्यास्य बाह्यतः। तत् धावतः अन्यान् अत्येति। वा. य. ४० ईश.

'वह दूर है और समीप भी है, वह सबके अन्दर है और बाहर है, वह दूसरे दौडनेवालोंके आगे जाता है' यह ब्रह्मका वर्णन है। ब्रह्म, आत्मा और ईश ये नाम उस मूल महाशक्तिके ही वाचक हैं। यही विश्वका शासक है और उसीका इस विश्वमें शासन चल रहा है। वह शासन जिस प्रकार समीप उसी प्रकार दूर, जिस प्रकार केन्द्रमें उसी प्रकार सीमाप्रान्तमें है। वह जैसा अन्दर वैसा ही बाहर है और जो शत्रु दौडते हैं उनसे भी आगे वह वेगसे दौडता है। यह अन्तिम गुण अत्यन्त महत्त्वका है। मान लीजिये कि चोर चोरी करके यदि भागने लगे तो राष्ट्र रक्षकोंका वेग उसे पकडनेके लिये उससे भी अधिक होना चाहिये, तभी वे उस चोरको पकड सकेंगे। शासकोंकी शक्ति अन्य लोगोंकी अपेक्षा अधिक होनी चाहिये तभी वे शासन कर सकेंगे। यदि गुण्डोंकी शक्ति बढ गई तो वहाँ गुण्डोंका राज्य हो जावेगा।

'ईशावास्यमिदं सर्वं' शक्तिमानोंका शासन यहाँपर रहा करता है, यह नियम है। ईशमें बहुत बडी शक्ति हुआ करती है, इसलिये वह विश्वपर शासन करता है। उससे अधिक और किसीकी भी शक्ति नहीं है; अतएव सबपर ईशका ही शासन चलता है।

नगर कैसे हों ?

अबतक हमने यह देखा कि शासकोंकी शक्ति महान होनेपर राज्य स्थायी होता है। अब राष्ट्रके नगर कैसे हों, यह देखिये। नगरोंकी सुरक्षितता विषयक इस मन्त्रपर विचार कीजिये—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।

'देवनगरी अयोध्या है। इस नगरीके बाहर जो किलेकी दीवाल है उसमें नौ दरवाजे और आठ चक्र लगे हुए हैं।' इस कारण यह नगरी 'अ-योध्या' अर्थात् शत्रुद्वारा आक्रमित हो जानेपर भी हाथमें आना सम्भव नहीं है। इस प्रकारकी यह दुर्ग नगरी है। यह वास्तवमें अध्यात्मका वर्णन है। यह एक प्रकारसे शरीरका ही वर्णन है। पृष्ठ-वंशमें मूलाधार, स्वाधिष्ठान आदि चक्र हैं और नौ इन्द्रियोंके द्वार ही नौ द्वार हैं। यह शरीरका वर्णन है। यहाँ इसका अधिष्ठाता आत्मा निवास करता है, यही वेदके कविको यहाँ अभिप्रेत है। इस सम्पूर्ण कथनमें मानो नगरके चारों ओर स्थित सुसज्ज किले जैसा वर्णन है। कविकी दृष्टिके सामने

ऋषिकालके सुराज्य नगर थे, यह बात इससे स्पष्ट होती है। जब अध्यात्मशास्त्रमें कोई दृष्टान्त आता है तो वह स्थिति सार्वत्रिकरूपेण विद्यमान रहती है, ऐसा समझनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

पुरी और नगरी

यहाँ ' देवानां पूः ' अर्थात् ' देवोंकी नगरी ' ऐसा कहा गया है। समस्त सुखसाधन एवं समस्त संरक्षक साधनोंसे जो परिपूर्ण होती है वह ' पुरी ' कहलाती है। जहाँ केवल नागरिक रहते हों उसे नगरी कहा जाता है, जहाँ पवित्र स्थान होते हैं तीर्थक्षेत्र कहा जाता है। जहाँ लोग संघशः रहते हैं उसे ग्राम कहते हैं। इस प्रकारसे भिन्न भिन्न गांवोंके भिन्न भिन्न नाम हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि वैदिककालमें ग्राम-नगर-पत्तन-पुरी-क्षेत्र आदिकी कल्पना बिल्कुल निश्चित हो गई थी।

ग्रामाधिकारी

ग्रामकी स्थापना होते ही ग्रामाधिकारी नियुक्त किया जाता है। इस सम्बन्धसे भी अध्यात्मका प्रतिपादन करते समय प्राण अन्य प्राणों एवं उपप्राणोंको शरीरमें भिन्न भिन्न स्थानोंपर निवास करनेके लिये कहता है तथा प्रत्येक ग्रामपर एक एक अधिकारीकी नियुक्ति करता है। वर्णन इस प्रकार है—

यथा सम्राट् एव अधिकृतान् विनियुङ्क्ते।
एतान् ग्रामान् एतान् ग्रामान् अधितिष्ठस्व
इति एवमेव एष प्राणः इतरान् प्राणान्
पृथक्पृथगेव संनिधत्ते ॥ प्रश्न ३।४

जिस प्रकार सम्राट् अपने साम्राज्यमें ' तू इतने गावोंकी देखरेख कर! ' ' तुझे इस जिलेपर नियुक्त किया है ' ऐसा कहकर विभिन्न नियुक्तियाँ करता है, इसी प्रकार मुख्य प्राण अन्य प्राणोंको इस शरीरके भिन्न भिन्न भागोंमें नियुक्त करता है और उनके द्वारा वे वे काम करा लिया करता है। यहाँ प्राणोंके कार्योंका वर्णन करनेके लिये प्रान्ताधिकारियोंकी उपमा दी गई है। कविकी दृष्टिके सामने जिलाधिकारी एवं प्रान्ताधिकारी नियुक्तिका विषय है। प्राणोंकी व्यवस्थाका निदर्शन करनेके लिये वह प्रान्ताधिकारियोंकी उपमा दे रहा है। प्रान्ताधिकारी किस प्रकारके हों, यह बात प्राणोंकी कार्यक्षमतासे समझी जा सकती है।

प्राण और इन्द्रियाँ

इन्द्रियाँ तो विषयभोगकी प्राप्ति होनेपर ही कार्य करती हैं। विषय भोगोंकी लालसासे कार्य करना गौण है। प्राणका कार्य मुख्य है; क्योंकि वह बिना कोई उपभोग लिये जन्मसे लेकर मृत्युतक निरन्तर कार्य किया करता है। प्राणके उदाहरणसे यह सिद्ध होता है कि वही कार्य मुख्य है जो बिना किसी लालसाके बराबर होता रहे। अधिकारी प्रलोभनमें फंसनेवाले न होने चाहिये। सुख हो या न हो, अपना कार्य उत्तम रीतिसे करनेवाले अधिकारी हों। प्राण एवं अधिकारियोंके साधर्म्यसे यह बोध हमें प्राप्त होता है।

चुनाव

समस्त प्रजाजनोंका संघ एक प्रकारसे शासक है, यह पूर्व दिखाया जा चुका है। समस्त प्रजा एक साथ कोई राज्यशासन नहीं चला सकती। यह कार्य तो उसके प्रतिनिधियों द्वारा ही सम्भव हुआ करता है। इन प्रतिनिधियोंका चुनाव किस प्रकारका हो? इसका विचार यहाँ करना चाहिये। वह वेदमन्त्रोंमें इस प्रकार वर्णित है—

विराट् वा इदमग्र आसीत्। सा उदक्रामत्
सा समितौ न्यक्रामत्। सा उदक्रामत् सा
आमन्त्रणे न्यक्रामत्। अथर्व० ८।१०

' विराट् ' प्रारम्भिक अवस्था थी। वि-राट् अर्थात् राजाके न होनेकी स्थिति। जब राजाकी कल्पनाही न थी उस समयकी यह अवस्था है तब केवल प्रजामात्र थी और उसका शासक कोई भी नहीं था। यह प्रजाशक्ति उन्नत एवं केन्द्रित हुई और उसमेंसे ग्रामसभा उत्पन्न हुई। ग्रामसभाद्वारा वह प्रजाकी शक्ति कार्य करने लगी। इसके बाद इस शक्तिकी और भी उत्क्रान्त हुई और वह राजसमितिके रूपमें परिणत हुई।

अर्थात् ग्रामस्थ मंडलके प्रतिनिधि ग्रामसभामें आये और उनके द्वारा ग्राम-शासन होने लगा। ग्रामसभाओंके प्रतिनिधियोंकी राष्ट्रसमिति बनी और उसके द्वारा राष्ट्रका शासन चलने लगा। इसके पश्चात् इस राष्ट्र समितिके प्रतिनिधियोंका एक मन्त्रीमण्डल बना। इसीको उपर्युक्त मन्त्रमें ' आमन्त्रण ' कहा गया है। यह मन्त्रीमण्डल राष्ट्रका

शासन करने लगा । इस आमन्त्रणमण्डलका अध्यक्ष ' प्रजापति ' हुआ इस प्रकार 'प्रजापति-संस्था' द्वारा राष्ट्रका शासन चलने लगा ।

प्रजापति राष्ट्रका अध्यक्ष बना और उसकी आज्ञासे चलनेवाली ग्रामसभा एवं राष्ट्रसमिति ये दो शासक संस्थायें बनीं । ये प्रजापतिकी आज्ञासे उत्पन्न होनेके कारण उन्हें प्रजापतिकी पुत्रियाँ कहा जाता था । तथापि इन दोनों सभाओंके सदस्य प्रजापतिके रक्षक माने जाते थे, ऐसा भी वर्णन किया गया है—

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने । । संगच्छा उप मा स शिक्षात् चारु वदानि पितरः संगतेषु । अथर्व०

'सभा और समिति प्रजापतिकी दो पुत्रियाँ हैं; किन्तु वे प्रजापतिको सिखानेवाली एवं उसकी रक्षा करनेवाली हैं । ' राज्यशासन सम्बन्धि सत्यज्ञान इन सभाओंके द्वारा राजाको प्राप्त होता है। यही कारण है कि वे प्रजापतिको सिखाती हैं तथा उसकी रक्षा करती हैं । क्योंकि जो राजा प्रजाका उत्तम प्रकारसे पालन करता है वह प्रजापतिके रूपमें सम्मानित होता है । किन्तु जो शासक उत्तम रीतिसे प्रजाका पालन न करेगा वह प्रजापति पदसे हटा दिया जावेगा । यह बात वेदमन्त्र ही कहता है । देखिये—

वास्तोष्पतिं व्रतपां निरतक्षन् । ऋ. १०।६१।७

ठीक प्रकारसे राज्यशासन न करनेवाले पहले प्रजापतिको निकाल दिया तथा दूसरे प्रजापतिको लोक प्रतिनिधियोंने चुन लिया ।

इस व्याख्यानमें अध्यात्मशास्त्रके सिद्धान्त राज्यशासनके लिये किस प्रकारसे उपयोगी होते हैं, यह बताया गया है । अध्यात्मशास्त्रका वर्णन करते समय ही ऋषियोंने राज्यशासनका वर्णन किया है । राज्यशासन बहुत बडा एवं बहुत व्यापक विषय है । उसमें आर्थिक, सामाजिक, शत्रुनिर्दालन, मित्रसंरक्षण आदि अनेक विषय हैं । उन सबका वर्णन इस छोटेसे लेखमें होना सम्भव नहीं है । इन सम्पूर्ण विषयोंपर लिखा जा सकता है । किन्तु इस लेखमें मुख्य बात यह बताई गई है कि समस्त मानव जाति मिलकर एक शरीर है । यह एकात्मता ही अध्यात्ममूलक राज्यशासनका आत्मा है । कृपया इस ओर पाठक विशेष ध्यान दें ।

प्रश्न

(१) अध्यात्मज्ञानसे वैयक्तिक दिव्यजीवन

१ विचार, उच्चार और आचारमें सामंजस्य किस तरह होता है ?

२ उत्तम पुरुष व्याकरणमें किसे कहते हैं ? उत्तम पुरुष कौन है ? उत्तम पुरुष और पुरुषोत्तममें क्या भेद है ?

३ उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष और तृतीय पुरुष क्या बोध देते हैं ? स्वयंभू अस्तित्व किसका है ?

४ 'अहं ब्रह्मास्मि' का भाव क्या है ? इस भावका वेदमंत्र कौनसा है ? दोनोंके आशयोंकी तुलना करो।

५ इन्द्रकी सभा कहां है और उस सभाके सदस्य कौन हैं? इन्द्रियोंका अर्थ क्या है ?

६ शक्तिकी वृद्धिका अनुष्ठान किस तरह होता है ?

७ सप्तऋषियोंके आश्रमका स्थान बताओ और वर्णन करो क्या शरीरको पूयविण्मूत्रका गोला कहनेके लिये वेदमें कोई प्रमाण है ?

८ दशरथ और दशमुख क्या भाव बताते हैं ?

९ पहारा करनेवाले देव कौन हैं ? और वे कहां पहारा करते हैं ? देवतामंदिर कहां है ?

१० द्वारका और अयोध्या कहां है, उसका स्थान कहां है ? इन नगरियोंका वर्णन करो.

११ कुरुक्षेत्र कहां है और वहां क्या होता है ?

१२ वैदिक निवृत्ति मार्ग कैसा है, उसका वर्णन करो। सच्ची निवृत्ती और भ्रामक निवृत्तिका स्वरूप बताओ।

१३ ब्रह्मज्ञानका परिणाम सुप्रजा है, इसके प्रमाण दो। इस विषयमें आज क्या मानते हैं ?

(२) अध्यात्मज्ञानसे राष्ट्रीय उन्नति

१४ गीताने अर्जुन पर कौनसा परिणाम किया ?

१५ श्री रामचन्द्र पर वसिष्ठके उपदेशका परिणाम क्या हुआ ?

१६ तीन शान्तियोंकी स्थापना कौन कर सकता है ?

१७ जागतिक शान्ति, राष्ट्रीय शान्ति और वैयक्तिक शान्ति किस तरह स्थापन होगी और कौन इनकी स्थापना करेंगे ?

१८ संघशः अमरत्व होता है या व्यक्तिशः होता है ?

१९ मनुष्यके शरीर कितने हैं और वे कैसे हैं ?

२० समस्त जनता मिलकर एक विराट् पुरुष है यह कैसा है वह प्रमाणसे सिद्ध करो।

२१ एकात्मता, कौटुंबिक और राष्ट्रीय कैसी होती है ?

२२ वैश्वानर अग्निका स्वरूप बताओ।

२३ राजाका आदर्श कौन हैं ?

२४ अकर्ता ईश्वर और कर्त्री प्रकृतिका राजकीय भाव क्या है ?

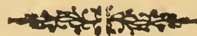
२५ ईश्वरके ऐश्वर्यका वर्णन करो।

२६ नगर कैसे हों ? प्रमाणोंके साथ समझाओ।

२७ पुरी, नगरी ग्राम और क्षेत्रका स्वरूप बताओ।

२८ शासनके लिये प्रतिनिधि कैसे चुने जांय ?

२९ सभा, समिति और आमंत्रणके स्वरूप बताओ।



श्रीमद्भगवद्गीता।

इस ' **पुरुषार्थ-बोधिनी** ' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गई है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंकेही सिद्धान्त गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस ' **पुरुषार्थ-बोधिनी** ' टीकाका मुख्य उद्देश्य है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता के १८ अध्याय तीन विभागोंमें विभाजित किये हैं और उनकी एकही जिल्द बनाई है। मू० १०) रु० डाक व्यय १॥)

भगवद्गीता-समन्वय।

यह पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीताका अध्ययन करनेवालोंके लिये अत्यन्त आवश्यक है। ' **वैदिक धर्म** ' के आकारके १३५ पृष्ठ, चिकना कागज। सजिल्दका मू० २) रु०, डा० व्य० ।=)

भगवद्गीता--श्लोकार्धसूची।

इसमें श्रीमद् गीताके श्लोकार्धोंकी अकरादिक्रमसे **आद्याक्षरसूची** है और उसी क्रमसे **अन्त्याक्षरसूची** भी है। मूल्य केवल ॥।), डा० व्य० ≈)

सामवेद कौथुमशाखीयः

ग्रामगेय [वेय प्रकृति] गानात्मकः

प्रथमः तथा द्वितीयो भागः।

(१) इसके प्रारंभमें संस्कृत-भूमिका है और पश्चात् ' **प्रकृतिगान** ' तथा ' **आरण्यकगान** ' है। **प्रकृतिगानमें अग्निपर्व** (१८१ गान) **ऐन्द्रपर्व** (६३३ गान) तथा ' **पवमानपर्व** '(३८४ गान) ये तीन पर्व और कुल ११९८ गान हैं। **आरण्यकगानमें अर्कपर्व** (८९ गान), **द्वन्द्वपर्व** (७७ गान) **शुक्रियपर्व** ८४ गान) और **वाचोव्रतपर्व** (४० गान) ये चार पर्व और कुल २९० गान हैं।

इसमें पृष्ठके प्रारंभमें ऋग्वेद-मन्त्र है और सामवेदका मन्त्र है और पश्चात् गान हैं। इसके पृष्ठ ४३४ और मूल्य ६) रु० तथा डा० व्य० ॥।) रु० है।

(२) उपर्युक्त पुस्तक केवल '**गानमात्र**' छंपा है। उसके पृष्ठ २८४ और मू० ४)रु. तथा डा०व्य०॥)रु. है

आसन।

योगकी आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति "

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है कि शरीरस्वास्थ्यके लिये आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यन्त सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्य भी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २॥) दो रु० आठ आने और डा० व्य० ॥) आठ आना है। म० आ० से २॥।≈) रु० भेज दें।

आसनोंका चित्रपट— २०"×२७" इंच मू० ।) रु., डा० व्य० ‐)

मन्त्री— स्वाध्यायमण्डल 'आनन्दाश्रम' किल्ला-पारडी (जि० सूरत)

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवलेकर, बी.ए. , भारत-मुद्रणालय, आनन्दाश्रम, किल्ला-पारडी (जि. सूरत)



वैदिक व्याख्यान माला - आठवाँ व्याख्यान

सप्त व्याहृति

लेखक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

अध्यक्ष- स्वाध्याय-मण्डल, 'आनन्दाश्रम', किल्ला पारडी, जि. सूरत

मूल्य छः आने

गुप्त संकेतके शब्द

कोई बडा कार्य करना हो, युद्धका समय उपस्थित हुआ हो, अथवा कुछ ऐसे विशेष प्रसंग प्राप्त हुए हों, जहां स्पष्ट बोलना योग्य न समझा जाता है, उस प्रसंगमें गुप्त संकेतके शब्द प्रयुक्त होते हैं। वैसे ये सात गुप्त संकेत पद हैं जो " **भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यं** " ये हैं। वैदिक वाङ्मयमें इनका महत्त्व बडा है। यहांतक कि इनको सब वेदोंका सार माना है। यह महत्त्व इन शब्दोंमें कैसा है इसका विवेचन इस व्याख्यानमें किया है। आशा है कि पाठकोंको यह रुचिकर प्रतीत होगा।

आनंदाश्रम
किल्ला पारडी जि. सूरत

लेखक
श्री. दा. सातवळेकर
स्वाध्याय मंडल

ॐ

सप्त व्याहृति

गुप्तसंकेतके सात शब्द

मनुष्यको सावध और दक्ष रखनेके लिये संकेतके गुप्त शब्द अथवा वाक्य दिये जाते हैं, जिनको स्मरण करके मनुष्य दक्ष रहता है और अपना कर्तव्यपालन करनेमें प्रमाद नहीं करता। युद्धके समय "यह मनुष्य अपने पक्षका निश्चयसे है," यह जाननेके लिये 'संकेतके शब्द' देनेकी परिपाटी है। प्रायः सर्वत्र यह पद्धति है और युद्ध के समय संकेत शब्दसे ही स्वपक्ष–परपक्षका मनुष्य पहचाना जाता है।

परदेशमें जानेके समय घरके तथा समीपके संबंधी अपना स्मरण रहे इसलिये कुछ पदार्थ अथवा संकेतके शब्द अंकित किया वस्त्र उसको देते हैं। जिसको देखनेसे उस प्रवासीको उस मित्रका अथवा उसके संकेतके कार्यका स्मरण होता है और प्रमाद न करता हुआ वह सूचित इष्ट कार्य करता है।

इस तरह मनुष्यके व्यवहारमें संकेतके शब्दोंका बडा महत्त्व रहता है। नामजप, ईश्वरके नामोंका स्मरण भी इसी तरह मनुष्योंको अपने कर्तव्योंका स्मरण करा देता है। यद्यपि आज कल जो लोग नामजप करते हैं, वे उस नामसे सूचित होनेवाला बोध लेनेका यत्न भी नहीं करते, तथापि जो नाम जपनेके लिये लिया जाता है, वह कुछ न कुछ संदेश देता ही है। जैसा देखिये—

१ गोपाल - गोपालनका संदेश देता है,

२ राम - जनताको आनन्द देनेका संदेश देता है,

३ नारायण - लोगोंके पास जाकर उनका सुखदुःख देखनेका और उनके दुःख दूर करनेके लिये अपना कर्तव्य करनेका उपदेश देता है,

४ गोविंद - गो नाम इन्द्रियोंको स्वाधीन रखनेका आदेश देता है,

५ पुरुषोत्तम - पुरुषोंमें अत्यंत श्रेष्ठ पुरुष बननेका प्रयत्न करनेकी सूचना देता है।

इस तरह नाम जप मानवी उन्नतिका –वैयक्तिक, सामाजिक, और राष्ट्रीय– कार्यक्रम बताता है। इस तरह ये ईश्वरके नाम मानवी उन्नतिका परिपूर्ण कार्यक्रम मनुष्यको बताते हैं, मानवी उन्नतिके अनुष्ठानका संकेत करते हैं, मनुष्यको दक्षतासे अपना कर्तव्य करनेकी सूचना देते हैं। इस समय नामजप करनेवाले मनुष्य इस सूचनाकी ओर ध्यान नहीं देते, यह इनका दोष है। यदि ध्यान देंगे तो ये ईश्वरके नाम मनुष्यका तारण करेंगे, इसमें संदेह नहीं है। साधकोंको नामसे सूचित होनेवाला कार्यक्रम तत्परतासे अनुष्ठान करनेके लिये तैयार रहना चाहिये।

इस तरह वैदिक धर्म 'संकेतमय धर्म' है। यज्ञोपवीतके तीन धागे, प्रत्येक धागेमें तीन सूत्र, ओंकारके तीन अक्षर, गायत्री मंत्रके तीन पाद और २४ अक्षर, इस तरह सैंकडों गुप्तसंकेत हैं। ये सब जानने चाहिये और इनका अनुष्ठान करना चाहिये। आज इस लेखमें 'सात व्याहृतियों' का विचार करना है और देखना है कि ये किस तरह मानवी उन्नतिका संकेत करते हैं और किस अनुष्ठानकी सूचना देते हैं।

'व्याहृति' का अर्थ

'व्याहृति' पद 'वि+आ-हृ' धातुसे बना है। व्याहृ (वि+आ+हृ) = धातुका अर्थ 'बोलना, कहना, घोषणा करना, पुकार करके कहना, गुप्तसंकेतकी बात सूचित करना, स्पष्टीकरण करना, प्रश्नका उत्तर देना, समझा देना' ऐसा होता है। इस अर्थ को देखनेसे 'व्याहृति' का अर्थ – 'शब्द, कथन, भाषण, संकेतका भाषण, घोषणा, गुप्त संकेतका शब्द, गूढ अर्थका शब्द, गुप्तभावकी सूचना देनेवाला शब्द' ऐसा होता है।

ये व्याहृतिके शब्द सात हैं। जो ये हैं- 'भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यं'। सात व्याहृतियां ये हैं। इनमें गुप्त संकेतका अर्थ भरा है। ये सात संकेतके पद मनुष्यको दक्ष और सावधान बननेकी सूचना देते हैं।

तीन महाव्याहृतियाँ

इन सात व्याहृतियोंमें 'तीन महाव्याहृतियाँ' हैं, उनके नाम 'भूः, भुवः, स्वः' हैं, इनसे पृथक् शेष चार व्याहृतियाँ हैं। इनका विवरण अब देखिये। इनमेंसे एक एकका भाव अब देखिये—

भूः

'भू सत्तायां' इस धातुसे 'भूः' की उत्पत्ति है, इसलिये इसका अर्थ 'सत्ता, अस्तित्व, होना, अपनी विद्यमानता' यह है। अपना 'अस्तित्व' रखनेके लिये प्रथम प्रयत्न होना चाहिये, यह सूचना इस 'भूः' से मिलती है। 'भूः' के अर्थ अब देखिये—

'भूः'- १ होना बनना; २ जन्म लेना, उत्पन्न करना और उत्पन्न होना; ३ उद्भव होना, उत्पत्ति होना; ४ (जीवित) रहना, होना, अस्तित्वमें आना; ५ (प्राणयुक्त) होना, (श्वास) लेते रहना; ६ रहना; ७ काममें आना; ८ (शक्य) होना; ९ (संचालक) होना; १० (सहायक) होना; ११ व्यवहार करना; १२ (अभ्युदय युक्त) होना, (यशस्वी) होना; इत्यादि अर्थ इस धातुके होते हैं, इस लिये इस 'भूः' पदके भी येही यौगिक अर्थ हैं। इतने अर्थोंमें इस 'भू' धातुका तथा 'भूः' पद का भाषामें व्यवहार होता है।

ये अर्थ वेदमंत्रोंमें भी इस धातुके हम देख सकते हैं अर्थात् वेदमंत्रोंमें इन अर्थोंके सूचक पद भी प्रयुक्त हुए हैं। देखिये—

१ मा पणिर्भूः। ऋ० १।३३।३
२ ऋष्वधीरस्य बृहतः पतिर्भूः। १।५२।१३
३ क्रतुभिः सुक्रतुर्भूः। ऋ. १।९१।२
 दक्षैः सुदक्षः ,,
४ त्वं त्राता... वृधे भूः। १।१७८।५
५ मनवे शास्यो भूः। १।१८९।७
६ त्वं त्राता तरणे चेत्यो भूः। ६।१।५
७ त्वं दशस्यावृको वृधो भूः। ६।१५।३
८ त्वं वृध इन्द्र पूर्व्यो भूः। ६।२०।११
९ सखा विश्वायुरविता वृधे भूः। ६।३३।४
१० मंहना दर्शता भूः। ६।६४।५
११ शिवो भूः। ७।१९।१०
१२ अभि क्रत्वेन्द्र भूः। ७।२१।६
१३ माकिर्देवानामप भूः। १०।११।९
१४ प्रभूः जयन्तं। १०।४६।५
१५ भूर्जज्ञाः। १०।७२।४
१६ आतो भूः। १०।१४९।२

ऋग्वेदके इतने मंत्रोंमें 'भूः' का प्रयोग है। वैसे तो भू धातुके प्रयोग सहस्रों मंत्रोंमें हैं, पर 'भूः' ऐसा शब्द-प्रयोग इन मंत्रोंमें है। अब इस भूः पदके सहचारी पदोंका संबंध देखकर अर्थ देखिये. (१) तू कृपण न बन, (२) तू इस संपूर्ण विश्वका अधिपति हो, (३) तू अपने शुभ कर्मोंसे कर्तृत्ववान् और बलोंसे बलवान् हुआ है, (४) तू हमारा संरक्षक और उत्कर्ष करनेवाला है, (५) तू मानवोंके लिये सुशिक्षण देता है, (६) तू सबका तारक और उत्साह बढानेवाला है; (७) तू बलका संवर्धक है, (८) तू पुराणपुरुष है, वैभव बढानेवाला है, (९) तू सबका मित्र, संरक्षक, पूर्णायु और उत्कर्ष करनेवाला है, (१०) तू धन देनेवाला और देखनेमें मनोहर है, (११) तू कल्याण करनेवाला है, (१२) तू शत्रुका पराभव करता है, (१३) यहांसे देव दूर न हों ऐसा कर, (१४) तू विजयी और सब पर प्रभाव डालनेवाला हो, (१५) भूमि उत्पन्न हो गई (१६) इससे भू उत्पन्न हुई है।

इन मंत्रोंमें केवल एक दो मंत्रोंमें ही 'भूः' का अर्थ पृथ्वी है और अन्य मंत्रोंमें 'भूः' पद क्रियावाचक है। भूमि भी हम सबके अस्तित्वका आधार है और अन्य मंत्रोंमें जो अस्तित्ववाचक 'भूः' (है) पद है, वह अस्तित्व-दर्शक तो है, पर वह सर्वत्र उत्कर्ष, वैभव, वृद्धि, अभ्युदय, तारण, बल, आधिपत्य आदि श्रेष्ठ शुभगुणोंका साहचर्य करता है। यह केवल अस्तित्व मात्र नहीं है, हीन दर्जेका अस्तित्व नहीं है, गिरनेवाला अस्तित्व नहीं, अधःपतनकी सूचना इनमें नहीं है। मैं कः पदार्थ हूं, मैं तुछ हीन दीन हूं, मैं क्षणभंगुर हूं, मैं नाशवान हूं, ऐसा भाव यहां नहीं

है। प्रत्युत यहां का अस्तित्व तारक, दुःखनाशक, उद्धारक, धनधान्यबलका संवर्धक, यश बढानेवाला है, प्रभुत्व स्थापित करनेवाला विजयी अस्तित्व है। वेद हीन-दीनताका भाव बोलता ही नहीं, यह भाव तो शत्रुके पास रहे। हमारे पास ' अदीन अस्तित्व ' रहना चाहिये।

अपना सामर्थ्यशाली अस्तित्व

' भूः ' का अर्थ ' अस्तित्व, स्थिति, रहना, होना ' ऐसा है, पर यह सामर्थ्यवान, विजयी, प्रतापी, यशस्वी, प्रभुत्व-स्थापक अस्तित्व है यह ध्यानमें धरने योग्य है। ' अस्तित्व' ही सब व्यवहारका आधार है। हमें सबसे प्रथम अपने अस्तित्वको सुरक्षित रखनेका प्रयत्न करना चाहिये। यदि कोई शत्रु हमारे अस्तित्व पर ही आक्रमण करेगा, तो उसको नष्टभ्रष्ट करना हमारा आवश्यक कर्तव्य ही होगा। हमारे सब प्रकारके व्यवहारोंका मूलाधार हमारा अस्तित्व है। यदि हमारा अस्तित्व ही नष्ट हुआ, तो बाकी सभी बातें हमारे लिये व्यर्थ हो जांयगी। इसलिये इन सात गुप्त संकेतके शब्दोंमें प्रथम ' भूः ' अपना अस्तित्व चिरस्थायी रखो ऐसा आदेश प्रत्येक वैदिकधर्मीको दे रहा है।

पाठक विचार करके देखें कि अपना अस्तित्व न रहा तो फिर क्या है ? सर्वशून्य ही हो जायगा। वैदिक धर्म ' शून्यवाद ' का प्रतिपादन नहीं करता, वह 'सत्तावाद' अथवा 'प्रभुत्ववाद ' का प्रतिपादन करता है।

इस तरह ' भूः ' का विचार करके हमने देखा कि हमारा अस्तित्व स्थायी रखनेका संदेश यह पद दे रहा है। तथा पूर्वोक्त वेदके मंत्र अस्तित्व के साथ रहनेवाले सहचारी पदोंसे यह बता रहे हैं कि, वह ' हमारा अस्तित्व ऐश्वर्य, प्रभुत्व तथा वैभवसे अलंकृत होना चाहिये।' मनुष्यका प्रयत्न अपना अस्तित्व वैभवयुक्त करनेके लिये होना चाहिये, यह भाव इस विवरणका है। 'भूः' से यह अनुष्ठान मनुष्यके लिये सूचित होता है। और भी देखिये-

भूः हीयं (पृथिवी) श. ब्रा. ७।४।२।७

स (प्रजापतिः) भूरित्येव ऋग्वेदस्य रसमादत्त। जै० उ० १।१।३

भूरिति ऋग्भ्योऽक्षरत्। ष० १।५

स भूरिति व्याहरत्। तै० २।२।४।२

*

भूरिति वा अयं लोकः। श. ८।१।४।१२

भूरिति वै प्रजापतिः। आत्मानमजनयत्
श. ब्रा. २।१।४।१३

' भूः ' यह पृथिवी है। भूः यह ऋग्वेदका सार है, वह ऋग्वेदसे निकल कर बाहर आया है। भूः यह प्रजाका पालन करनेवाला है। वह अपने आपको उत्पन्न करता है और प्रजापतिके स्थानमें स्थापन करता है।

'भूः ' ऋग्वेदसे किस तरह और किन् मन्त्रोंसे प्रकट हुआ है यह ऊपर बताया है। इस ' भूः ' के विषयमें निम्नलिखित वचन देखिये—

भूरिति ऋग्भ्यः। छां० उ० ४।१७।३

भूः स्वाहा। छां० ४।१७।४; बृ०. ६।३।३

भूरिति वा अयं लोकः। तै० १।५।१

भूरिति वा अग्निः। तै० १।५।२

भूरिति वा ऋचः। तै० १।५।२

भूरिति वै प्राणः। तै० १।५।३

भूः पादाः। मैत्री ६।५

भूस्ते आदिः। शिर० ३

पुरुषस्तस्य भूरिति शिरः। बृ० ५।५।३

' भूः यह ऋग्वेदमन्त्रोंका सार है, भूः पृथिवीका नाम है। भूः का अर्थ अग्नि है। भूः का अर्थ ऋग्वेदके मंत्र हैं। भूः का अर्थ प्राण है। भूः सबका आधाररूप पांव है। भूः सबका आदि है। आत्मारूपी पुरुषका सिर भूः है। भूः का उच्चारण करके स्वाहा किया जाता है। ' यह भूः के विषयमें उपनिषदोंमें कहा है। इससे भूः का महत्त्व समझमें आ सकता है। ऋग्वेदके मंत्रोंका सार भूः है। अपने अस्तित्वके लिये जो करना आवश्यक है वह शुभ कर्म करना चाहिये, ऐसा भूः व्याहृति द्वारा सूचित होता है। तथा और देखो—

भूरन्नं अग्नये पृथिव्यै स्वाहा। महाना. ७।१

भूश्च नारायणः। ना. उ. ता. १।५

'भूः' का अर्थ अन्न है और नारायण, अर्थात् परात्पर पुरुष ऐसा भी उसका अर्थ है, भू से अन्नका बोध होता है जो सबके जीवनके लिये मुख्य वस्तु है। वैसा ही परमेश्वर भी इस भू का अर्थ है जो सबका आधार है और

स्वयंसिद्ध है । ईश्वर ही स्वतःसिद्ध अस्तित्ववान् है जिसके अस्तित्वसे सब विश्व अस्तित्ववान् हुआ है ।

इस तरह 'भूः' का अर्थ 'अस्तित्व' है और शेष इसके अर्थ अस्तित्वके सहायक होनेवाले हैं । अपना अस्तित्व रखनेके लिये मनुष्योंको प्रयत्न करना चाहिये यह इसका तात्पर्य है । अब दूसरी व्याहृति 'भुवः' है ।

भुवः

दूसरी व्याहृति 'भुवः' है । 'भुवः' का अर्थ— 'भु-वर्' भु नाम पृथ्वीके ऊपर श्रेष्ठ होना है, जो पृथ्वी पर अपना अस्तित्व है वह अधिक श्रेष्ठ बनाना । अपना जीवन श्रेष्ठ बनाना । अपनी वरिष्ठता प्रस्थापित करना । अपनेमें जो दीन हीनताका भाव है, उसको दूर करके अपने अन्दर श्रेष्ठत्व लाना और उसको बढाना । 'भुवः' का अर्थ 'अग्नि तथा पृथ्वी' है । अग्नि ज्ञानका देव है । अग्नि ज्ञान देता है, प्रकाश देता है, मार्ग दर्शाता है, अन्तिम सिद्धितक पहुंचाता है । ये गुण अग्निके अन्दर हैं । प्रकाश दर्शानेका अर्थही मार्गदर्शन करना है । ये सब ज्ञान के गुण हैं । ज्ञानी अपने ज्ञानसे लोगोंका मार्गदर्शन करता है, लोगोंको सन्मार्गसे चलाता है, अन्तिम सिद्धितक पहुंचाता है । अन्धेरी रात्रीमें अग्नि, अथवा दीप जो मार्गदर्शन करता है, वह ज्ञानका कार्य है । वही 'भुवः' पदसे यहां सूचित किया है । 'भुव् अवकल्पने' यह धातु है। अवकल्पनका अर्थ ज्ञान और ज्ञानसे उत्पन्न होनेवाली कल्पना है । मनुष्यको यही ज्ञान उठाता है और तारता है । इस लिये अस्तित्वके पश्चात् ज्ञान प्राप्त करनेकी सूचना यहां दी है ।

केवल "पशुसमान अस्तित्व" नहीं चाहिये, परंतु अस्तित्वमें यशपूर्ण वैभव प्राप्त करनेके लिये ज्ञान भी चाहिये, यह भाव यहां प्रकट हुआ है । 'भुवः' के विषयमें उपनिषदोंमें क्या कहा है, सो अब देखिये—

भुव इति यजुर्भ्यः । छां० ४।१७।३
भुव इति बाहू । बृ० ५।५।३
भुव इत्यन्तरिक्षम् ।
भुव इति वायुः ।
भुव इति सामानि । भुव इत्यपानः । तै० १।५।१
नाभिर्भुवः । मैत्री० ६।५
भुवोऽन्नं वायवे । महा. ना. ७।२
मध्यं भुवः । शिरस् २
यो वै रुद्रः । यश्च भुवः । शिरस् २
भुवो लोकस्तु जानुनोः । नाद ३

(भुवः) व्याहृतिका ऐसा स्पष्टीकरण उपनिषदोंमें मिलता है । इसका भाव यह है- " भुवः यह यजुर्वेदका सार है, यजुर्वेदके मंत्रोंसे भुवः व्याहृती उत्पन्न हुई है । भुवः ये बाहू हैं, जैसे शरीरमें बाहू कार्य करते हैं वैसी भुवः यह व्याहृती कर्मशक्ति की सूचक है । पृथ्वीके ऊपर जैसा अन्तरिक्ष है वैसी भू व्याहृती पर भुवः व्याहृतीका उच्च स्थान है । भुवः यह प्राण है, प्राणके समान इसका महत्त्व है । शरीरमें प्राणका जैसा महत्त्व है वैसा भुवः का जीवनमें महत्त्व है । भुवः यह सामगानकी सूचक व्याहृती है । जिस तरह मंत्रकी शोभा सामगानके आलापोंसे बढती है उस तरह भू नाम अस्तित्वकी-जीवनकी शोभा भुवः नाम ज्ञानमय कर्तृत्वसे बढती है । भुवः यह जीवनका महत्त्व है । भुवः यह जीवन व्यवहारका मध्य है, जिस तरह शरीरके मध्यमें नाभी होती है । भुवः से अन्नका बोध होता है, जैसा जीवनके लिये अन्न सहायक है, वैसा ही भुवः व्याहृतिसे बोधित होनेवाला ज्ञानपूर्वक कर्म मानवी अस्तित्वकी सुंदरता बढानेकी सहायता करता है । जो रुद्र है, जो शत्रुका संहार करनेवाला देव है, वही भुवः की शक्ति है । ज्ञानपूर्वक कर्म करनेसे ही शत्रु दूर हो सकते हैं । इस तरह भुवः का भाव उपनिषदोंमें वर्णन किया है । यह अत्यंत मननीय है । यह 'भुवः' व्याहृति यजुर्वेदके मंत्रोंसे प्रकट हुई है ऐसा 'भुव इति यजुर्भ्यः'। छां० ४।१७।३ में कहा है । इसके सूचक यजुर्वेदके मंत्र अब देखिये—

अयं पुरो भुवः, तस्य प्राणो भौवायनो,
वसन्तः प्राणायनो, गायत्री वासन्ती ।
वा० यजु० १३।५४

'यह सामने भुवः है, उससे प्राण उत्पन्न हुआ, प्राणसे वसन्त हुआ और वसन्तसे गायत्री छन्द उत्पन्न हुआ है ।' तथा—

भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः। दिवि मूर्धानं दधिषे स्वर्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम् ॥

वा० य० १३।१५; १५।२३

'तू यज्ञका और रजोलोकका नेता होता है जिस समय कल्याण करनेवाली ज्वालाओंसे तू युक्त होता है, द्युलोकमें तूं सूर्यका धारण करता है, यज्ञमें हव्यका वहन करता है।'

प्राण शक्ति, वसन्त ऋतुका सौंदर्य और गायत्री मंत्रका महत्त्व यह सब जो 'पुरो भुवः' जो अग्रगामी रहता है, जो नेता होता है उसका वैभव है। यह अन्तरिक्ष लोकका तथा यज्ञका नेता है। रजोलोक ही भुवर्लोक है। यह यज्ञस्थान और सब मानवी हलचलका स्थान है। सब प्रकारके प्रयत्नोंका प्रतीक यज्ञ है। इसलिये इससे पूर्व भुवः का आशय 'ज्ञानपूर्वक किया कर्म' किया है। भुवः का अर्थ यह है।

मनुष्य अपना (भूः) अस्तित्व स्थायीरूपसे रखनेका प्रयत्न करे परंतु उसको उसके साथ साथ (भुवः) ज्ञानपूर्वक कर्म अवश्यमेव करना चाहिये। वस्तुतः 'भू' धातुसे ही 'भूः भुवः' ये दोनों पद बने हैं, इसलिये इन दोनोंका भाव 'वैभवयुक्त होकर रहना' है। यह ज्ञानपूर्वक किये कर्मोंसे ही हो सकता है, किसी दूसरे यत्नसे नहीं होगा। अपना अस्तित्व स्थायीभावसे टिकानेका उपदेश भू व्याहृतिसे बोधित होता है और उस अपने स्थायी अस्तित्वको ज्ञानपूर्वक किये शुभ कर्मोंसे आनन्दमय बनानेका साध्य द्वितीय 'भुवः' इस व्याहृतीसे सूचित होता है। इस तरह हम अपना अस्तित्व स्थायी रहनेका प्रयत्न करेंगे और उस हमारे जीवनको आनन्दप्रसन्न करनेका भी प्रयत्न साथ साथ करेंगे।

यहां एक बडी शंका उपस्थित होती है, वह यह कि किसीका भी अस्तित्व (सत्ता) स्थायी नहीं होती। यहां इस भूमिपर जो उत्पन्न होते हैं वे मरते हैं, इसलिये कहा है—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः
ध्रुवं जन्म मृतस्य च ॥ भ० गीता. २

'जो जन्मा है उसका मृत्यु निश्चित है और जो मरा है उसका जन्म भी निश्चित है।' यदि यह सत्य है तो इसीसे अपना अस्तित्व टिकानेकी संभावना विदित हो सकती है। क्योंकि इस वचनमें कहा है कि जो मरता है उसको जन्म निश्चित है। जैसा जागता है उसको सोना आवश्यक है और जो सोता है उसको जागना आवश्यक है। यहां जागना और सोना जीवन मरणके सदृश समझिये। कोई जागनेवाला निद्रामें अपना नाश हुआ ऐसा नहीं मानता और वास्तविक रीतिसे निद्रामें नाश होता भी नहीं। इसी तरह जीवनके पश्चात् मृत्यु हुआ तो उसके पश्चात् यदि जन्म होता है, तो मृत्युके समय भी कुछ विलक्षण अवस्थामें जीवन रहना ही चाहिये, जिसका पुनः जन्म होता है। स्थूल-सूक्ष्म-कारण ये तीन शरीर मनुष्यके हैं। इनमें स्थूल शरीरका नाश होनेपर सूक्ष्म और कारण देह रहते हैं पश्चात् सूक्ष्म देह भी विलीन होनेपर कारण देह रहता है। अर्थात् कारण देह जैसा जीवनमें वैसा ही मृत्युमें रहता है। स्थूल देह अन्नमय है, सूक्ष्मदेह वासनादेह है और कारण देह मनोमय है, इसके पश्चात् भी विज्ञानमय देह है जो महाकारण संज्ञासे प्रसिद्ध है।

भूः —स्थूल— अन्नमय		मृत्युक्षेत्र
भुवः—सूक्ष्म—प्राणमय		मृत्युक्षेत्र
स्वः—	कारण-मनोमय	अमर क्षेत्र
	महाकारण-विज्ञानमय बुद्धि	अमर क्षेत्र

यहां स्पष्ट हुआ कि स्थूल और सूक्ष्म देह बनते और बिगडते हैं और दोनों कारण देह स्थायी रहते हैं अतः यदि हम अपने मन और बुद्धिको सामर्थ्यवान करेंगे तो इससे हम अपने अमरत्वका अनुभव कर सकेंगे। संक्षेपसे स्थूल शरीरका मृत्यु होनेपर भी अपने अमर रहनेका अनुभव इस तरह किया जा सकता है। यही साधन भुवः व्याहृतिने सूचित किया है। ज्ञानपूर्वक कर्म स्थूल-सूक्ष्म-कारण देहोंको पवित्र करता है। और स्थूलके मरनेपर सूक्ष्म तथा कारण देहोंपर रहनेवाला जीव अपने आपको स्थायी जीवनके साथ अनुभव करता है और मृत्युसे अपने अस्तित्वमें कुछ भी बिगाड नहीं हुआ, पर मृत्युसे अधिक कार्यक्षम शरीर प्राप्त हुआ ऐसा वह मानता है। यह उसके आनंदका विषय है। कोट उतार कर रखा, तो मेरे अस्तित्वमें कुछ भी हानि नहीं हुई। एक कोट गया तो मैं दूसरा नया कोट धारण

करूंगा। इसमें रोनेका कोई कारण नहीं है। इस तरह मृत्यु का भय दूर हो जाता है और यह ज्ञानी मानव अपने स्थायी जीवनमें, स्थायी अस्तित्वमें आनन्दप्रसन्न रहता है।

इस प्रकार अपने स्थायी अस्तित्वका अनुभव करनेका अनुष्ठान करनेका विषय अन्य लेखमें प्रतिपादन किया जायगा। यहां इतना ही स्मरण रखना चाहिये कि मनुष्य के लिये स्थायी अस्तित्व ज्ञानविज्ञानसे है और मृत्यु स्थूल शरीरके पीछे लगा है। इतना स्मरण रखनेके पश्चात् हम तीसरी 'स्वः' इस व्याहृतिको अपने विचारके लिये लेते हैं।

स्वः = स्वर्

'स्वः' ही 'स्वर्' है। रकारका विसर्ग होता है। 'स्वर्' में 'स्व+र्' अथवा 'स्व+र' ये दो विभाग हैं। 'स्वयं राजते इति स्वरः' जो स्वयं रहता है, प्रकाशता है, प्रदीप्त रहता है, जो अपनी निज शक्तिसे रहता है, अपने रहनेके लिये तथा अपना प्रकाश फैलानेके लिये जिसको किसी दूसरेकी आवश्यकता नहीं है, जो अपनी निज शक्तिसे प्रकाशेगा और अपनी ही निज शक्तिसे अपना प्रकाश फैलाकर विश्वको देगा और ऐसा करनेके लिये जिसको दूसरेकी सहायताकी अपेक्षा नहीं वह 'स्वर, स्वर्, स्वः' है। भूः, भुवः, स्वः ये तीन व्याहृतियां हैं, भूः से अस्तित्व, भुवः से ज्ञानपूर्वक किया शुभ कर्म और स्वः से आत्मसामर्थ्यका प्रकाश करनेका भाव सूचित होता है। ये तीनों भाव परस्पर संबंधित हैं।

यदि मनुष्यका अस्तित्व न रहा, तो कुछ भी लाभ होनेकी संभावना नहीं। अस्तित्वको-मानवी जीवनको सफल बनानेके लिये ज्ञानपूर्वक कर्म करनेकी आवश्यकता है। इतना होनेपर भी मानवी जीवन कृतकृत्य हुआ ऐसा नहीं समझा जायगा। इसकी कृतकृत्यता होनेके लिये इसकी आत्मशक्तिका प्रकाश पूर्णतया चारों ओर फैलना चाहिये। चारों दिशाओंके मानवोंका आकर्षण इसकी ओर होना चाहिये। यह प्रकाशका केन्द्र बने और इसके प्रकाशसे मानव समाज प्रकाशित हो। ऐसा दिव्य प्रकाश यह देवे। इसका नाम है 'स्व-र्' प्राप्ति। यह मानवकी कृतकृत्यता करनेवाली है।

अक्षरोंमें कुछ व्यंजन होते हैं और कई 'स्वर' होते हैं। स्वरोंका उच्चारण अखंड होता है। अ ऽ ऽ ऽ ऽ कितना भी करो, वह अखंडित रीतिसे होता ही रहेगा। अखण्ड प्रगतिका नाम 'स्व-र' है। यही 'स्व-र्' है, अखंड प्रकाश, अखंड प्रगति, अव्यय वैभव, अमरज्ञान इस स्वरमें है। यह प्राप्त होनेपर मनुष्य अपने आपको कृतकृत्य मानता है, अखंड आनंद उसको प्राप्त होता है। वह सदा आनंद प्रसन्न रहता है। वह प्रकाशक होता है, तथा दिव्य संदेश वह देता है, इससे सब लोग दिव्य मार्ग जानते हैं और कृतकृत्य होते हैं। यह है इस 'स्वर्' का महत्व।

अब इसका वर्णन उपनिषदोंमें कैसा किया है वह देखिये। यहां यह ध्यानमें रखना चाहिये कि 'स्वः, स्वर्, सुवर' ये पद एक ही हैं, तथा 'स्वर्ग, सुवर्ग' ये भी एक ही हैं—

आकाशात्मानः स्वरीयुः
आकाशात्मा स्वरेति। कौ० उ० २।१४
स्वः प्रपद्येऽमुना। छां. उ. ३।१५।३
स्वरिति सामभ्यः। छां. ४।१७।३
स्वरिति प्रतिष्ठा। बृ. उ. ५।५।३;४
स्वस्ते दधामि। बृ. ६।४।२५
सुवरित्यसौ लोकः। तै. उ. १।५।१
सुवरित्यादित्यः।
सुवरिति यजूंषि। तै. १।५।२
सुवरिति व्यानः। तै. १।५।३
देवान् सुवर्यतः श्वे. २।३
स्वरिति अस्याः शिरः। मैत्री. ६।६
अन्तरिक्षमथो सुवः। महाना. १।९;५।७
द्यावापृथिव्योर्हिरण्मयं संश्रुतं सुवः स नः
सुवः संशिशाधि। महा. ५।९
सुवरन्नं। महा. ७।१
तपसा ऋषयः स्वरन्वविन्दन्। महा. २२।१
दमेन ब्रह्मचारिणः सुवरगच्छन्। महा. २२१
स्वस्ते शीर्षे। क्षीरस् २
यस्मिल्लोके स्वर्हितम्। रामोत्त. ५
सन्धीयते सुवर्गेण लोकेन। तै. उ. १।३।४
सत्येन न सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते। महा. २१।२
साम सुवर्गो लोको बृहत्। अग्निहोत्रं सुवर्गस्य
लोकस्य ज्योतिः। महा. २२।१
सुवर्गेयाय शक्त्या। श्वे. उ. २२

स्वरिति स्वर्गो लोकः स सामवेदः । संध्यो. २०
स्वरित्यस्याः शिरः । मैत्रा. ६।६
स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति । कठ १।१२
स्वर्गो लोको ज्योतिषावृत। । अरुण. १

इस प्रकार 'स्वः' का वर्णन उपनिषदोंमें है। 'स्वः, स्वर्, सुवर, स्वर्ग, सुवर्ग' ये सब पद एक ही आशय बतानेवाले पद हैं। अब प्रथम इन वचनोंका भाव देखिये– 'आकाश जिसका रूप है जो ऐसा व्यापक आत्मा उसका वर्णन स्वः पदसे होता है। ज्ञानी लोग इसको प्राप्त करते हैं। इस ज्ञानपूर्वक कर्मसे मैं इस स्वर्को प्राप्त करता हूं। सामगानसे स्वरकी प्राप्ति होती है, सामगान स्वरोंसे ही होता है। स्वः यह सबका आधार है। सुवर् यह वह ऊपर दीखने वाला लोक है। जहां सूर्य है वह स्वर ही है। यजुर्वेद भी स्वर ही है। व्यान प्राणको स्वर् कहते हैं। देव स्वर्को प्राप्त होते हैं। गायत्रीका सिर स्वर् है। अन्न ही स्वर् है। द्यावापृथिवीमें जो सुयश है वह स्वर् ही है। ऋषियोंने तपसे स्वर्को प्राप्त किया था। ब्रह्मचारियोंने इन्द्रिय-दमनसे वही स्वर् प्राप्त किया। इस लोकमें स्वर् रखा गया है। ज्ञानसे स्वर्लोकको प्राप्त करते हैं। सत्यसे लोग स्वर्गसे गिरते नहीं। सामगान बडा स्वर्गलोक है और अग्निहोत्र उसकी ज्योति है। शक्तिसे स्वर्गलोक मिलता है। स्वर्लोकमें किसी तरहका भय नहीं होता। स्वर्गलोक तेजसे भरा है।'

यह वर्णन इस स्वर्का उपनिषदोंमें है। इससे इसकी श्रेष्ठताका पता लगता है। भूः और भुवः से यह उन्नतर है, अधिक श्रेष्ठ है। सत्य और ज्ञानपूर्वक किये कर्मसे यह स्थान प्राप्त होता है। इन तीन व्याहृतियोंके इतने मननसे संक्षेपसे कहना हो तो निम्नलिखित तीन बोध मिलते हैं–

१ अपना अस्तित्व सुरक्षित रखनेके लिये प्रयत्न करना चाहिये।

२ ज्ञान प्राप्त करके अभ्युदयके लिये उत्तम शुभ कर्म करने चाहिये,

३ और अपना प्रकाश फैलाकर अपने आत्मप्रकाशकी शक्तिसे सबको प्रकाशित तथा आनन्द पूर्ण करना चाहिये।

ये कर्तव्य जैसे वैयक्तिक हैं वैसे ही सार्वजनिक और राष्ट्रीय भी हैं।

१ अपना राष्ट्रीय अस्तित्व सुरक्षित रहनेके लिये जो कर्तव्य करने आवश्यक हैं वे करने चाहिये,

२ राष्ट्रभरमें यथेच्छ ज्ञानप्रचार करके अपने राष्ट्रीय अभ्युदयके लिये जो शुभ कर्म करनेकी आवश्यकता हो वे सब कर्तव्य करने चाहियें।

३ तथा अपने राष्ट्रका सर्वत्र प्रकाश फैले और सब देश अपने राष्ट्रके ज्ञानसे लाभ उठावें और सबको आनन्द प्रसन्न रहनेका मार्ग दीखे ऐसा करना चाहिये।

ये राष्ट्रीय बोध इन्ही तीनों व्याहृतियोंसे मिलते हैं। अब तीनों महाव्याहृतियोंका इकट्ठा विचार करना चाहिये -

तीन महाव्याहृतियाँ

'भूः भुवः स्वः' ये तीन महाव्याहृतियाँ कहलाती है; वेद तथा उपनिषदोंमें इन तीनोंको बडा महत्त्वका स्थान मिला है। इसलिये यहां संक्षेपसे इन तीनों महाव्याहृतियोंका विचार करते हैं। वेद मंत्रोंमें इनका उल्लेख आया है ऐसे मंत्र देखिये क्या कहते हैं––

भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्यां
सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः।
नर्य प्रजां मे पाहि, शंस्य पशून् मे पाहि
अथर्व पितुं मे पाहि। वा॰ य. ३।३७

'अस्तित्व––ज्ञान––आत्मप्रकाशके लिये यत्न हो। मैं उत्तम प्रजासे प्रजावाला हो जाऊं, उत्तम वीरोंसे वीर बनूं, उत्तम पोषणोंसे हृष्टपुष्ट बनूँ। हे मनुष्योंका हित करने वाले नेता! मेरी प्रजाका रक्षण कर, हे प्रशंसा योग्य नेता! मेरे पशुओंका रक्षण कर हे स्थायी रहनेवाले! मेरे अन्नका संरक्षण कर।' तीन व्याहृतियोंके द्वारा अस्तित्व-ज्ञान-आत्मप्रकाश होकर जो होता है वह इसमें दिया है। सुप्रजा होनी चाहिये, वह वीर संतति होना चाहिये, वह हृष्टपुष्ट बलिष्ठ होनी चाहिये, पर्याप्त अन्न अपने पास रहना चाहिये।

भूर्भुवः स्वः द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा।
वा. य. ३।५

"अस्तित्व––ज्ञान––आत्मप्रकाश हो। द्युलोकके समान विस्तृत और पृथिवीके समान श्रेष्ठ मेरा कार्य हो।"

भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्। वा. य. ३६।३

' अस्तित्व--ज्ञान और अपना प्रभाव सुस्थिर हो। मैं उस सर्व विश्वके प्रसविता परमात्मदेवकी श्रेष्ठ ज्योतीका ध्यान करता हूं, जिससे हम सबकी बुद्धियोंको शुभ प्रेरणा मिले। ' इस तरह भूः भुवः स्वः इन तीन महाव्याहृतियोंके साथ वेदमंत्रों द्वारा कैसे विचार प्रकट हो रहे हैं उनका विचार कीजिये। अब उपनिषदोंमें इन महाव्याहृतियोंके विषयमें क्या कहा है सो देखिये—

भूर्भुवः स्वः स्वाहा। बृ. उ. ६।३।३
भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामि। बृ. ६।४।२५
भूर्भुवः स्वरोम्। मैत्री ६।३५
भूर्भुवः स्वरन्नम्। म. ना. ७।२
भूर्भुवः स्वर्ब्रह्म। म. ना. ८।१
भूरसि भुवोऽसि सुवरसि भूर्भूतये स्वाहा। पार. ५।६
भूरिति भुवो लोकः, भुव इत्यन्तरिक्षलोकः स्वरिति स्वर्गलोकः। गायत्री २
भूरिति ऋग्भ्यः, भुवरिति यजुर्भ्यः स्वरिति सामभ्यः। छां ४।१७।३
भूर्भुवः स्वरित्येषास्य प्रजापतेः स्थविष्ठा तनूर्या लोकवती। मैत्रा. ६।६
भूर्भुवः स्वः ब्रह्म स्वयंभु। चित्यु. ६।१
भूर्भुवस्वरिमे लोकाश्चंद्रसूर्याग्निदेवताः। योग. ६।५६
भूर्लोकः पादयोः भुवर्लोकस्तु जानुनि, सुवर्लोकः कटिप्रदेशे। ना. बिं. ३
भूस्त्वादिः, मध्यं भुवस्ते, स्वस्ते शीर्षं विश्वरूपोऽसि। चतुर्वे. ८

' भूः भुवः स्वः इससे जो बनता है वह मैं तेरे लिये समर्पण करता हूं। भूः भुवः स्वः ये तीनो ओंकार रूप है। भूः भुवः स्वः यह सब अन्न है। ये तीनों ब्रह्म हैं। ये तीनों तेरे रूप हैं। पृथ्वीका नाम भूः, अन्तरिक्षका नाम भुवः और स्वर्गलोकका नाम स्वः है। भूः ऋग्वेदसे, भुवः यजुर्वेदसे और स्वः सामवेदसे होते हैं। भूः भुवः स्वः यह प्रजापति परमात्माकी स्थूल तनु है, जिसमें सब लोक समाये हैं, भूः भुवः स्वः यह स्वयं स्वयंभु ब्रह्म ही है। अग्नि सूर्य चन्द्र ही ये तीन व्याहृतियोंसे सूचित होते हैं। भूः पांव, भुवः घुटने और स्वः कटिप्रदेश है अर्थात् यह परमात्माका विराट् देह है। भूः उसका आदि है, भुवः उसका मध्य है और स्वः उसका सिर है, इस तरह ये तीन व्याहृतियों द्वारा विश्वरूप परमात्माका वर्णन होता है। ' यह उपनिषदोंका कथन अत्यंत मननीय है। इसका विचार संक्षेपसे करते हैं—

इन तीन महाव्याहृतियोंका विचार ऋषियोंने कितना किया था, वह इन वचनोंसे विदित हो सकता है। भूः से पृथिवी, भुवः से अन्तरिक्ष, और स्वःसे द्युलोकका बोध होनेसे ' भूर्भुवः स्वः ' से संपूर्ण विश्वका बोध होता है। पृथ्वी लेनेसे जल, अग्नि, वनस्पतियां आदि सब पदार्थ आगये, अन्तरिक्ष लेनेसे वायु, मेघ, विद्युत् आदि सब पदार्थ आगये, और द्युलोक लेनेसे सूर्य चन्द्र तारागण आदि सब आगये हैं। अर्थात् ' भूर्भुवः स्वः ' कहनेसे विश्वके अन्तर्गत सब पदार्थ आगये और कुछ बाकी रहा नहीं यह स्पष्ट है।

मनुष्यका अस्तित्व इन सब पदार्थोंपर अवलंबित है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वृक्षवनस्पति, वृष्टी, विद्युत, वायु, सूर्य चन्द्र नक्षत्र इन सब पदार्थोंकी शक्ति प्राप्त होनेसे ही मनुष्य जीवित रह सकता है और उसका अस्तित्व यहां टिक सकता है। जल न मिला, अग्निसूर्यकी उष्णता न मिली, वायु न मिला तो मनुष्यका रहना असंभव है। इस तरह ' भूर्भुवः स्वः ' के साथ इस तरह मनुष्यके अस्तित्वका संबंध है। मनुष्यका ज्ञान भी इन्ही पदार्थोंका ज्ञान है। कर्म भी इन्ही पदार्थोंके संबंधसे होनेवाली क्रिया है। तो मनुष्यने अपने अभ्युदयके लिये करने योग्य ज्ञानपूर्वक कर्म इन पदार्थोंके साथ होनेवाली क्रिया है। जो भी मनुष्य कर्म करता है वह कर्म इन पदार्थोंके साथ ही किया जाता है। इसी तरह मनुष्यका प्रकाश फैलना है वह भी इनकी सहायतासे ही फैलना है। इस रीतिसे देखा जाय तो यह बात स्पष्ट हो जायगी कि भूर्भुवः स्वः से ही मनुष्य जीवित रहता, अभ्युदयार्थ यत्न करता और आत्मप्रकाश कर सकता है। अर्थात् मनुष्यका सर्वस्व ' भूर्भुवः स्वः ' के साथ संबंधित है। संपूर्ण विश्वरूप ही

परमेश्वरका रूप है, इसी कारण इन वचनोंमें कहा है कि प्रजापतिका यह स्थूल शरीर है। स्वयंभु ब्रह्म ही ये तीन व्याहृतियाँ है। नारायण भी यही है। इस सब वर्णनका तात्पर्य एक ही है।

इस तरह इन तीन महाव्याहृतियोंका विचार हुआ। मनुष्य व्यक्ति तथा मानवजातीका भूत भविष्य वर्तमान इनका सब इन तीन व्याहृतियोंसे संबंधित है। मनुष्य इन तीन व्याहृतियोंका त्याग करके जीवित भी नहीं रह सकता। मनुष्यका अस्तित्व, ज्ञान और उत्कर्ष इनकी अनुकूलता पर अवलंबित है। इसलिये मनुष्य इनकी अनुकूलता संपादन करके यहां रहे और अनुकूलतासे ही कृतकृत्य बने। अब अगली व्याहृतियोंका विचार करते हैं।

महः

'महः' चौथी व्याहृति है। इसका अर्थ—१ 'महोत्सव, उत्सवका समय; २ अर्पण, समर्पण, यज्ञ; ३ प्रकाश, तेज, ज्योति; ४ वैदिक मंत्र; स्तुतिके मंत्र, ५ आनंद, सुख, प्रसन्नता; ६ महत्त्व, बडापन, शक्ति, सामर्थ्य; ७ विपुलता, बहुतायतता; 'जल, उदक' ये अर्थ इस व्याहृतिके कोश में दिये हैं। महत्त्व, सामर्थ्य, बडापन ये अर्थ यहां मुख्य हैं और महत्त्वके सहायक अन्य अर्थ है। 'भूः--भुवः--स्वः' के मुख्य अर्थ 'अस्तित्व-ज्ञानपूर्वक कर्म-आत्मप्रकाश' ये हमने इससे पूर्व निश्चित किये हैं, इनके साथ साथ 'सामर्थ्य, महत्ता' ये इसके अर्थ विचारमें लेने योग्य हैं।

महत्ता, महत्त्व, सामर्थ्य उसको प्राप्त होता है कि जिसका अस्तित्व सुरक्षित है, जो ज्ञानपूर्वक उत्तम कर्म करता है और जो अपने तेजसे प्रकाशता है। जिसका अस्तित्व डामाडौल हो रहा हो, जो ज्ञान विज्ञानहीन हो, जो किसी प्रकार शुभ कर्म करनेमें असमर्थ हो उसको महत्त्व कदापि प्राप्त नहीं हो सकता।

महत्ता, विशालता यह संकुचितताके विरुद्ध है। संकुचित भाव नहीं होना चाहिये। मन विशाल चाहिये। जो मनुष्य सब मनुष्योंको समदृष्टीसे देखता है उसका मन विशाल है और जो अपनी जातीतक ही देखता है वह संकुचित मनवाला है। मनुष्यको अपना मन विशाल करना चाहिये और संकुचित भाव को दूर करना चाहिये, तब महत्ता प्राप्त हो सकती है।

इस 'महः' के विषयमें उपनिषद् क्या कहते हैं सो अब देखिये--

महर्
ओं महः। महाना. १५।१
यो वै रुद्रः यच्च महः। शिरस् २
नाभिदेशो महर्जगत्। नाद. ४
स महर्लोकं जयति। नृ. पू. ५।६
महस्
एतदोजश्च महश्चेत्युपासीत। छां ३।१३।५
मह इति तद्ब्रह्म। तै. १।५।१
मह इत्यादित्यः। मह इति चन्द्रमाः। तै. १।५।२
मह इति ब्रह्म। मह इत्यन्नम्। तै. १।५।३
मह इति ब्रह्मणि (प्रतितिष्ठति) तै. १।६।२
महः पुच्छं प्रतिष्ठा। तै. २।४।१
तन्महः इत्युपासीत महान्भवति। तै. ३।१०।३
पुरुषो वै रुद्रस्तन्महः। महाना. १३।२
ब्रह्मणे त्वा महसे महाना. २४।१

"ओंकारसे जिसका बोध होता है वह 'महः' है। जो रुद्र है वह 'महः' है। शरीरमें नाभीके पासका प्रदेश 'महः' कहलाता है। (इस अनुष्ठानसे) वह महर्लोकको जीतता है। जो ओज है उसकी 'महः' करके उपासना करो। जो महः है वही ब्रह्म है। वही आदित्य है, वही अन्न है। महः प्राप्त होनेसे ब्रह्म प्राप्त होनेके समान है। 'महः' में सबका आधार है। जो 'महः' की उपासना करता है वह बडा होता है। जो पुरुष ईश्वर है वही महः है। ब्रह्म ही महः है।" इस प्रकार उपनिषद कहते हैं।

यहां 'महः=महर्' और 'महः=महस्' ये दो पद दिये हैं। यद्यपि दोनोंका रूप 'महः' ऐसा एक ही होता है तथापि इन दोनोंमें भेद है। 'महर्' का अर्थ स्थानविशेष है और 'महस्' का अर्थ महत्त्वविशिष्टता है। एक गुण बताता है और दूसरा उस स्थानपर आरूढ होनेका भाव बताता है। तथापि इन दोनोंमें महत्त्वका भाव समान है। इसलिये पाठकोंसे निवेदन है कि वे इन दोनों पदोंकी पृथकताका अनुभव करते हुए दोनोंमें जो समान महत्त्वका भाव है वही ध्यानमें लें। वेद मंत्रोंमें यही 'महस्' पद है, वे मंत्र अब देखिये-

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एतेऽमध्यमासो
महसा विवावृधुः। सुजातासो जनुषा पृश्नि-
मातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन ॥
ऋ० ५।५९।६

' ये वीर हैं, इनमें कोई श्रेष्ठ, कोई मध्यम और कोई कनिष्ठ ऐसे नहीं हैं। सब वीर समान हैं, ये अपना महत्त्व बढाते हैं और उस महत्त्वके साथ ये वीर बढते हैं। ये जन्मसे कुलीन हैं, भूमिको माता माननेवाले ये दिव्य वीर हैं ये हमारे साथ आकर रहें। ' यहां महत्त्वके साथ बढनेके लिये किन गुणोंकी आवश्यकता है यह दर्शाया है, सबका समान होना, उच्चनीच मध्यम इस विषमभावका न होना, मातृभूमिको माता मानकर उसकी उन्नतिके लिये अपना जीवन देनेको तैयार रहना आदि गुण जिन वीरोंमें होंगे वेही वीर महत्त्वके साथ बढ सकते हैं। इनके विरुद्ध गुणधर्म वाले अर्थात् जिनमें समताका बर्ताव नहीं है, उच्चनीचता है, जो मातृभूमिका हित नहीं करते, मिलकर कार्य नहीं करते उनको न महत्त्व प्राप्त होता है और नाही वे महत्त्वके कारण बढ सकते हैं। वैसे ही देखो—

सत्रा महांसि चक्रिरे तनूषु। ऋ. ५।६०।४

' उन वीरोंने साथ साथ अपने शरीरों द्वारा अपने महत्त्वपूर्ण सामर्थ्य प्रकट किये हैं। ' और एक मंत्र देखो-

प्रबुध्न्या व ईरते महांसि। ऋ. ७।५६।१४

' आपके महत्त्वपूर्ण सामर्थ्य चारों ओर फैल रहे हैं। ' चारों ओर आपके महत्त्वपूर्ण सामर्थ्यका प्रकाश फैल रहा है।

महो देवस्य पूर्व्यस्य धाम। अथर्व. ४।१।६

' पूर्व देवका धाम बडा है। ' महः यह पुराणपुरुषका धाम है।

अयक्ष्मतातिं मह इह धत्तम्। अथर्व ४।२५।५

' यक्ष्मादि रोगरहित महासामर्थ्य यहां धारण करके रखो। '

महो विष्ण उरोरन्तरिक्षात्। अथर्व. ७।२६।८

' व्यापक ईश्वरका महिमा विशाल अन्तरिक्षसे भी बडा है। ' यहां का ' महः ' शब्द महान् सामर्थ्यका द्योतक है।

महः स्कंभस्य मिमानो अंगम्। अथर्व. १०।७।२

' आधारस्तंभ ईश्वरका अंग महान सामर्थ्यशाली है।' यह महः पद ईश्वरके महत्त्वके लिये प्रयुक्त है।

तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः।
तपो ये चक्रिरे महः। अथर्व. १८।२।१६

' तप करके जो स्वर्गको जाते हैं, तपसे जो कभी पराभूत नहीं हुए, वे तपसे महासामर्थ्य प्राप्त करते हैं। ' यहां तपसे महः का सामर्थ्य होता है ऐसा कहा है। इस तरह ' महः ' का उल्लेख वेदमंत्रोंमें हैं। प्रायः अनेक स्थानोंमें अपने अद्भुत आत्मसामर्थ्यका भाव इसमें है। अस्तित्व–ज्ञानपूर्वक कर्म–आत्मप्रकाशके पश्चात् यह महासामर्थ्य प्राप्त होता है जो प्राप्त करना चाहिये।

जनः

अब ' महः ' के पश्चात् पांचवी व्याहृती ' जनः ' का विचार करते हैं–

' जनः '= का अर्थ है ' प्रजनन, उत्पन्न करनेकी शक्ति। प्रजनन करना, उगना, ऊपर आना, बढना, होना, जन्म लेना। मनुष्य मानवजाती। जाती, राष्ट्र। महः के ऊपरका स्थान।

महः के पश्चात् जनः का स्थान है। इसमें प्रजननका कार्य मुख्य है। प्रजनन किस समय करना चाहिये इसका उत्तर यहां मिलता है—

१ प्रथम अपने अस्तित्वको सुस्थिर करो, (भूः)

२ पश्चात् ज्ञान प्राप्त करो और ज्ञानपूर्वक नियोजनसे उत्तम श्रेष्ठ कर्म करो, (भुवः)

३ इतना करनेसे आप अपना तेज चारों ओर फैला सकते हैं। (स्वः)

४ इस तरह अपना तेज फैलनेके पश्चात् महत्त्व प्राप्त होगा (महः)

५ इस तरहका महत्त्व प्राप्त होनेके पश्चात् ' जनः ' अर्थात् विवाह करके प्रजनन करना योग्य है। (जनः)

यह है प्रजनन करनेका समय। स्त्री पुरुषोंमें सुशिक्षासे पूर्वोक्त योग्यता सुस्थिर होनेपर वे परस्पर मिलकर प्रजनन

करें । तब उत्तमसे उत्तम प्रजा होगी और राष्ट्रकी काया पलट जायगी । श्रेष्ठ प्रजा निर्माण होगी । यही मनुष्यका कर्तव्य है ।

अब जनः के विषयमें उपनिषद् क्या कहते हैं सो देखिये--

स जनलोकं जयति । नृ. पू. ५।६

ॐ भूर्भुवः स्वर्महर्जनस्तपः सत्यम् । महाना. ३

ॐ जनदिति व्याहृत्या । महाना' ३

जनश्च नारायणः, तपश्च नारायणः । ना. उ. ११५

जनोलोकस्तु हृद्देशे कण्ठे लोकस्तपस्ततः ।

ना. बिं. ४

' साधक तपसे जनलोक पर विजय प्राप्त करता है । भूर्भुवः आदि सात व्याहृतियोंमें जनः व्याहृति पांचवी है । इसको ' जनः, जनस्, जनत् ' ऐसे भी नाम हैं । जनः से बोधित होनेवाला नारायण स्वरूप है । जनोलोक हृदयमें है और कण्ठमें तपोलोक है । ' इस तरह जनोलोकके विषयमें उपनिषदोंका कथन है । सब व्याहृतियां ईश्वर स्वरूप हैं और उनका स्थान मानवशरीरमें भी है ।

प्रजननकी इच्छा

प्रजननसे अपने समान जातीकी उत्पत्ति होती है । मनुष्यसे मनुष्य, कुत्तेसे कुत्ता और घोडेसे घोडा आदि । यह प्रजनन कर्म स्वाभाविक है । ' मैं एक हूं, मैं अनेक बनूं ' (एकोऽहं बहुस्यां) यह इच्छा हरएकमें होती है । पशुपक्षी तो स्वभाव धर्मसे नियममें रहते हैं और यथा ऋतु प्रजनन स्वभावधर्मसे करते हैं । ऋतुकाल को छोड-कर उनको ज्ञान भी नहीं होता कि यह नर है या नारी है । मनुष्यका वैसा नहीं है, मनुष्य मन और बुद्धिसे स्वतंत्र है, इसलिये वह अपनी स्वतंत्रताकी बुद्धिसे स्त्रीपुरुष भेदको जानता है और उसका सदुपयोग या दुरुपयोग करता है । वस्तुका अतियोग, अयोग, भ्रान्तियोग तथा सुयोग करके अपनी अवनति अथवा उन्नति कर सकता है । इसीलिये इसके लिये धर्मनियम लगे हैं । यह मनुष्य धर्म अधर्मको जाने और धर्मपालन द्वारा अपनी उन्नति निश्चित रूपसे करे ।

यहां इन व्याहृतियों द्वारा मनुष्य कब प्रजनन करे, और प्रजननके पूर्व किस अनुष्ठानको करे यह सब बताया है । देखिये-- (१ भूः) प्रथम अपना अस्तित्व सुस्थिर करनेका यत्न करे । अर्थात् शरीर, इंद्रियां, मन, बुद्धि आत्मा इनका स्वास्थ्य प्राप्त करे और समाजकी संघटना करके बलवान बने, निर्भय बने और सुरक्षित रहे । (२ भुवः) ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञानसे कौनसे शुभ कर्म व्यक्ति तथा समाजकी सुरक्षा और शान्तिके लिये आवश्यक हैं इसका ज्ञान प्राप्त करे और जो आवश्यक तथा करने योग्य शुभ कर्म हों, उनको यथायोग्य रीतिसे करे । (३ स्वः) जिससे अपना तेज फैल सकता है, अपने प्रकाशसे सबको मार्गदर्शन हो सकता, सबका आकर्षण हो सकता है ऐसा करे और स्वयं तेजका पुञ्ज बने । (४ महः) अपना महत्व, अपना सामर्थ्य बढावे और संकुचित भाव छोडकर विशाल भावका धारण करे । अर्थात् जनता नारायण का रूप है यह जानकर उसकी सेवा करके उसको आनन्द प्रसन्न करनेके लिये कर्म करे । ऐसा कभी न करे कि एक मानव विभागका हित करनेके लिये दूसरे विभागका नाश करे, पर ऐसा करे कि जिससे अविरोधसे सबकी उन्नति हो सके । इतना होनेके पश्चात् (५ जनः) प्रजननका समय आता है । इतना कर्तव्य किया तो मनुष्य उच्च अवस्थाको पहुंचता है । ऐसा श्रेष्ठ मनुष्य ऐसी श्रेष्ठ स्त्री से विवाह विधिसे संबद्ध होकर प्रजनन करे । इतना होनेतक शरीर, इंद्रियां, मन, बुद्धिको शुद्ध बलवान और संयमशील करे, उनको समर्थ करे, प्रगतिशील करे, श्रेष्ठ तथा प्रभावी बनावे । कभी हीनदीन दुर्बल दासभाव युक्त न बनावे । महः व्याहृतिने तो हीनदीन दुर्बल होनेका पूर्ण निषेध किया ही है ।

मनुष्यकी निसर्ग प्रवृत्तीको इस तरह परिशुद्ध करके उससे अच्छेसे अच्छे कार्य करवानेकी यह विधि है । इससे मानव समाज उन्नत अवस्थाको प्राप्त होता जाता है और कभी नीचे नहीं गिरता । मानवसमाज यहां इस पृथ्वीपर उन्नत होता रहना चाहिये, वह पशुताको पहुंचना नहीं चाहिये । इस उन्नत अवस्थाको निश्चित रूपसे पहुंचनेका साधनमार्ग है । अब आगेकी छठी व्याहृति देखिये—

तपः

' तपः, तपस् ' = का अर्थ है तपना, कष्ट सहन करना । ' तप् '- धातुसे ' तपस् ' बनता है । इस ' तप् '

धातुका अर्थ ऐसा है-' प्रकाशना, तेजस्वी होना, तपना, उष्ण होना, उष्णता देना, दुःख सहना, तप करना, शरीरको ताप देना, जलना। '

इस ' तप् ' धातुसे ' तपः, तपस् ' ये पद बनते हैं इसलिये इनके अर्थ— ' उष्णता, गर्मी, दुःख, दुःखसहन करनेकी शक्ति, तप, धार्मिक तपस्या, ध्यान, नीतिधर्मका आचरण, व्रत, नियम ' ऐसे इसके अर्थ हैं।

अच्छा शुभ कर्म करनेके समय कुछ न कुछ कष्ट तो होंगे ही, वे कष्ट आनन्दसे सहन करना और कितने भी कष्ट हुए तो भी उस शुभ कर्मको पूर्ण करना। यह तपसे होनेवाला है। यज्ञ करना हो, ज्ञान प्राप्त करना या ज्ञानका उपदेश करना, राष्ट्रका संरक्षण करना अथवा राष्ट्रकी सेवा करना, खेती करना, व्यापार व्यवहार करना आदि सभी कर्म करनेके समय कुछ न कुछ कष्ट अवश्य होंगे, उन कष्टोंके कारण वे व्यवहार न छोडना, परंतु कष्टोंको सहन करके इन सब उपयोगी कर्मोंको करनेका नाम तप है।

आज कल तपका कुछ विपरीत सा अर्थ लोगोंने समझा है। चारों ओर चार अग्नि जलाकर सूर्यकी उष्णतामें दो तीन घण्टे बैठना, खीलोंके फुट्टेपर बैठना, पानीमें खडा रहकर जप करना, भूखेमें बैठना, एक पांवपर खडा रहना, अपने ही हाथको सुखाना, आदि अनेक प्रकारके तप होते हैं ऐसा लोक आजकल समझते हैं, पर यह बात सच नहीं है। ये तप नहीं हैं। ये तो तामसी आचरण हैं। इनको करना नहीं चाहिये। ये अज्ञानके कारण लोक कर रहे हैं। इनसे किसी तरहका लाभ होनेवाला नहीं है। इसलिये ऐसे तामसी क्रियाकलापको कोई न करे।

मनुष्यको शीत उष्ण, सर्दी गर्मी, वृष्टी धूप, भोजन मिलना न मिलना आदि सहन करनेकी शक्ति प्राप्त करनी चाहिये।

हरएक कार्य करनेके समय मनुष्यको सर्दीमें या गर्मीमें जाना पडता है, धूपमें भ्रमण करना आवश्यक होता है, वृष्टीमें जानेका कार्य होता है। इनको सहन करनेकी शक्ति मनुष्यको अवश्य प्राप्त करनी चाहिये। यह शीत, उष्ण, सुख दुःख, हानि लाभ सहन करनेकी शक्ति जिस मनुष्यमें होती है वही मनुष्य कुछ विशेष कार्य कर सकता है। यही तप है। तपके विषयमें उपनिषदादि ग्रंथोंमें बहुत कहा है वह देखिये—

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा। केन ३३
तपो दानम्। छां. ३।१७।४
मेधया तपसाजनयत् पिता। बृ. १।५।१
तपश्च स्वाध्याय प्रवचने च। तप इति तपो नित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः तद्धि तपः। तै. १।९।१
तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो ब्रह्मेति। तै. ३।२।१
यः पूर्वं तपसो जातम्। कठ ४।६
सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति। श्वे. १।१५
तपसा प्राप्यते सत्वम्। मैत्री ४।३
तपसापहतपाप्मा। विद्यया तपसा चिन्तया वा उपलभ्यते ब्रह्म। मैत्री ४।४
प्रजापतिस्तपस्तप्त्वा। मैत्री ६।६
तपसा चीयते ब्रह्म। मुण्ड. १।१।८
ज्ञानमयं तपः। मुण्ड. १।१।९
तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये। मुण्ड. १।२।११
कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्। मुण्ड. २।१।१०
सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा। मु. ३।१।५
ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
महाना. ५।५
ऋतं तपः सत्यं तपः। ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः।
महाना. ८।१
अर्चयन्ति तपः सत्यम्। महाना. १३।१
तप इति तपो नानशनात्परं, यद्धि परं तपस्तद्दुराधर्षम्। तस्मात्तपसि रमन्ते।
महाना. २१।२
तपसा देवा देवतामग्र आयन्, तपसा ऋषयः सुवरविन्दन्, तपसा सपत्नान्प्रणुदामारातीः।
महाना. २१।१
बलेन तपः, तपसा श्रद्धा। महाना. २३।१
तपोऽग्निः। महाना. २५।१
कठदेशे तपस्ततः। नाद. ४
संस्थाप्य हृदयं तपः। न्यास ५
तपश्चास्मि तपस्विषु। गी. ७।९
शारीरं तपः। वाङ्मयं तपः। तपो मानसं।
गी. १७

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं, कार्यमेव तत्।
गी. १८।३

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।
गी. १८।५

शमो दमस्तपः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत।
गी. १८।४२

द्रव्ययज्ञाः तपोयज्ञाः। गी ४।२८
स तपो लोकं जयति। नृ. पू. ५।१

'तप दान और कर्म यह सब उत्कर्षका आधार है। दान देना तप है। परमपिता परमेश्वरने मेधाबुद्धि और तपसे इस विश्वको बनाया। स्वाध्यायसे ज्ञान प्राप्त करना और प्राप्त ज्ञानका प्रवचन करके दूसरोंको देना और उनको ज्ञानी बनाना यह तप है। तपसे ब्रह्म जाना जाता है। सत्य और तपसे परमतत्त्वका दर्शन होता है। तपसे बल प्राप्त होता है। तपसे पाप दूर होता है। विद्या तप और मननसे ब्रह्मका ज्ञान मिलता है। प्रजापालक (ईश्वर) तप करके प्रजाकी पालना करता है। तपसे ब्रह्मका प्रकाश होता है। ज्ञानमय तप होता है। अरण्यमें जाकर तप और श्रद्धाकी उपासना करते हैं। कर्म, तप, ब्रह्म, श्रेष्ठ अमृत है। सत्यसे और तपसे आत्माके ज्ञानकी प्राप्ति होती है। प्रखर तपसे ऋत और सत्य प्रकट होता है। ऋत (सरल आचरण) तप है, सत्यका पालन करना तप है। इस तपसे ब्रह्मकी उपासना कर। तप और सत्यकी पूजा सब करते हैं। अनशन ही श्रेष्ठ तप है। इस तपमें सब रमते हैं। देवोंने तप करके ही देवतापन प्राप्त किया था। ऋषियोंने तपसे ही सुवर्ग प्राप्त किया था। वीरोंने तपसे ही शत्रुओंको भगाया था। तपसे बल प्राप्त होता है, और तप करनेसे श्रद्धा भी बढती है। तप अग्नि है, तपसे प्रकाश फैलता है। हृदयसे कण्ठतक तपोलोकका स्थान है। तपस्वियोंमें जो तप है वह ईश्वरकी विभूति है। शरीर वाणी और मनसे तप करना चाहिये। यज्ञ दान तप और कर्म छोडने नहीं चाहिये, यह सब अवश्य करना चाहिये। यज्ञ दान और तप करनेसे मनुष्य पवित्र होता है। शम, दम, तप, पवित्रता, अद्रोह, घमंड न करना ये गुण दैवीसंपत्तिके साथ उत्पन्न हुए पुरुषमें होते हैं। ये मनुष्यको देवत्व-दिव्यभाव-देनेवाले हैं।'

यह उपनिषदोंका तपके विषयका वर्णन अत्यंत स्पष्ट है। इससे शीतोष्णादि द्वन्द्वोंको सहन करना आदि जो तप है, उसका महत्त्व प्रकट होता है। तपको ईश्वरका रूप कहा है, इससे और अधिक तपकी प्रशंसा क्या हो सकती है? अब वेद मंत्रोंमें तपका वर्णन है उसमेंसे थोडासा देखिये—

तपसा ये अनाधृष्याः
तपसा ये स्वर्ययुः। ऋ० १०।१५४।२

'तपसे जो विजयी हुवे, वे तपसे स्वर्गको प्राप्त हुए थे।'

त्वं तपः परितप्याजयः स्वः। ऋ० १०।१६७।१

'तूने तप तपकर अपना तेज बढाया है, स्वर्ग प्राप्त किया है।'

इन्द्रावरुणा यदृषिभ्यो मनीषां
वाचो मतिं श्रुतमदत्तमग्रे।
यानि स्थानान्यसृजन्त धीराः
यज्ञं तन्वानास्तपसाभ्यपश्यम्॥ ऋ० ८।५९।६

'हे इन्द्र और वरुणो! प्रारंभमें ऋषियोंको तुमने जो बुद्धि वाणी, मननशक्ति और विद्या दी थी और उन ऋषियोंने अपनी पवित्र बुद्धिसे जो स्थान निर्माण किये थे, वे सब मैंने तपसे देखे हैं।' इस तरह तपसे विशेष ज्ञान प्राप्त होता है।

पाहि नो मन्यो तपसा सजोषाः॥ २॥
तपसा युजा विजहि शत्रून्॥ ३॥ ऋ० १०।८३

'हे उत्साही वीर! तपसे बलवान् होकर हमारा संरक्षण कर, तपसे हमारे शत्रुओंको दूर कर।'

येन देवाः स्वरारुरुहुर्हित्वा शरीरममृतस्य नाभिम्। तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं घर्मस्य व्रतेन तपसा यशस्यवः॥ अथर्व ४।११।६

'यश प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले देवोंने तप और व्रत करके अमृतमय स्वर्गलोकको प्राप्त किया वह सुकृतसे प्राप्त होनेवाला स्थान है।' इसमें तपसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है ऐसा कहा है।

तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमन्तो यामस्यन्ति शरव्यां न सा मृषा। अनुहाय तपसा मन्युना चोत दूरादव भिन्दन्त्येनम्॥ अथर्व ५।१८।९

' तीक्ष्ण शस्त्रवाले ज्ञानी वीर अपने तपके और उत्साहके बलसे जो बाण शत्रुपर छोडते हैं वे दूरसे ही शत्रुका नाश करते हैं । ' तपसे जो बल उत्पन्न होता है वह अपूर्व बल है ।

मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूता-
त्पुरुषं यमाय । तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमे-
णानयैनं मेखलया सिनामि ॥ अथर्व ६।१३३।३

' मैं मृत्युके लिये समर्पित हुआ ब्रह्मचारी हूँ । मैं मृत्युके लिये और एक पुरुष ले जाना चाहता हूं । उसको ज्ञान तप और श्रमसे तथा इस मेखलासे बांधता हूं । ' उसकी तैयारी करता हूं । मृत्युका अर्थ अज्ञानावस्थाको मारनेवाला गुरु है । ब्रह्मचारीकी उन्नति तप परिश्रम और ज्ञानसे होती है ।

तपका अर्थ सत्कर्म करनेके समय होनेवाले कष्टोंको आनंदसे सहना है । सब श्रेष्ठ कर्म इस परिश्रमी वृत्तीसे होते हैं । जगत्के अन्दर ऐसा कोई प्राप्तव्य नहीं कि जो तपसे सिद्ध नहीं हो सकता । ईश्वरने भी प्रथम तप किया जिससे वह इस विश्वका निर्माण कर सका, यह तपका महत्त्व है । इस विषयमें जितना लिखा जाय उतना थोडा है । मनुष्यको प्रत्येक प्रकारका अभ्युदय और निःश्रेयस तपसे ही प्राप्त हो सकता है । इस पृथ्वीपर सुखपूर्ण जीवन बनाना हो तो वह भी तपसे हो सकता है । विद्या ज्ञान बल ऐश्वर्य सामर्थ्य प्रभाव सुख आनन्द आदि सब कुछ तपसे प्राप्त होनेवाला है । अतः उन्नतिशील मनुष्योंको तपका आश्रय करना चाहिये ।

सत्यं

सातवी व्याहृति 'सत्यं' है । सत्य यह व्यवहारकी सचाई बताता है । मनुष्य सत्य व्यवहार करे, काया वाचा मनसे सत्यका पालन करे । सत्यके विषयमें उपनिषदोंने जो कहा है वह यह है—

आप्नोति प्रज्ञया सत्यं संकल्पम् । कौ० ३।२
तत्सत्यं स आत्मा । छां. ६।८।७
एतत्सत्यं ब्रह्मपुरम् । छां. ८।१।५
ब्रह्मणो नाम सत्यमिति । छां. ८।३।४
यो वै स धर्मः सत्यं वै तत् । बृ० १।४।१४
हृदयेन सत्यं जानाति, हृदये सत्यं प्रतिष्ठितम् ।
बृ. ३।९।२३
सत्यं वद । धर्मं चर । तै. १।११।१
सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । तै. २।१।१
यद्वेदेष्वभिहितं तत्सत्यम् । मैत्री ७।१०
सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा । मुण्ड. ३।१।६
सत्यमेव जयते नानृतम् । मुण्ड ३।१।५
सत्येन पन्था विततो देवयानः । ,,
ऋषीणां चरितं सत्यम् । प्रश्न. २।८
सत्यं सूक्ष्मं परिपूर्णमद्वयम् । नृ. उ. ९
सत्यं प्राणो हंसः शास्ताऽच्युतो विष्णुर्नारायणः । मैत्रा. ७।७
सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितं । महाना. १७।१

' प्रज्ञासे संकल्प सत्य होता है । आत्मा सत्य है यह ब्रह्म सत्य है । ब्रह्मका नाम सत्य है । जो धर्म है वही सत्य है । हृदयसे सत्य जाना जाता है । हृदयमें सत्य रहता है । सत्य बोल, धर्मका आचरण कर । सत्य ज्ञानमय अनन्त ब्रह्म है । जो वेदोंमें कहा है वह सत्य है । सत्यसे आत्मा प्राप्त होता है । सत्यका विजय होता है असत्यका नहीं । सत्यका मार्ग खुला हुआ है वही देवमार्ग है । ऋषियोंका चरित सत्य है । सत्य सूक्ष्म है और एक ही है । सत्यही प्राण हंस शासक अच्युत विष्णु नारायण है । सब सत्यमें आश्रय पाता है । '

इस तरह सत्यकी महिमा उपनिषदोंमें गाई है । यह सत्य मानवी व्यवहारमें आना चाहिये

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखं ।
तत् त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये
वा. यजु. ४०।१७, ईश. १५

' सुवर्णके पात्रसे सत्यका मुख ढंका है । हे पुष्ट होनेवाले ! यदि तुम्हें सत्य देखनेकी इच्छा है तो उसे दूर करो । '

मानवी व्यवहारमें यही हो रहा है । सुवर्ण प्रयोगसे सत्यका असत्य और असत्यका सत्य होता है । यह व्यवहार ऐसा ही चल रहा है । धन लोभ छोडनेसे ही

सत्यका संरक्षण हो सकता है। भनकोभमें न फंसनेसे मनुष्य सत्यको प्राप्त कर सकता है और सत्यही ज्ञान और सत्यही ब्रह्म है। आनंदमय ब्रह्म है इस लिये सत्यपालनसे अखंड आनंद प्राप्त हो सकता है।

सप्तव्याहृतियोंका इतना महत्व है। ये सात गुप्त संकेतके शब्द हैं। वेदोंसे-वेदोंके मंत्रोंसे ऋषियोंने ये बाहर निकाले और अपनी सन्तानोंके अभ्युदय निश्रेयस सिद्धिके लिये उन्होंने ये सात शब्द दिये हैं। यदि मनुष्य सब वेद और उपनिषद पढ नहीं सकते, तो न पढें, यदि बहुत मंत्रोंका मनन नहीं कर सकते तो न करें, कमसे कम इन सात शब्दोंका तो अवश्य मनन करें, और इनके उपदेशका आचरण करें, तो निःसंदेह तारण होगा।

ये सात शब्द "भूः-भुवः-स्वः-महः-जनः-तपः-सत्यं" ये हैं और इनका भाव सात शब्दोंमें ही देना हो तो— "अस्तित्व-ज्ञान-प्रकाश-महत्व-प्रजनन-सहनशक्ति—सत्यनिष्ठा" है। मनुष्य जीवनको पवित्र और आनंदमय बनानेका सामर्थ्य इन सात शब्दोंमें है। इन सात शब्दोंकी व्याख्या सात बडे बडे ग्रंथ लिखनेसे भी नहीं हो सकेगी, इतने गंभीर ये शब्द हैं। पाठक इनका जितना मनन करेंगे उतना अधिक उपयोगी दिव्य आचरण का बोध उनको हो सकता है। पाठक मनन करें और अपना जीवन कृतकृत्य बनावें !

व्यक्तिमें शान्ति ! राष्ट्रमें शान्ति !! विश्वमें शान्ति हो !!!

प्रश्न

१ गुप्त संकेतके शब्दोंका प्रयोजन क्या है? किस समय गुप्त संकेतके शब्द प्रयुक्त होते हैं?

२ व्याहृति शब्दका अर्थ क्या है? व्याहृतियाँ कितनी हैं?

३ 'भूः' व्याहृति जिन मंत्रोंमें प्रयुक्त हुई है, उनमेंसे पांच मन्त्र अर्थके समेत लिखिये।

४ अपना सामर्थ्यशाली अस्तित्व जिनसे सिद्ध होता है, वे सात मन्त्र अर्थके साथ लिखिये।

५ 'भुवः' का अर्थ लिखिये, इससे कौनसा बोध होता है? यह व्याहृति जिन मंत्रोंमें है वैसे ५ मंत्र अर्थके समेत लिखिये।

६ मृत्युक्षेत्र कौनसा और अमरक्षेत्र कौनसा है?

७ 'स्वः' व्याहृतिका अर्थ कहिये। 'स्वः' व्याहृति जिनमें है ऐसे ७ मंत्र अर्थके साथ लिखिये।

८ 'भूः भुवः स्वः' इन तीनों व्याहृतियोंका परस्पर संबंध बताकर इनसे जो बोध मिलता है वह लिखिये।

९ जिन मन्त्रोंमें ये तीनों व्याहृतियां हैं ऐसे ५ मन्त्र अर्थके साथ लिखिये।

१० 'महः' का अर्थ स्पष्ट कीजिये। 'जनः' का भाव बताइये और प्रजननका कौनसा समय है यह प्रमाण देकर बताइये।

११ 'तपः' का व्यवहारमें कौनसा उपयोग है? 'तपः' जिन वचनोंमें आया है ऐसे ७ वचन अर्थके समेत लिखिये।

१२ 'सत्य' का महत्व बताइये। व्यवहारमें सत्य किससे दबाया जाता है और सत्यका दर्शन साधक किस रीतिसे करे?

१३ सातों व्याहृतियोंने क्या बोध दिया है?

ऋषि दर्शन

ऋग्वेदमें अनेक ऋषियोंके दर्शन हैं। प्रत्येक पुस्तकमें एक एक ऋषिका तत्त्वज्ञान, संहिता-मंत्र, अन्वय, अर्थ और टिप्पणी है। निम्नलिखित ग्रंथ तैयार हुए हैं। आगे छपाई चल रही है—

१ मधुच्छन्दा	ऋषिका	दर्शन	मूल्य	१) रु.	२ मेधातिथि	ऋषिका	दर्शन	मूल्य	२) रु.
३ शुनःशेप	,,	,,	,,	१) ,,	४ हिरण्यस्तूप	,,	,,	,,	१) ,,
५ कण्व	,,	,,	,,	१) ,,	६ सव्य	,,	,,	,,	१) ,,
७ नोधा	,,	,,	,,	१) ,,	८ पराशर	,,	,,	,,	१) ,,
९ गोतम	,,	,,	,,	१) ,,	१० कुत्स	,,	,,	,,	२) ,,
११ त्रित	,,	,,	,,	१) ,,	१२ संवनन	,,	,,	,,	०॥) ,,
१३ हिरण्यगर्भ	,,	,,	,,	०॥) ,,	१४ नारायण	,,	,,	,,	१) ,,
१५ बृहस्पति	,,	,,	,,	१) ,,	१६ वागाम्भृणी	,,	,,	,,	१) ,,
१७ विश्वकर्मा	,,	,,	,,	१॥) ,,	१८ सप्त	,,	,,	,,	०॥) ,,

१९ वसिष्ठ ऋषिका दर्शन मूल्य ७) रु. [प्रत्येकका डा. व्य. अलग रहेगा।]

यजुर्वेदका सुबोध भाष्य

अध्याय १ श्रेष्ठतम कर्मका आदेश १॥) रु. अध्याय ३२ एक ईश्वरकी उपासना अर्थात् पुरुषमेध १॥) रु.
,, ३६ सच्ची शांतिका सच्चा उपाय १॥) रु. अध्याय ४० आत्मज्ञान-ईशोपनिषद् १) ,,

डाक व्यय अलग रहेगा।

(३) संपूर्ण अथर्ववेदका सुबोध भाष्य मूल्य २६) रु. डा. व्य. ४) रु.

वेदके व्याख्यान

१ मधुच्छन्दा ऋषिका अग्निमें आदर्श पुरुषका दर्शन।
२ वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त।
३ अपना स्वराज्य।
४ श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति और सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घायु।
५ व्यक्तिवाद और समाजवाद। ६ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।
७ वैयक्तिक दिव्यजीवन और राष्ट्रीय उन्नति। ८ सप्त व्याहृति।

ये व्याख्यान तैयार हैं। दूसरे तैयार हो रहे हैं। [प्रत्येक व्याख्यानका मूल्य ।=) छः आने और डा० व्य० =) दो आने]

उपनिषदोंके ग्रन्थ

१ ईश उपनिषद् मूल्य २) रु. डा. व्य. ॥)	२ केन उपनिषद् मूल्य १॥) रु. डा. व्य. ॥)
३ कठ उपनिषद् ,, १॥) रु. डा. व्य. ॥)	४ प्रश्न उपनिषद् ,, १॥) ,, ,, ,, ॥)
५ मुण्डक उपनिषद् ,, १॥) रु. डा. व्य. ॥)	६ माण्डूक्य उपनिषद् ,, ॥) ,, ,, ,, =)

मंत्री- स्वाध्यायमण्डल, आनन्दाश्रम, किल्ला-पारडी (सूरत)

व्यवहार और परमार्थसाधक वेद

वेद जैसा व्यवहारके साधन करनेका उत्तम मार्ग बताता है वैसा ही परमार्थके साधनका भी उत्तम मार्ग बताता है। इसको जनताके सामने रखनेका कार्य वैदिक-व्याख्यान-मालासे किया जा रहा है। यदि पाठक इन व्याख्यानोंको पढेंगे तो उनको पता लग जायगा कि एक एक वेदका पद और वाक्य उत्तम व्यवहार उत्तम रीतिसे किस तरह करना चाहिये, इसका बोध देता है और वही परमार्थका साधन किस तरह करना चाहिये यह भी दर्शाता है। इसलिये ये व्याख्यान केवल पढकर ही छोडनेके लिये नहीं हैं, परंतु इसका प्रत्येक वाक्य अभ्यास करने और वारंवार मनन करने योग्य है। इस समय ये व्याख्यान तैयार हैं—

१ मधुच्छन्दा ऋषिका अग्निमें आदर्श पुरुषका दर्शन।

२ वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त।

३ अपना स्वराज्य।

४ श्रेठतम कर्म करनेकी शक्ति और सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घायु।

५ व्यक्तिवाद और समाजवाद।

६ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

७ अध्यात्मज्ञानसे वैयक्तिक दिव्य जीवन।

८ सप्त व्याहृति।

प्रत्येक व्याख्यानका मूल्य ।=) छः आने और पैकिंग समेत डा० व्य० =) दो आने हैं। प्रत्येकके लिये आठ आने भेजनेसे ये मिल सकते हैं।

इस तरह अनेक विषयोंपर ये व्याख्यान होंगे। इन विषयोंका मनन और प्रचार जगत्में होना चाहिये। समाजकी रचना इन सिद्धान्तोंपर होनी चाहिये। तब आज कलकी अनेक समस्याएँ और कठिनताएँ दूर हो सकती हैं और लोगोंको अपूर्व शांति मिल सकती है। परमार्थ साधनके लिये विश्व छोडनेकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत विश्वकी सेवा करते हुए ही परमार्थ साधन हो सकता है यह वेदका आदेश है।

पाठक इन व्याख्यानोंका उत्तम अध्ययन, मनन और उत्तम अनुष्ठान करें, इसलिये इन व्याख्यानोंके अन्तमें प्रश्न भी दिये हैं। इन प्रश्नोंका उत्तर जो दे सकते हैं उनका व्याख्यानका मनन ठीक हुआ ऐसा समझ सकते हैं।

विना प्रयत्न किये ही वैदिक धर्म आचरणमें नहीं आ सकेगा, वह केवल शब्दोंमें ही रहेगा, केवल शब्दोंमें रहा धर्म उत्तम सुख नहीं देता। वैदिक धर्मसे व्यक्ति और समाज एवं राष्ट्र व्यवस्थाका सुधार हो जाय, इसलिये हरएकको बडा प्रयत्न करना चाहिये। ऐसा प्रयत्न करनेवाले हों तो प्रचारार्थ उनकी सहायता चाहिये।

निवेदनकर्ता

आनन्दाश्रम
किल्ला–पारडी (जि. सूरत)

श्री. दा. सातवलेकर,
अध्यक्ष–स्वाध्याय-मंडल

श्रीमद्भगवद्गीता ।

इस ' पुरुषार्थ-बोधिनी ' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गई है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंकेही सिद्धान्त गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस ' पुरुषार्थ-बोधिनी ' टीकाका मुख्य उद्देश्य है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता के १८ अध्याय तीन विभागोंमें विभाजित किये हैं और उनकी एकही जिल्द बनाई है। मू० १०) रु० डाक व्यय १॥)

भगवद्गीता–समन्वय ।

यह पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीताका अध्ययन करनेवालोंके लिये अत्यन्त आवश्यक है। ' वैदिक धर्म ' के आकारके १३५ पृष्ठ, चिकना कागज। सजिल्दका मू० २) रु०, डा० व्य० ।=)

भगवद्गीता--श्लोकार्धसूची ।

इसमें श्रीमद् गीताके श्लोकार्धोंकी अकरादिक्रमसे **आद्याक्षरसूची** है और उसी क्रमसे **अन्त्याक्षरसूची** भी है। मूल्य केवल ।॥), डा० व्य० =)

सामवेद कौथुमशाखीयः
ग्रामगेय [वेय प्रकृति] गानात्मकः

प्रथमः तथा द्वितीयो भागः।

(१) इसके प्रारंभमें संस्कृत–भूमिका है और पश्चात् **' प्रकृतिगान '** तथा **' आरण्यकगान '** हैं। प्रकृतिगानमें आग्नेयपर्व (१८१ गान) ऐन्द्रपर्व (६३३ गान) तथा **' पवमानपर्व '**(३८४ गान) ये तीन पर्व और कुल ११९८ गान हैं। आरण्यकगानमें अर्कपर्व (८९ गान), द्वन्द्वपर्व (७७ गान) **शुक्रियपर्व** ८४ गान) और वाचोव्रतपर्व (४० गान) ये चार पर्व और कुल २९० गान हैं।

इसमें पृष्ठके प्रारंभमें ऋग्वेद-मन्त्र है और सामवेदका मन्त्र है और पश्चात् गान हैं। इसके पृष्ठ ४३४ और मूल्य ६) रु० तथा डा० व्य० ॥।) रु० है।

(२) उपर्युक्त पुस्तक केवल 'गानमात्र' छपा है। उसके पृष्ठ २८४ और मू० ४)रु. तथा डा०व्य०॥)रु. है।

आसन ।

योगकी आरोग्यवर्धक व्यायाम–पद्धति "

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है कि शरीरस्वास्थ्यके लिये आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यन्त सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्य भी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २॥) दो रु० आठ आने और डा० व्य० ॥) आठ आना है। म० आ० से २॥।=) रु० भेज दें।

आसनोंका चित्रपट— २०"×२७" इंच मू० ।) रु., डा० व्य० -)

मन्त्री— स्वाध्यायमण्डल ' आनन्दाश्रम ' किल्ला-पारडी (जि० सूरत)

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवलेकर, बी.ए., भारत–मुद्रणालय, आनन्दाश्रम, किल्ला-पारडी (जि. सूरत)



वैदिक व्याख्यान माला - नववाँ व्याख्यान

वैदिक राष्ट्र-गीत

लेखक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

अध्यक्ष- स्वाध्याय-मण्डल, साहित्य वाचस्पति, गीतालङ्कार

मूल्य छः आने

ॐ

वैदिक राष्ट्र-गीत

सब मानते हैं कि 'वेद' में सब विद्याएं हैं। सब विद्याएं सूक्ष्मरूपसे वेदमें हैं, यह स्मृतियोंमें भी कहा है 'सर्वज्ञानमयो वेदः' यह प्रसिद्ध वेदप्रशंसा है। 'वेदोऽखिलो धर्ममूलं' ऐसा मनुस्मृतिमें कहा है। ऐहिक और पारलौकिक सब विद्याएं वेदमें है, ऐसा माननेसे अथवा कहनेसे कार्य नहीं चल सकता, प्रत्युत जो विद्याएं वेदमें हैं, उनको बाहर निकाल कर जनताके सामने रखना चाहिये, इसी तरह जो गूढ रूपमें विद्या वेदमें होगी, उसको बाहर निकालकर जनताके सामने प्रकट रूपमें सिद्ध करके बताना चाहिये। वैदिक धर्मियोंपर यह भार इस समय है। इसलिये इस लेखमें वेदमें 'राष्ट्रगीत' है और वह बडा सारगर्भित है, तथा आजकलके समस्त देशोंके राष्ट्रगीतोंसे वह अधिक बोधप्रद है, यह हम इस लेखमें बताना चाहते हैं।

वेदमें 'राष्ट्रगीत' है, इतना सिद्ध होनेसे वेदमें राष्ट्र-विषयक विचार हैं, यह स्वयंही सिद्ध हो सकेगा, और राष्ट्र-शासन, राष्ट्ररक्षण और राष्ट्रके अभ्युदय के संबंधके सब विचार वेदमें हैं, ऐसा भी परंपरया मानना सुगम होगा। इसलिये 'वैदिक राष्ट्रगीत' का मनन हम इस लेखमें करते हैं।

अथर्ववेदके १२ वें काण्डके प्रथम सूक्तमें यह "वैदिक राष्ट्रगीत" है और "ग्रामपत्तनादिरक्षणार्थम्"। 'गांव, नगर आदिके संरक्षणके समय इसका पाठ करना चाहिये' ऐसा इस सूक्तका विनियोग वहां कहा है। राष्ट्रगीतका यही उपयोग सर्वत्र होता है। यह सूक्त 'अथर्वाऋषि' का है। इस सूक्तका देवता 'मातृभूमि' है और 'राष्ट्ररक्षणके कर्म' में इसका विनियोग है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह सूक्त निःसंदेह राष्ट्रगीत है और आज कलके राष्ट्रगीत जिस कार्यमें बोले या गाये जाते हैं, उसी कार्यमें यह गीत भी गाया जाता था। इस राष्ट्रगीतमें 'मातृभूमि' का स्पष्ट निर्देश भी है देखिये—

मातृभूमिकी कल्पना

१ माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः ॥ १२।१।१२
२ सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः ॥ १२।१।१०
३ भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ॥ १२।१।६३

इन मन्त्रोंमें मातृभूमिकी अत्यंत स्पष्ट कल्पना है।

"(१) मेरी माता भूमि है और मैं इस मातृभूमिका पुत्र हूँ। (२) यह मातृभूमि मैं जो पुत्र हूँ उस पुत्रके लिये पर्याप्त दूध अर्थात् खानेकेलिये अन्न देवे। (३) हे मातृ-भूमे! मुझे सुरक्षित रख।" ये मन्त्र स्पष्ट हैं और इनमें मातृभूमि और उसके पुत्र इनकी स्पष्ट कल्पना है। मैं मातृ-भूमिका पुत्र हूं। 'पुत्र' का अर्थही (पुनाति त्रायते च) पवित्र करनेवाला और संरक्षण करनेवाला ऐसा है। मातृभूमिके पुत्रका कर्तव्य यहां बताया है। जो पुत्र है वह पवित्र बने, पवित्रता करे और अपनी माताका संरक्षण करे। इस तरह इन मन्त्रोंमें मातृभूमिका संरक्षण करनेका कर्तव्य ही मातृभूमिके सुपुत्रोंका है ऐसा स्पष्ट कहा है। यह सत्य भी है। माताका उत्तम संरक्षण करना यह सुपुत्रका कर्तव्यही है, यह क्या कहना आवश्यक है? यह तो हरएक पुत्रका कर्तव्य है ही। कुपुत्र ही माताका संरक्षण नहीं करता, जो सुपूत है वह तो अपना जीवन अर्पण करके अपनी माताको सुरक्षित रखता है, और उसका संमान बढाता है, यही बात ऊपरके मन्त्रोंमें कही है। भूमि माता

है और जनता उस माताके पुत्र हैं, इस बातका स्पष्ट निर्देश करनेवाला मन्त्र यह है—

हम तेरे पुत्र हैं

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्याः
त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः ।
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा
येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्यः
उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति॥

अ. १२।१।१५

" हे मातृभूमि [तुम्हारे शरीरसे उत्पन्न हुए हम सब मनुष्य] तुम्हारे उपर संचार करते हैं। तुम ही द्विपादों और चतुष्पादोंका संरक्षण तथा धारण पोषण करती है। ब्राह्मण-क्षत्रिय--वैश्य-शूद्र-निषाद ये पञ्चजन निःसंदेह तुम्हारे ही पुत्र हैं। इनके लिये सूर्य उदय होकर प्रकाश देता है। "

इस मन्त्रमें स्पष्ट रीतिसे कहा है कि, ये पांचों प्रकारके मानव मातृभूमिसे उत्पन्न हुए हैं और मातृभूमिसे इनका पालन पोषण होता है और ये पांचों मातृभूमिपर यथेच्छ संचार करते हैं।

(त्वज्जाताः) मातृभूमिसे पञ्चजनोंकी उत्पत्ति हुई है, अर्थात् जो जिस मातृभूमिके रहनेवाले हैं, वे ही उस भूमि पर संचार करें, वहीं रहें, वहां जो भोग होते हैं उनको प्राप्त करें और उनका भोग करें। ऐसा कभी न हो कि दूसरे लोग आकर उनका भोग करें और मातृभूमिके पुत्र उनसे वंचित रहें। इस की सूचना देनेके लिये यह मन्त्र इस राष्ट्रगीतमें है। यह मातृभूमि (द्विपदः चतुष्पदः बिभर्षि) द्विपाद मानव तथा पक्षी तथा चतुष्पाद अर्थात् गौ आदि पशुओंका भरण पोषण यह कर रही है। ऐसा ही होना चाहिये। माताका दूध उसके पुत्रोंको मिलना चाहिये। सब लोग इसका विचार मनमें रखें। दूसरे देशको परास्त करके पाशवी बलसे उस देशको लूटना किसी भी देशको योग्य नहीं है।

यदि किसी देशमें ज्ञान और विज्ञान बढा है, कला कुशलता बढी है, तो उनकी शिक्षा वे अन्य देशवासियोंको दें। उनको सुबुद्ध और प्रबुद्ध करें, इस तरह उनकी सेवा करनेके लिये अपने ज्ञान, बल तथा धनका उपयोग करें। विश्व सेवा ही विराट पुरुषका संतोष बढा सकती है। कितना महत्त्व पूर्ण उपदेश इस मंत्रने दिया है !! मनुष्य अन्य देशमें जांय, पर उनको पददलित करनेके लिये नहीं, पर उनकी सहायता करके उनको उठानेके लिये जांय। इस तरह विश्वसेवासे विश्वका सुख बढावें और सबके दुःख दूर करें। विश्वको पददलित करनेसे द्वेष बढेगा, जो निःसंदेह युद्धोंको बढावेगा।

अनेक भाषी अनेक धर्मियोंका बन्धुभाव.

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं
नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां
ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती॥ अ. १२।१।४५

"(बहुधा विवाचसं जनं बिभ्रती) अनेक प्रकारकी विविध भाषाएं बोलनेवाले और (नाना-धर्माणं) अनेक धर्मोंको धारण करनेवाले जनसमुदायोंको (यथा ओकसं) एक घरमें रहनेवाले भाईयोंके समान यह मातृभूमि धारण करती है। यह भूमि हमें धनकी हजारों धाराएं देती रहे, जैसी दुहनेके समय न हिलनेवाली गौ दूध देती है।"

यहां 'विवाचसं, नानाधर्माणं जनं' ये पद बडे महत्त्वके हैं। 'वि-वाचसं' का अर्थ अनेक प्रकारकी भाषाओंको बोलनेवाले लोग मातृभूमिमें रहते हैं। प्रत्येक प्रान्तमें भाषा भिन्न होती है। भारतमें ही देखिये काश्मीरी पंजाबी, सिन्धी, बलुची, पुश्तो, हिन्दी, बिहारी, बंगाली, राजपुतानी, गुजराती, कच्छी, मराठी, कन्नडी, तेलगु, तामील, मलयालं आदि कई भाषाओंको बोलनेवाले लोग यहां हैं, प्रत्येक देशमें इसी तरह प्रान्त भाषा विभिन्न होती है। रूसमें भी इसी प्रकार अनेक भाषाएं हैं। प्रान्तिक बोलियाँ भी इसी तरह विभिन्न होती हैं।

मनुष्योंके धर्म भी विभिन्न होते हैं। यहांका धर्म शब्द हिंदुधर्म बुद्धधर्म जैसे धर्मोंका बोधक नहीं है। वेदके समय ये मानव निर्मित धर्म नहीं थे। अतः यहांका धर्म शब्द मानवकी मनः प्रवृत्तिका वाचक है। मानवमें ज्ञानप्रवृत्ति, वीरवृत्ती, संग्रहवृत्ती और कर्मवृत्ती स्वभावतः होती है। ये मानवके विविध स्वभाव धर्म हैं। ऐसे विविध स्वभाव धर्मके कारण मानवोंमें अनेक प्रवृत्तियां होती हैं, तो भी [यथा ओकसं] एक घरमें रहनेवाले भाईयोंके समान सब

विभिन्न प्रवृत्तीके लोग इस मातृभूमिमें रहते हैं और एक मतसे अपनी मातृभूमिकी सेवा करते हैं और अपना आनन्द बढाते हैं।

प्रवृत्तियां विभिन्न होनेपर भी एक देशवासीयोंमें एकता रहनी चाहिये। यह उपदेश इस मन्त्रमें है और वह बडाही लाभदायी है। जैसी मां अपने बच्चेको अपना दूध देती है और उसका पोषण करती है, उसी तरह मातृभूमि अपने धान्यरूपी दूधसे अपने बच्चोंका पालनपोषण करती है। यह अमूल्य उपदेश इस मंत्रसे मिलता है।

देवोंद्वारा बसाए हुए नगर

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भाम्
आशामाशां रण्यां नः कृणोतु ॥ अ. १२।१।४३

" जिस हमारी मातृभूमिके नगर देवोंद्वारा बनाए हैं, तथा जिस हमारी मातृभूमिके क्षेत्रोंमें मनुष्य विविध प्रकारके कार्य करते हैं, उस अनेक उत्तम पदार्थोंको अपने गर्भमें-अपनी खानोंमें धारण करनेवाली हमारी मातृभूमिको प्रजापालक परमेश्वर प्रत्येक दिशामें हमारे लिये अत्यंत रमणीय बनावे। "

हमारी मातृभूमि हमारे लिये प्रत्येक दिशामें रमणीय होनी चाहिये। नगर हो या ग्राम हो, जहां मनुष्य जाय, वहां रमणीयता दीखनी चाहिये। अपनी मातृभूमिपर किसी स्थानपर उदासीनता नहीं रहनी चाहिये। मनुष्योंका यह कर्तव्य है कि वे अपने नगरों और ग्रामोंको तथा वनोंको रमणीय बनानेका यत्न करें। सर्वत्र शोभा दीखनी चाहिये। आकर्षकता बढानी चाहिये। सौंदर्य सर्वत्र ओतप्रोत रहना चाहिये। वेदधर्म चाहता है कि मनुष्य अपने ग्रामों, पत्तनों, नगरों और पुरियोंको अत्यंत सुन्दर बनावें।

देव निर्मित नगरियां हैं। भगवान् श्रीकृष्णकी द्वारका है, रामचन्द्रकी अयोध्या है, हरका हरद्वार है, बद्रिनाथ बद्रि-केदार इन देवोंके लिये सुप्रसिद्ध है। कालीका कलकत्ता है, रामचन्द्रका बढाया रामेश्वर है, भवानीका कन्याकुमारी है, श्रीरंग श्रीरंगनाथका है, श्री कृष्णकी मथुरा है, वृंदावन भी उसीसे पवित्र बना है, इस तरह देवताओंके कारण प्रसिद्ध हुए नगर अपने देशमें तथा अन्यान्य देशोंमें भी प्रसिद्ध हैं। इसका ज्ञान तद्देशियोंको होना चाहिये। हम जिस नगरमें रहते हैं, उस नगरका प्राचीन इतिहास उन नगर-वासीयोंको विदित होना चाहिये। इससे अपने नगरका तथा अपने राष्ट्रका प्रेम उन निवासियोंके मनोंमें स्थिर रहता है। ऐसा प्रेम अपने देशके नगरोंके विषयमें तथा अपने राष्ट्रके विषयमें देशवासियोंमें हो और वह बढे, ऐसी सुशिक्षा युवकोंको मिलनी चाहिये, यह बोध इस मंत्रसे प्राप्त होता है। यही विचार और देखिये—

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः।
सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह ॥
अ. १२।१।३९

" जिस मातृभूमिमें देशका भूतकाल बनानेवाले प्राचीन ज्ञानी ऋषियोंने सत्र, यज्ञ तथा तप करके (सप्त गाः) सात भूविभागोंका उद्धार किया, वही हमारी श्रेष्ठ मातृभूमि है। "

इस मंत्रमें कहा है कि इस भूमिमें (भूत-कृतः ऋषयः) भूतकालमें उज्ज्वल ज्ञानका प्रचार करनेवाले ऋषि हुए थे। उदाहरणके रूपमें देखिये वसिष्ठ, भरद्वाज, वामदेव, अत्रि, विश्वामित्र, गौतम आदि ऋषियोंने इस देशमें सर्व प्रथम ज्ञानका प्रचार किया था। इसी तरह अन्यान्य देशोंमें अन्य ऋषियोंने किया। ये भूतकाल बनानेवाले ऋषी यहां हुए ऐसा प्रत्येक देशके निवासियोंको विदित रहना चाहिये। प्राचीन समयमें इन ऋषियोंने इस ज्ञानका प्रसार किया, इन क्षत्रिय वीरोंने इस देशका इस युद्धमें इस शत्रुसे संरक्षण किया, इन वैश्योंने धनधान्यकी वृद्धी की और जनताको सुखी बनाया, इन कुशल शिल्पियोंने ये शिल्प बनाये और देशका सौंदर्य बढाया। यह ज्ञान देशवासियोंको होना चाहिये, जिससे अपने भूतकालके विषयमें आदर बढता है, देश प्रेम वृद्धिंगत होता है और भविष्यमें वैसे शुभ कर्म करनेका उत्साह जनतामें बढता है। भूतकालके इतिहासका ज्ञान इस तरह जनताका उत्साह बढाता है। इस ज्ञानको प्राप्त करना अत्यंत आवश्यक है। यही बात और अधिक स्पष्ट अगले मन्त्रमें बताई है वह देखिये—

देव ऋण

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे
यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।

गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा
भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥ अ. १२।१।५

" जिस मातृभूमिमें हमारे प्राचीन पूर्वजोंने पराक्रम किया था और जिसमें देवोंने असुरोंको भगा दिया था, जो मातृभूमि गौवों, घोडों और पक्षियोंको रहनेके लिये अच्छा स्थान देती है, वह हमारी मातृभूमि हमें ऐश्वर्य और तेज देवे । "

इस मन्त्रमें भी प्राचीन इतिहासकी ओर निर्देश किया है। (पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे) प्राचीन पूर्वजोंने जिसमें विविध पराक्रम किये थे, पराक्रम करके मातृभूमिका संरक्षण किया था, इसी तरह (देवा असुरान् अभ्यवर्तयन्) जिस मातृभूमिके रक्षणार्थ देवोंने असुरोंको भगा दिया था, अपने ही मातृभूमिमें देखिये, इन्द्रने वृत्र, शंबर आदि असुरोंका नाश किया, रामने रावणादिकोंका नाश किया, विष्णुने नरकासुर आदिका नाश किया, श्री शंकरने त्रिपुरासुरका नाश किया, इस तरह अनेक देवोंने अनेक असुरोंका नाश किया था और इस राष्ट्रको सुरक्षित रखा था, यह प्राचीन इतिहास देखना आवश्यक है। इसको देखनेसे तरुणोंमें मातृभूमिके रक्षण करनेका उत्साह बढता है। यह उत्साह जनतामें बढे इसीलिये इन मंत्रोंमें ये निर्देश आगये हैं। इस कारण इनका विशेष महत्व है। यही वर्णन अगले मंत्रमें विशेष स्पष्टतासे देखिये—

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रिरे।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः।
सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः॥
अ. १२।१।१०

' अश्विदेवोंने जिस भूमिका मापन किया, विष्णुने जिस भूमिमें अनेक पराक्रम किये, शक्तिशाली इन्द्रने जिस भूमिको अपने लिये शत्रुरहित किया, वह हमारी मातृभूमि, माता जैसी अपने पुत्रको दूध देती है, उस तरह हमें उपयोगी पदार्थ देवे। "

इस मंत्रमें विष्णु और इंद्रके पराक्रमोंका स्पष्ट निर्देश है। इस उपलक्षणसे अन्यान्य वीरोंके पराक्रम भी जानने योग्य हैं।

अश्विदेवोंने भूमि, पर्वत, नदी, तालाव आदिके क्षेत्रोंका मापन किया और यह क्षेत्र इतना है, यह इतना है ऐसा निश्चित किया। भूमिका मापन सबसे प्रथम अश्विदेवोंने किया और मानवोंकी गणना सबसे प्रथम गणपतिने की। मनुष्य गणना भी मानवी उन्नतिका एक उत्तम साधन है। इसी तरह अश्विदेवोंने जो जो भूमापन किया, वह भी उन्नतिके लिये सहायक था, इसलिये किया।

जिस तरह इंद्र और विष्णुने असुरोंका नाश किया और मातृभूमिकी सुरक्षा की, उसी तरह अश्विदेवोंके भूमापन किया और प्रमाणबद्धता ग्रामों और नगरोंकी की। सभ्यताकी सुरक्षाके लिये इसकी अत्यंत आवश्यकता है। यह बात इस मन्त्रने सूचित की है।

मातृभूमिका संरक्षण

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं
देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।
सा नो मधु प्रियं दुहां
अथो उक्षतु वर्चसा॥ अ० १२।१।७

" ज्ञानी और वीर जिस मातृभूमिकी आलस्य न करते हुए सर्वदा रक्षा करते रहते हैं, वह मातृभूमि हमें मधुर और प्रिय अन्न देवे और तेजसे हमें युक्त करे। "

इस मंत्रमें कहा है कि मातृभूमिकी सुरक्षा (विश्वदानीं) सदा सर्वदा करनी चाहिये और (अप्रमादं) प्रमाद न करते हुए करनी चाहिये। मातृभूमिके सुपुत्रोंमें जो ज्ञानी हों वे ज्ञानसे, जो वीर हों वे अपने वीर्यसे, जो धनी हों वे अपने धनसे और जो कर्मचारी हों वे अपने प्रयत्नसे मातृभूमिको सुरक्षित रखनेका यत्न करें। अपनी पराकाष्ठा करके मातृभूमिको सुरक्षित रखें। किसी तरह शत्रुका आक्रमण अपनी मातृभूमिपर होने न दें।

मातृभूमिमें जो मधुर और सामर्थ्य बढानेवाला अन्न और खाद्य पेय होगा, वह सब उस मातृभूमिके पुत्रोंको ही मिले। कोई दूसरे शत्रु अपने पाशवी बलसे आक्रमण करके उस अन्नको लूट न सकें। ऐसी व्यवस्था स्थायी रूपसे राष्ट्रमें होनी चाहिये। किसी समय किसी कारण इस संरक्षणके विषयकी शिथिलता राष्ट्रमें नहीं होनी चाहिये।

कितना उत्तम और सदा दक्ष रहनेका उपदेश इस मन्त्रने दिया है। मातृभूमिके भक्तोंको यह सदा ध्यानमें धारण करना चाहिये।

मातृभूमिकी सेवा

याऽर्णवेऽधि सलिलमग्र आसीत्
यां मायाभिरन्वचरन्मनीषिणः ।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ॥
अ. १२।१।८

" जो मातृभूमि प्रारंभमें जलके अन्दर थी, जिस मातृभूमिकी सेवा मननशील लोग कुशलतासे (तथा राजनीतीसे भी) करते हैं, वह हमारी मातृभूमी हमारे उत्तम राष्ट्रमें तेजस्विता और बल धारण करे । "

यहां (मायाभिः अन्वचरन् मनीषिणः) मायाओंसे ज्ञानी सेवा करते हैं ऐसा कहा है । ' माया ' पदके दो अर्थ वेदमें हैं । (१) कुशलता, कार्यकी प्रवीणता, चातुर्य, निपुणता तथा (२) कपट, कुटिलता, कपटपटुता, दावपेंच, शत्रुको चमका देनेकी विद्या । ये दोनों अर्थ माया शब्दमें हैं । शत्रुको परास्त करना है । यदि शत्रु कार्यप्रवीणतासे परास्त होता है, तब तो ठीक है, यदि शत्रु बडा प्रबल है और सरलतासे परास्त नहीं होता, तो उसको कुटिलतासे भी परास्त करना चाहिये । जैसा रामने वालीको छिपकर मारा था, तथा श्रीकृष्णके समक्ष भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि वीरोंका नाश पांडवोंने कपटसे ही किया था । यह माया है । वास्तवमें माया करनेवाले राक्षस ही होते हैं । पर यह विद्या देवोंने भी प्राप्त की । इसलिये कहा जाता है कि राजनीतिमें कपट नीतिके लिये स्थान है । राजनीतिका अर्थही कपटनीति है । सर्व साधारण नीति तो शुद्धनीति है, परंतु राजनीतिमें कपट पटुता आजाती है । कौटिल्यका अर्थशास्त्र देखिये । वह राजनीतिका ग्रन्थ है और उसमें कपट प्रयोगके लिये स्थान है । जिस उपायसे शत्रु मारा जा सकता है, उस उपायसे उसको मारना चाहिये । यह है राजनीतिका सिद्धान्त । यदि प्रबल शत्रुके साथ भी हम सरल व्यवहार करेंगे, तो उसकी प्रबल शक्ति हमारे लिये बाधक होगी, इसमें संदेह नहीं है ।

रावणकी मित्रता होनेसे वाली और रावण मिले थे, परस्पर संघटित थे । रावणको मारना था, इसलिये रावणको निर्बल बनानेके लिये वालीका नाश करना सरल बात नहीं थी, इस कारण अनिवार्य होनेके कारण रामने वालीका वध कपटसे किया । इसमें राजनीतिकी दृष्टीसे कोई दोष नहीं है । इसी लिये इस मंत्रमें कहा है कि (**मनीषिणः मायाभिः मातृभूमिं अन्वचरन्**) बुद्धिमान लोग कुशलतासे तथा कापट्यसे भी मातृभूमिकी सेवा करते हैं । मातृभूमिकी सुरक्षा करनेके कार्यमें ही इस तरहका शब्द प्रयोग-जिसके दो विभिन्न अर्थ होते हैं-किया है । यह सावधानी ध्यानमें धरने योग्य है । सदासर्वदा, आपसके व्यवहारमें अथवा जहां सरलतासे कार्य चल सकता है वहां कपट प्रयोग शत्रुसे भी नहीं करना चाहिये । यह तो नियम है, पर जिस समय कार्य बनता नहीं, उस समय शत्रुको कापट्यसे जीतना चाहिये । इतनी सावधानी वेदने यहां बतायी है । पाठक भी उतनी सावधानीसे इसका अर्थ समझें ।

कौरव वीरोंके साथ पाण्डव वीरोंने सरल रीतिसे ही युद्ध किया था । बहुत प्रयत्न करके भी उनको परास्त करना पाण्डवोंके लिये शक्य नहीं था । पाण्डवोंकी शक्ति किसी तरह अधिक बढ नहीं सकती थी, पाण्डवोंका पराभवका अर्थ सत्पक्षका पराभव था । सत्पक्षका तो पराभव होना नहीं चाहिये । इसलिये अन्तिम समयमें पाण्डवोंने कपट प्रयोग किया और श्रीकृष्णने उसका अनुमोदन भी, सत्पक्षका जय होनेके लिये ही किया था । मायाका प्रयोग करनेकी यही मर्यादा है । इस मर्यादाका पालन अवश्य होना चाहिये ।

अब मातृभूमिका धारण किन गुणोंसे होता है इस विषयमें इस राष्ट्रगीतका मंत्र जो उपदेश देता है वह देखिये—

सत्यं बृहत् ऋतं उग्रं दीक्षा तपो
ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी
उरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥ १२।१।१

" सत्य, बृहद्भाव, सरलता, उग्रता, दक्षता, शीतोष्ण सहन करनेकी शक्ति, ज्ञान और यज्ञ ये आठ सद्‌गुण मातृभूमिका धारण करते हैं । वह हमारी भूत वर्तमान और भविष्यका पालन करनेवाली मातृभूमि हमारे लिये विस्तृत कार्य क्षेत्र देवे । "

स्वराज्य प्राप्त होनेपर उसका संरक्षण कैसा होता है वह इस मन्त्रने कहा है । भारतको इस समय स्वराज्य मिला है, इस स्वराज्यकी सुरक्षा कैसी होगी, यह प्रश्न हमारे सामने इस समय है, इस संरक्षणके विषयका बोध इस मन्त्रने

दिया है। पीछे दिये कई मंत्रोंमें मातृभूमिका संरक्षण करना चाहिये ऐसा उपदेश किया है। वह मातृभूमिका संरक्षण किस रीतिसे करना चाहिये, इसका ज्ञान इस मन्त्रने दिया है। यहां आठ सद्‌गुणोंका निर्देश है। ये गुण मातृभूमिका धारण करते हैं (पृथिवीं धारयन्ति) ऐसा यहां कहा है। जिस राष्ट्रके लोगोंमें ये आठ गुण होंगे, वे लोग अपनी मातृभूमिका संरक्षण कर सकते हैं। इसलिये संक्षेपसे हम इन आठ गुणोंमें क्या कहा है वह बताते हैं—

१ सत्यं— पहिला राष्ट्ररक्षक शुभ गुण सत्य है। राष्ट्रके मनुष्योंमें विचार, उच्चार, आचारमें सत्य रहना चाहिये। सत्यसे व्यवहार उत्तम होता है और राष्ट्रका रक्षण होता है।

२ बृहत्— बृहद्भाव मानवोंमें रहना चाहिये, एक विशालभाव होता है और दूसरा संकुचित भाव होता है। उदारताका विशाल भाव मनुष्योंमें होना चाहिये। संपूर्ण मानव समाजके कल्याण करनेका यत्न करना, यह विशाल भाव है। 'वसुधैव कुटुंबकं' यह विशाल भाव है। राष्ट्र रक्षणके लिये इसकी आवश्यकता है। इसके विरुद्ध संकुचित भाव यह है कि अपनी जातीका रक्षण करनेके लिये अन्य जातीयोंका नाश करना। अपने कुटुंबका रक्षण करनेके लिये अन्य कुटुंबोंका नाश करना। यह संकुचित भाव मातृभूमिका नाश करता है। विशाल उदारताका भाव राष्ट्रकी सुरक्षा करता है।

३ ऋतं— सरलता, सीधापण, तेढेपन का अभाव, निष्कपट आचरण रहना चाहिये। इससे व्यवहार उत्तम होते हैं और मातृभूमिका यश बढता है। राष्ट्रका संरक्षण होता है।

४ उग्रं— उग्रता, वीरता, शौर्य, धैर्य, युद्ध सामर्थ्य। क्षत्रिय का यह गुण है। राष्ट्रका रक्षण करने में इसका विशेष महत्त्व है।

५ दीक्षा— दक्षता, सावधानता, किसी समय असावधान न रहना। सब कार्य दक्षतासे निर्दोष करना। शिथिलतासे कोई कार्य योग्य रीतिसे नहीं होते। इस लिये सदा दक्ष रहनेका उपदेश यहां किया है।

६ तपः— शीत उष्ण सहन करना, हानिलाभ आदि द्वन्द्वोंको सहना और उत्साहसे अपना कार्य करना चाहिये। जो लोग शीत लगने पर ज्वरित होंगे तथा उष्णता लगने पर जिनका सिर चक्कर खाने लगेगा वे राष्ट्रका संरक्षण किस तरह कर सकेंगे? शीत लगे, उष्णता हो अथवा वृष्टी होती रहे, जिनके शरीर इन तीनों ऋतुओंमें सुदृढ रहेंगे, वेही राष्ट्रका रक्षण कर सकते हैं। मनुष्य शीत उष्ण सहन करनेवाले बनें, यह आदेश यहां दिया है, वह अत्यंत योग्य है।

७ ब्रह्म— ज्ञान और विज्ञान इसकी मानवोंकी प्रगतिके लिये अत्यंत आवश्यकता है। ज्ञान विज्ञानके विना मानव अन्धा है। विज्ञानसे भौतिक सुख साधन बढाये जा सकते हैं, और आत्मज्ञानसे मानसिक शान्तिका लाभ होता है। अतः मानवोंको उचित है कि वे ज्ञान और विज्ञानमें अपनी अधिक उन्नति संपादन करें और ऐसा करें कि राष्ट्रमें ज्ञान और विज्ञान सम प्रमाणमें परस्पर सहायक होकर रहें। यदि राष्ट्रमें विज्ञान बढेगा और आत्मज्ञान कम होगा, तो उस राष्ट्रमें नास्तिकता बढेगी। भौतिक सुख बढेंगे, पर आत्मिक अशान्ति ही बढेगी। इसी तरह यदि किसी राष्ट्रमें आत्मज्ञान ही बढेगा और विज्ञानकी ओर कोई ध्यान नहीं देंगे, तो उस राष्ट्रमें भौतिक सुख तो रहेंगे ही नहीं; पर निष्क्रियता ही बढती रहेगी। इस लिये ज्ञान और विज्ञान इन दोनोंका समविकास राष्ट्रमें होना चाहिये। इसीको ब्रह्मज्ञान कहते हैं। प्रकृति, जीव और परमात्मा (त्रयं यदा विन्दते ब्रह्मं एतत्। श्वे. उ.) ये तीनोंका जो साकल्येन ज्ञान है वही ब्रह्मज्ञान है। तात्पर्य यह है कि यह सब ज्ञान राष्ट्रमें रहना चाहिये।

आज भारतमें थोडासा आत्मज्ञान है पर यहां निष्क्रियता है, युरोपमें विज्ञान है पर वहां नास्तिकता है। ये दोनों अवस्थाएं अयोग्य अतः हानिकारक हैं। इसलिये राष्ट्रकी उन्नतिके लिये दोनों ज्ञान विज्ञान राष्ट्रमें बढने चाहिये।

८ यज्ञ— श्रेष्ठ सज्जनोंका सत्कार करना, आपसकी संघटना करना और दीनोंका उद्धार करना ये तीन कार्य यज्ञके हैं। सज्जनोंका सत्कार करनेसे समाजमें तथा राष्ट्रमें श्रेष्ठोंकी प्रतिष्ठा बढती है, संघटनासे राष्ट्रका बल बढता है और दीनोंका उद्धार होनेसे दीनता दूर होती है, राष्ट्र समर्थ बनता है। दीनता चार प्रकारकी है और उसको दूर करना भी चार प्रकारसे ही होता है। ज्ञान हीनताके कारण

होनेवाली दीनता ज्ञानके प्रसारसे दूर होती है, निर्बलताके कारण होनेवाली दीनता बल बढानेसे तथा शौर्य वीर्य, धैर्य बढानेसे दूर होती है, धनहीनताके कारण होनेवाली दीनता राष्ट्रमें कार्यव्यवहार बढानेसे धन प्राप्त होनेसे दूर होती है। और कर्म शक्तिके अभावसे उत्पन्न होनेवाली दीनता कर्म कौशल तथा कर्म प्राविण्य बढानेसे दूर होती है। इस चार ही प्रकारकी दीनताको दूर करनेके ये चार उपाय हैं। इसका नाम यज्ञ है, गीतामें द्रव्य यज्ञ, तपो यज्ञ, स्वाध्याययज्ञान यज्ञ, योग यज्ञ आदि अनेक यज्ञ कहे हैं, वे सब इन सब दीनताओं को दूर करनेके लिये ही हैं। यज्ञसे ही यह सब होता है और राष्ट्र बलवान बनता है। यज्ञ अनेक प्रकारके हैं और वे सबके सब इस तरह राष्ट्रको बलवान बनानेके लिये ही हैं।

इस तरह वे आठ शुभगुण राष्ट्रका धारण करते हैं (धारयन्ति) अर्थात् ये उत्तम श्रेष्ठ गुण राष्ट्रको पराभूत होने नहीं देते। इस लिये इन गुणोंको राष्ट्रमें बढाना चाहिये।

राष्ट्रके शिक्षा मंत्रीके द्वारा राष्ट्रमें ज्ञान विज्ञानका प्रसार हो सकता है, सत्य ऋत और दक्षता का भाव भी सुरक्षासे ही बढ सकता है। संरक्षणके मंत्रीके प्रबंधसे राष्ट्रमें उग्रता, शीतोष्ण सहन करनेका सामर्थ्य आदि बढाया जासकता है और जनता का शौर्य वीर्य प्रभावी किया जा सकता है। इस तरह राष्ट्रके शासनकर्ताओंके सुयोग्य प्रबंधसे ये सभी आठ गुण राष्ट्रमें बढाये जा सकते हैं और राष्ट्र अपने सामर्थ्यसे अपना संरक्षण करनेमें समर्थ हो सकता है। यह सब प्रबंध करनेका भार इस मंत्रके पूर्व अर्धने लोगोंपर रखा है। इस दृष्टीसे यह मंत्र बहुमूल्य उपदेश दे रहा है।

हमें स्वराज्य प्राप्त हुआ है, पर हमारे अन्दर ये आठ गुण जितने बढने चाहियें उतने बढाये नहीं हैं। इसलिये हमारे राष्ट्रके संरक्षणका कार्य जिस तरह होना चाहिये, उस तरह नहीं हो रहा है। यहां पाठक इस मंत्रके कहनेकी सत्यताका अनुभव ले सकते हैं। राष्ट्रगीतके पहिले ही मंत्रमें वेदने इतना उपयोगी उपदेश दिया है। यही इस राष्ट्रगीत की श्रेष्ठता है।

इस मंत्रके उत्तरार्धमें कहा है कि " हमारी मातृभूमि हमारे लिये विस्तृत कार्य क्षेत्र करके देवे। " अर्थात् हमारे लिये हमारे राष्ट्रमें विस्तृत कार्यक्षेत्र मिले। मातृभूमिके सुपुत्रोंको अपने राष्ट्रमें विस्तृत कार्यक्षेत्र मिलना चाहिये। ऐसा कभी नहीं होना चाहिये कि राष्ट्रके सुपुत्रोंको अपने राष्ट्रमें कार्यक्षेत्र न मिले और दूसरे देशोंके निवासियोंको हमारे देशमें विशाल कार्यक्षेत्र मिलता रहे। यह विशाल कार्यक्षेत्रकी प्राप्ति तो सुयोग्य शासन प्रबंधसे ही हो सकती है।

*

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः अ. १२।१।१२

' हमारी माता भूमि है और मैं उस माताका पुत्र हूं ' मातृभूमिके विषयमें मातृप्रेम जनतामें रहना चाहिये यह इस मंत्रमें कहा है। इस तरह मातृभूमिके विषयमें प्रेम रहेगा तोही वे लोग अपनी मातृभूमिका रक्षण करनेके लिये तैयार रहेंगे।

शत्रुका नाश

यो नो द्वेषत्पृथिवि यः पृतन्यात्
योऽभिदासान्मनसा यो वधेन।
तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि॥
अ. १२।१।१४

" हे मातृभूमे ! हे अपूर्व कार्य की स्फूर्ति देनेवाली भूमि। जो हमारा द्वेष करता है, जो हमारे ऊपर सैन्य भेजता है, जो मनसे हमें दास करनेका उद्योग करता है और जो हमारा वध करता है, उसका पूर्णतया नाश हो।"

यहां शत्रुके कई प्रकारके भेद वर्णन किये हैं। द्वेष करना, सैन्य भेजकर उपद्रव देना, दास करनेकी योजना करना और वध करना ये हैं शत्रुके लक्षण। जो इस तरह के शत्रु हों उनका पूर्ण नाश होना चाहिये।

मातृभूमिकी सेवा

विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं
धर्मणा धृताम्। शिवां स्योनामनुचरेम
विश्वहा॥ अ. १२।१।१७

" हमारी मातृभूमि उत्तम औषधियोंको निर्माण करती है। इस भूमिको हम धर्मसे धारण करते हैं। इस शुभ तथा सुखदायी मातृभूमिकी हम सर्वदा सेवा करेंगे।" इस मंत्रमें मातृभूमिकी सेवा करनेका व्रत राष्ट्रमें रहनेवाले सब लोकोंको अपने आचरणमें रखना चाहिये यह उपदेश है।

मातृभूमिकी वंदना

तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः ।

अ. १२।१।२६

" जिस भूमिके अन्दर सुवर्ण आदि प्रशस्त धातु रहते हैं, उस मातृभूमिको मैं वन्दन करता हूं। "

यहां मातृभूमि वन्दन करने योग्य है ऐसा कहा है। " वन्दे मातरं " कहनेके समानही ' पृथिव्या अकरं नमः ' यह मन्त्र भाग है । मातृभूमिकी वन्दना करनी चाहिये यह भाव यहां है ।

युद्धके ढोल

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति यस्यां मर्त्या व्यैलबाः।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः ।
सा नो भूमिः प्रणुदतां सपत्नान् असपत्नं
मा पृथिवी कृणोतु ॥ १२।१।४१

" जिस भूमिमें लोग आनन्दसे नाचते और खेलते हैं, जिसमें वीर शत्रुके साथ युद्ध करते हैं, उस युद्धके समय जिसमें युद्धके ढोल बजते हैं, वह हमारी मातृभूमि हमारे शत्रुओंको दूर भगा देवे और हमें शत्रुरहित करे ॥ "

राष्ट्रमें लोग आनन्दके समय प्रसन्नतासे नाचें, खेलें और आनन्द करें। पर युद्धका समय आनेपर युद्ध करके शत्रुको भगानेके लिये भी तैयार रहें। और अपना राष्ट्र शत्रुरहित बना देवें। यह है ध्येय। शत्रु न रहे ऐसा करना चाहिये। ऐसा करने पर भी यदि दुष्ट लोग शत्रुता करने लगें, तो उनका पूर्ण नाश करना चाहिये।

मैं विजयी होऊंगा

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम् ।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः।

अ. १२।१।५४

" मैं विजयी होकर अपनी मातृभूमिमें अधिक श्रेष्ठ बनकर रहूंगा। मैं सब शत्रुओंका पराभव करूंगा और दिशा उपदिशाओंमें विजयी बनूंगा।" इस तरह विजयकी इच्छा हरएकको अपने मनमें धारण करनी चाहिये। तथा-

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधिभूम्याम् ।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥

अ. १२।१।५६

" जो ग्राम वा नगर हैं, जो अरण्य हैं और जो हमारी मातृभूमिमें सभाएं, समितियाँ और जो संग्राम होते हैं, उन सबमें मातृभूमिके विषयमें उत्तमही भाषण करूंगा।" कदापि अपनी मातृभूमिके विषयमें मैं हानिकारक भाषण नहीं करूंगा। यह उपदेश हरएकको ध्यानमें धरने योग्य है।

यद्वदामि मधुमत्तद्वदामि यदीक्षे तद्वनन्ति मा ।
त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान्हन्मि दोधतः ॥

अ. १२।१।५८

" मातृभूमिके विषयमें मैं जो बोलूंगा वह मीठाही होगा। जो देखूंगा वह मातृभूमिके रक्षणके लिये ही होगा। मैं तेजस्वी, वेगवान्, बलवान् होकर शत्रुओंका नाश करूंगा।"

आत्मबलिका अर्पण

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा
अस्मभ्यं सन्तु पृथिवी प्रसूताः ।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना
वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥

अ. १२।१।६२

" हे मातृभूमे ! तुम्हारेसे उत्पन्न हुए हम सब लोग रोगरहित तथा क्षयादि दोषरहित होकर तुम्हारी सेवा करनेके लिये तुम्हारे समीप रहेंगे। तुमसे उत्पन्न हुए भोग हमें प्राप्त हों, हम ज्ञानी बनें, दीर्घायु बनें, और तुम्हारे यशको बढानेके लिये अपने सर्वस्व का बलि अर्पण करनेके लिये सिद्ध हों। "

हम नीरोग, दोषरहित, क्षयादि व्याधियोंसे दूर हों, हम बलवान बनें, ज्ञानी बनें तथा सुदृढ होकर दीर्घायु बनें और मातृभूमिका यश बढानेके लिये (बलिहृतः स्याम) बली अर्पण करनेवाले बनें।

इस वैदिक राष्ट्रगीतमें और भी बोधप्रद मंत्र कैसे उत्तम हैं उनको अब देखिये—

यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या
यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः ।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत्
सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥ ४ ॥ अ. १२।१।४

' जिस मातृभूमिमें चारों दिशाओंमें अनेक खेत हैं, जिनमें किसान आपसमें मिलकर उत्तम अन्न उत्पन्न करते हैं। जो

सब प्राणियों और घूमनेवालोंको उत्तम प्रकार धारण करती है, वह मातृभूमि हमें गौओंमें तथा अनेक प्रकारके अन्नोंमें रखे।'

अर्थात् हमें पर्याप्त गौ आदि पशु मिलें और अनेक प्रकारके अन्न प्राप्त हों। कृषीवल इस हमारी मातृभूमिपर उत्तम अन्न उत्पन्न करते हैं, जिस कारण अपने देशमें उत्पन्न हुआ अन्न हमें पर्याप्त प्रमाणमें प्राप्त होता है, ऐसा यह देश हमारा प्रिय देश है। तथा और देखिये—

यस्यामापः परिचराः समानीः
अहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहां
अथो उक्षतु वर्चसा॥ ९॥ अ० १२।१।९

'जिस हमारी मातृभूमिमें दिनरात जलप्रवाह चलते रहते हैं, वह भूमि हमें भरपूर दूध देवे और तेजोमय बलके साथ हमारा सामर्थ्य बढावे' इसमें श्लेष अलंकार है। (परिचराः) परिचर पद परिभ्रमण करके सेवा करनेवाले स्वयं सेवकोंका भाव बताता है। जिस मातृभूमिमें प्रमाद न करते हुए रातदिन जलके प्रवाह चलते रहनेके समान, स्वयं सेवक जनताकी सेवा करनेके लिये सतत घूमते रहते हैं, वह भूमि हमें दूध घी आदि पदार्थ देवे और हमारा तेज भी बढावे। (आपः समानीः) जलप्रवाह समानता स्थापन करते हैं। जल जब प्रवाहित होता है, तब वह प्रथम गर्तोंमें भरता है, भरकर उनको (समा-नीः) समान करके फिर आगे बढता है। इस तरह राष्ट्रके (परिचराः) परिचारक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक राष्ट्रमें सर्वत्र समानता निर्माण करते हैं, जहां न्यूनता होती है वहां भरपूर पूर्णता करते हैं और रातदिन प्रमाद न करते हुए जनतामें शान्ति स्थापनका कार्य करते रहते हैं, सदा तत्पर होकर सेवा करते हैं। ऐसी राष्ट्रसेवा करनी चाहिये यह उपदेश यहां किया गया है।

अध्यक्षका निर्वाचन

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते
पृथिवी स्योनमस्तु। बभ्रुं कृष्णां
रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं
पृथिवीमिन्द्र गुप्ताम्। अजीतोऽहतो
अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्॥ ११॥ अ० १२।१।११

'हे मातृभूमि! तुम्हारे पहाड और पर्वत, हिमाच्छादित शिखर, अरण्य और वन हमारा सुख बढावें। भूरी, काली, उपजाऊ, अनेक रंगवाली विस्तृत और स्थिर मातृभूमि हमारे प्रतापी वीरों द्वारा सुरक्षित हुई है। इस भूमिपर अपराजित, अहत और क्षतरहित होकर मैं अध्यक्ष होऊंगा।'

मैं पराजित न होकर इस मातृभूमिका मैं अध्यक्ष होऊंगा यह आकांक्षा मनमें हरएक उत्साही कार्यकर्ता धारण कर सकता है। यहां मातृभूमि हमारा (स्योनं) कल्याण करे, मातृभूमिके उपरके पर्वत, नदियां आदि हमारी सहायता करें अर्थात् शत्रुसे हमारी सुरक्षा करें ऐसा प्रथम कहा है। दूसरे चरणमें वीरों द्वारा (इन्द्रगुप्तां भूमिं) सुरक्षित हुई हमारी मातृभूमि है ऐसा कहा है। इससे संरक्षणका भार वीरोंपर है यह स्पष्ट होता है। तीसरे चरणमें मैं अजिंक्य होकर मातृभूमिका अध्यक्ष बनूंगा यह महत्त्वाकांक्षा प्रत्येक उत्साही विद्वान वीर धारण करे ऐसा सूचित किया है। राष्ट्रका अध्यक्ष प्रजा द्वारा चुना हुआ हो यह बात यहां स्पष्ट हुई है और वह अजिंक्य, अक्षत और अमर जैसा नित्य उत्साही हो ऐसा भी यहां सूचित हुआ है।

धर्मसे मातृभूमिका धारण

विश्वस्वं मातरमोषधीनां
ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम्।
शिवां स्योनामनुचरेम विश्वहा॥ १७॥
अ० १२।१।१७

'हमारा सर्वस्व ऐसी यह हमारी मातृभूमि हमारे लिये है। यह अनेक औषधियोंका निर्माण करती है। यह राष्ट्र रक्षणके धर्मसे धारण की हुई तथा सुरक्षित रखी हुई विस्तृत ऐसी हमारी मातृभूमि है। सर्वदा इस कल्याणकारी सुखदायी मातृभूमिकी हम सब सेवा करेंगे।'

जो जिस देशके रहनेवाले हैं, वह देश उस देशवासियोंके लिये सचमुच (विश्वस्वं) सर्वस्व है। उनके धर्मयुक्त प्रयत्नोंसे उनको अपने देशका संरक्षण करना चाहिये (धर्मणा-धृतां भूमिं) अपनी मातृभूमि अपने लिये (शिवां स्योनां) शुभ और कल्याणकारिणी तथा सुखदायिनी है ऐसा आदर का भाव अपने मनमें रखना चाहिये। तथा (विश्वहा अनुचरेम) सर्वदा हम सब अपनी मातृभूमिकी

सेवा करेंगे ऐसा निश्चय करके वैसी ही सेवा करते रहना चाहिये। शत्रु दूर करनेकीही सेवा करनी चाहिये ऐसा नहीं है, प्रत्युत ज्ञानी अपने ज्ञानके दानसे, शूरवीर शत्रुको दूर करनेसे, धनी अपने धनसे, कृषक अपने अन्नोत्पादनसे, व्यापारी अपने उत्तम व्यापारसे और शिल्पी अपने शिल्पोंसे मातृभूमिकी सेवा कर सकते हैं और मातृभूमिको सुखी कर सकते हैं।

भरपूर अन्न मिले

भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमरंकृतम्।
भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः।
सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु
जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोतु ॥ २२ ॥

अ. १२।१।२२

"अपनी मातृभूमिमें मनुष्य यज्ञ करके देवोंको हवि अर्पण करते हैं, इस भूमिमें मनुष्य उत्तम खानपानसे जीवित रहते हैं। वह हमारी मातृभूमि दीर्घजीवन और शरीरका बल हमें देवे और वृद्धावस्थातक जीवित रहनेवाले हमें बनावे।"

हम वृद्ध अवस्था तक रहें, तब तक हमारी शक्ति स्थिर रहे, तबतक हम मातृभूमिकी सेवा करते रहें। हमें खान-पानके लिये योग्य पदार्थ पर्याप्त प्रमाणमें मिलते रहें। हम अपने पासके अन्नादि पदार्थ देवोंको यज्ञ करके अर्पण करें और देव हमारे लिये पर्जन्य आदि देकर अन्नकी वृद्धि करते रहें। इस तरह परस्परकी सहायतासे परस्परका लाभ होता रहे। यज्ञमें विबुधोंका सत्कार होता रहे, समानोंकी संघटना बढती जाय और दीनोंकी दीनता दूर होती रहे। इस तरह यहां सबका कल्याण होकर सब आनन्द प्रसन्न होते रहें।

किसीको दुःख न हो

उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः।
पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम् २८

अ. १२।१।२८

'हम सब चलते फिरते हुए, बैठे हुए, खडे हुए अथवा दौडते हुए दाहिने और बांये पांवोंसे अपनी मातृभूमिमें किसीको दुःख न दें।' अर्थात् हमारा चाल चलन किसीको दुःख देनेवाला न हो। इतनाही नहीं; परंतु हमारा व्यवहार सबका सुख बढानेवाला ही होता रहे। तथा—

विमृग्वरीं पृथिवीमावदामि क्षमां भूमिं
ब्रह्मणा वावृधानाम्। ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीमन्न-
भागं घृतं त्वाभि निषीदेम भूमे ॥ २९ ॥

अ. १२।१।२९

'विशेष शुद्ध और ज्ञानसे जिसका धारण किया जाता है, तथा जो बलवर्धक और पुष्टिकारक अन्न तथा घृत आदिका धारण करती है, उस मातृभूमिकी हम सब प्रार्थना करते हैं कि 'हे मातृभूमे! हम तुम्हारे आश्रय लेकर आनन्दसे यहां रहेंगे।'

इस तरह सब लोग जानें कि हमारा आश्रय यह मातृभूमिही है, यही हमें अन्नपान देती है, रहनेके लिये स्थान देती है, सब प्रकारसे धारण पोषण करती है और हमारा आनन्द बढाती है, इसलिये हमें इस मातृभूमिकी सेवा करनी चाहिये।

हमारा पतन न हो

यास्ते प्राचीः प्रदिशो या उदीचीर्यास्ते भूमे
अधराद्याश्च पश्चात्। स्योनास्ता मह्यं चरते
भवन्तु, मा नि पप्तं भुवने शिश्रियाणः ॥ ३१ ॥

अ. १२।१।३१

"हे मातृभूमे! जो तुम्हारी पूर्वदिशा, जो उत्तरदिशा और जो अन्य दिशाएं तथा उपदिशाएं हैं तथा जो नीचेके तथा पीछेके भाग हैं, वे सब मेरे व्यवहार करनेके समय मुझे सुखदायी हों। अपने देशमें आश्रय लेनेपर मुझे कोई न गिरावे।"

अपने देशमें किसी तरह (मा नि पप्तं) मेरी गिरावट न हो। मैं सदा उन्नत होता रहूं।

शत्रुका वध

मा नः पश्चान्मा पुरस्तान्नुदिष्ठा मोत्तरादधरा-
दुत। स्वस्ति भूमे नो भव, मा विदन्
परिपन्थिनो वरीयो यावया वधम् ॥ ३२ ॥

अ. १२।१।३२

'हे मातृभूमे! पीछेसे मेरा नाश न हो, आगेसे, ऊपरसे अथवा नीचेसे मेरा नाश न हो। हे मातृभूमे! हमारा कल्याण हो। शत्रुको हमारा पता न लगे। सब हमारे वध करनेवाले शस्त्र हमसे दूर जाकर शत्रुपर गिरें।' अर्थात् हम सुरक्षित हों और शत्रुही नष्टभ्रष्ट हो जांय।

यावत्तेऽभि विपश्यामि भूमे सूर्येण मेदिना।
तावन्मेचक्षुर्मा मेष्टोत्तरामुत्तरां समाम् ॥ ३३ ॥
अ. १२।१।३३

" हे मातृभूमे ! अपने आनन्ददायक प्रकाशसे युक्त सूर्यकी सहायतासे जहांतक तुम्हारे विस्तारको मैं देख सकूंगा, तब तक मेरी आंख कार्य करती रहे और मैं उत्तर उत्तर आयुको प्राप्त होता रहूं । "

मेरी आयु बढे और मैं मातृभूमिकी सेवा करता रहूंगा। मेरी शक्ति क्षीण न हो यह इच्छा यहां प्रकट हुई है।

हमें पर्याप्त धन मिले

सा नो भूमिरादिशतु यद्धनं कामयामहे।
भगो अनुप्रयुङ्क्तामिन्द्रो एतु पुरोगवः ॥ ४० ॥
अ० १२।१।४०

' जितने धनकी हम कामना करते हैं, वह सब धन हमें हमारी मातृभूमि देवे। शत्रुहन्ता वीर आगे बढे और धन-देव उसका सहायक हो। ' मातृभूमि हमें पर्याप्त धन देवे। हमारे कार्योंके लिये धन कभी न्यून न हो । शत्रुका नाश करनेवाला (इन्द्र) वीर आगे शत्रुका नाश करनेके लिये बढे और (भगः) धनवान् उसकी सहायता करे । इस तरह वीर और धनी मिलकर अपनी मातृभूमिकी सुरक्षा करते रहें।

मातृभूमिकी वन्दना

यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्चकृष्टयः।
भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे ॥ ४३ ॥
अ० १२।१।४३

' जिस हमारी मातृभूमिमें चावल और जौ होते हैं और जिसमें ज्ञानी शूर व्यापारी शिल्पी और वन्य ये पांचों लोग आनंदसे रहते हैं, उस वर्षासे आनंदित होनेवाली और पर्जन्यसे पालित होनेवाली हमारी मातृभूमिके लिये हम वन्दन करते हैं। '

विजय करेंगे

ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मा-
नसश्च यातवे। यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं
पन्थानं जयेमानमित्रमतस्करं यच्छिवं तेन नो
मृड ॥ ४७ ॥ अ० १२।१।४७

' हे मातृभूमे ! जो तेरे ऊपरसे जाने आनेके मार्ग हैं, जिनपरसे मित्र और शत्रु भी संचार करते हैं, तथा जो रथके तथा गाडीके मार्ग हैं। ये सब मार्ग चोररहित और शत्रुरहित हों। जो कल्याणकारी है वही हमारे पास आकर हमें सुख देवे। '

यहां रथके मार्ग और मनुष्योंके चलनेके मार्ग पृथक् हैं ऐसा वर्णन है। (जनायनाः) मनुष्योंके जानेके मार्ग (रथस्य अनसश्च वर्त्मानः) रथके और गाडीके मार्ग ऐसे दो प्रकारके मार्ग हैं। ये सब मार्ग निर्भय और सुखकारी हों।

शत्रु दूर हों

ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारायाः किमीदिनः।
पिशाचान्त्सर्वा रक्षांसि तानस्मद् भूमे यावय॥५०॥
अ० १२।१।५०

' जो हिंसक, कर्मका त्याग करनेवाले, जो कृपण, जो दूसरेका धन खानेवाले, रुधिर पीनेवाले और जो राक्षस हैं उन सबको हे भूमे ! यहांसे दूर करो। '

(गन्धर्व) गन्धन अर्थात् हिंसाशील, (अप्-सरसः) कर्मसे दूर जानेवाले, कर्तव्य पराङ्मुख, (अ-रायाः) दान न देनेवाले, कृपण कंजूस, (किं-ईदिनः) अब क्या खाऊं ऐसा सतत विचार करनेवाले, (पिशाचाः पिशित-अशनाः) रक्त पीनेवाले और सब प्रकारके राक्षस दुष्ट जो होंगे, उन सबको दूर करना चाहिये। राष्ट्रसे इन सब दुष्टोंको बाहर करके जनताको सुखी करना चाहिये।

ईश्वरकी सहायता

त्वमस्यावपनी जनानां
अदितिः कामदुघा पप्रथाना।
यत् त ऊनं तत् त आपूरयाति
प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य ॥ ६१ ॥
अथर्व १२।१।६१

' हे मातृभूमे ! तू लोगोंको अन्न देनेवाली कामधेनु जैसी प्रशंसाके योग्य हो। तुम स्वयं बडी उपजाऊ हो। जो तेरे अन्दर न्यून होगा उस न्यूनताको सत्ययज्ञका पहिला प्रवर्तक प्रजापालक परमेश्वर परिपूर्ण करेगा। ' ऐसा विश्वास ईश्वरपर लोगोंका होना चाहिये। तो सच्चे भक्तोंकी सहायता परमेश्वर

करता है। और वैसे ईश्वरभक्तोंमें यदि कोई न्यूनता होगी, तो उसकी पूर्णता भी वह करता है। प्रयत्नशील सदाचारी लोगोंका यश सदा बढता ही रहता है।

भरपूर खानपान मिले

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः। यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत्सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥ अ. १२।१।३

'(यस्यां समुद्रः) जिस भूमिके साथ समुद्र है, महासागर है, (सिन्धुः आपः) जिस भूमिमें नदियां और जलके झरने हैं, (यस्यां अन्नं) जिस भूमिमें अनेक प्रकारका अन्न उत्पन्न होता है. और जिसमें (कृष्टयः संबभूवुः) कृषी करनेवाली प्रजा मिलकर रहती है, (यस्यां इदं प्राणत् एजत्) तथा जिस भूमिमें यह प्राणी जगत् घूमता और फिरता है, (सा नः भूमिः) वह हमारी मातृभूमि (नः पूर्वपेये दधातु) हमें अपूर्व परिपूर्ण खाद्यपेयोंमें धारण करे अर्थात् हमें उत्कृष्ट खानपान भरपूर देती रहे।

हमारी मातृभूमिके साथ समुद्र लगा है, जहांके जलमार्गसे हम देशदेशान्तरमें जा सकते हैं, जिस मातृभूमिमें नदियां और झरने बहुत हैं, अतः जिसमें भरपूर अन्न और रसपान मिलता है। जिसमें रहनेवाले प्रजाजन आपसमें संघटित होकर कार्य करते हैं। वह हमारी मातृभूमि हमें भरपूर खानपान देवे। पूर्ण पेय हमें मिले, नाना प्रकारके अन्नरस हमें मिलते रहें, किसी तरहकी न्यूनता यहां न रहे।

यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः। या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥४॥

(यस्याः पृथिव्याः) जिस हमारी मातृभूमिके (चतस्रः प्रदिशः) चारों दिशाओंमें (कृष्टयः) कृषी करनेवाले लोग (यस्यां अन्नं संबभूवुः) जिसमें मिलकर अन्न उत्पन्न करते हैं (या) जो मातृभूमि (प्राणत् एजत् बहुधा बिभर्ति) प्राणियोंको और हिलनेवाले प्राणिसमूहोंको अनेक प्रकारसे धारण करती है, (सा नः भूमिः) वह हमारी मातृभूमि (गोषु अन्ने अपि नः दधातु) गौओंमें और अन्नमें हमें धारण करे। हमें पर्याप्त प्रमाणमें गौवोंसे दूध और अन्न देवे।

इसमें भी पर्याप्त संख्यामें गौवें दूध पीनेके लिये हमें मिलें, रसदार फल मिले, अनेक प्रकारके अन्न मिलें इस तरह सब प्रकारका भरपूर खानपान मिले, किसी तरह खानपानकी न्यूनताके क्लेश न हों ऐसा कहा है। हरएक मातृभूमिका भक्त इसी तरह इच्छा करेगा।

वृक्षोंका संरक्षण

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा। पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छावदामसि ॥ अ. १२।१।२७

(यस्यां वानस्पत्याः वृक्षाः) जिस हमारी मातृभूमिमें वनस्पतियां और वृक्ष (विश्वहा ध्रुवाः तिष्ठन्ति) सर्वदा स्थिर रहते हैं, अर्थात् जिस भूमिपर हरीभरी वृक्ष वनस्पतियाँ बहुत हैं, उस (विश्वधायसं पृथिवीं धृतां) सबको धारण करनेवाली हमारी मातृभूमिको हम सुसंरक्षित रखते हैं और (अच्छ आवदामसि) मुख्यतया उसका ही हम गुणवर्णन करते हैं।

मातृभूमिमें वृक्षों और वनस्पतियोंका उत्तम संरक्षण करना वहांके निवासियोंका कर्तव्य है क्योंकि वृक्ष वनस्पतियाँ न रहीं, तो वृष्टि कम गिरेगी और जल कम होनेसे अन्नकी उपज कम होगी। इस कष्टदायक अवस्थाको दूर करनेके लिये यह आवश्यक है कि, मातृभूमिमें वृक्षवनस्पतियोंकी अच्छी समृद्धि रहे। प्रजाजन अपनी मातृभूमिका उत्तम संरक्षण करें और अपनी मातृभूमिकी जिन गुणोंमें प्रशंसा करनी योग्य हो उन गुणोंकी प्रशंसा करें।

शरीरकी शुद्धता

शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु यो नः सेदुरप्रिये तं नि दध्मः। पवित्रेण पृथिवि मोत्पुनामि ॥ अ. १२।१।३०

हे पृथिवि! (नः तन्वे) हमारे शरीरकी शुद्धिके लिये (शुद्धाः आपः क्षरन्तु) शुद्ध जल भरपूर बहा करे। (यः नः अप्रिये) जो हमारे लिये अप्रिय है उसको हम (सेदुः) मलके समान दूर फेंकते हैं। (पवित्रेण मा उत्पुनामि) जो पवित्र है उससे मैं अपने आपको पवित्र करता हूं।

मनुष्य जलसे अपने शरीर शुद्ध करें. इस कार्यके लिये जितना चाहिये उतना जल मिलता रहे। मातृभूमिपर

जलकी न्यूनताकी कभी बाधा न हो। अपने शरीरमें जो मल हैं उनको दूर करके अपना जीवन शुद्ध करना चाहिये। मलोंसे नाना क्लेश उत्पन्न होते हैं। इस कारण शरीर, मन, बुद्धिकी पवित्रता करना अत्यंत आवश्यक है। जलसे शरीरकी शुद्धता, विचारोंसे तथा सत्यसे मनकी शुद्धता, विद्या और शुभ भावनासे बुद्धिकी पवित्रता और तपसे सबकी शुद्धता होती है। 'मातृभूमि' ऐसी प्रेरणा सब प्रजाजनोंमें करें कि जिससे सब लोग शुद्ध पवित्र और यज्ञीय बनें।

ऋतुकालसे समृद्धि

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो
वसन्तः। ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे
पृथिवि नो दुहाताम्॥ अ. १२।१।३६

हे मातृभूमे! तेरे ऊपर आनेवाले वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त और शिशिर ये (ऋतवः) छः ऋतु जो (ते विहिताः) तेरे ऊपर नियत समयमें आते हैं और जो (हायनीः) वर्षभरमें क्रमपूर्वक आते हैं, तथा जो तेरे ऊपर दिन और रात्री आते हैं वे सब (नः दुहातां) हमारे लिये सुख देते रहें।

वसंतऋतुमें वृक्षोंको नवपल्लव तथा फल फूल आते हैं, ग्रीष्ममें भी रसदार फल होते हैं, वृष्टीमें भरपूर जलकी वर्षा होती है। शरत् और हेमंतमें धान्य प्राप्त होता है, शिशिरमें सर्दी आती है। ये सब ऋतु हम सबके लिये भरपूर अन्नरस देकर हमारा सुख बढा देवें। दिन और रात्री ये भी कर्म और विश्रामके लिये मातृभूमिपर क्रमपूर्वक आते हैं। ये सब कालविभाग मातृभूमिपर वसनेवालोंका सुख बढावें और किसी तरह भी ये हमें दुःखसे न सतावें।

यज्ञचक्रसे अभ्युदय

यस्यां सदोहविर्धाने यूपो यस्यां निमीयते।
ब्रह्माणो यस्यामर्चन्ति ऋग्भिः साम्ना यजुर्विदः।
युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोममिन्द्राय पातवे॥
अ. १२।१।३८

(यस्यां सदः हविर्धाने) जिस मातृभूमिमें यज्ञशालाएं हैं और अन्नके स्थान हैं, (यस्यां यूपः निमीयते) जिस भूमिमें यज्ञके स्तम्भ खडे किये जाते हैं, (यस्यां यजुर्विदः ऋत्विजः) जिसमें यजुर्वेद जाननेवाले ऋत्विज, (ब्रह्माणः) और ब्राह्मण लोग (ऋग्भिः साम्ना अर्चन्ति) ऋचाओं और सामोंके द्वारा प्रभुकी अर्चना करते हैं। (यस्यां) जिस भूमिमें (इन्द्राय पातवे) इन्द्रको पीनेके लिये (ऋत्विजः सोमं युज्यन्ते) ऋत्विज लोक सोमका प्रयोग करते हैं। जहां इस तरहके यज्ञ चलते हैं वह हमारी पवित्र मातृभूमि है।

हमारी मातृभूमि अत्यंत पवित्र है। इसमें सर्वत्र ऋतुके अनुकूल यज्ञ होते हैं, लोग पवित्र होकर उन यज्ञोंमें जाते हैं और अपने जीवनोंको पवित्र करते हैं। जहां सर्वत्र यज्ञका पवित्र वायुमण्डल रहता है वह हमारी पवित्र अतः श्रेष्ठ मातृभूमि है। वही हमारी राष्ट्रकी उपास्य देवता है। हम इसके उपासक हैं।

धनका कोश धारण करनेवाली

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं
पृथिवी ददातु मे। वसूनि नो वसुदा रासमाना
देवी दधातु सुमनस्यमाना॥ अ. १२।१।४४

(बहुधा गुहा) बहुत तरहकी खानोंमें (वसु) धन, (मणिं) रत्न हीरा पन्ना आदि तथा (हिरण्यं) सोना चांदी आदि (निधिं बिभ्रती) संचित संपत्तिको धारण करनेवाली हमारी (पृथिवी) मातृभूमि वह संचय (मे ददातु) हमें देवे। यह (वसु-दा) धन देनेवाली, (रासमाना) दान देनेवाली (सुमनस्यमाना देवी) उत्तम मनवाली दिव्य मातृभूमि (नः वसूनि ददातु) हम सबको यथेष्ट धन देवे।

हमारी मातृभूमिमें रत्नोंकी अनेक खानें हैं, सुवर्ण आदि धातुओंकी खानें हैं। इस तरहके अनेक प्रकारके धनसंचय यह हमारी मातृभूमि हमें देती है। इस भूमिका स्वभाव ही धन देनेका है, यह धन देती है, अन्न देती है, फल फूल साग आदि देती है, नाना प्रकारके रस देती है। इनका सेवन करके हम सुखी होते हैं। ऐसी यह उत्तम प्रसन्न मनवाली हमारी मातृभूमि है। यह हमें सदा धन धान्य देती रहे और आनन्दित करती रहे।

शन्तिवा सुरभिः स्योना कीलालोध्नी पयस्वती।
भूमिरधि ब्रवीतु मे पृथिवी पयसा सह॥
अ. १२।१।५९

(शन्तिवा) शान्तिदायक, (सुरभिः) सुगन्धयुक्त, (स्योना) सुख देनेवाली (कीलाल-उध्नी) अन्नरस देनेवाली, (पयस्वती) दूध आदि गोरससे युक्त (मे पृथिवी भूमिः) मेरी मातृभूमि (पयसा सह) दूधके साथ हमें (अधि ब्रवीतु) बुलावें। अर्थात् हमें उत्तम प्रकारके खाद्य-पेय देवे।

इस तरह अथर्ववेदके काण्ड १२ के प्रथम सूक्तमें जो राष्ट्रगीत है, उसके कुछ मंत्र यहां दिये हैं। ये मंत्र नाना प्रसंगोंमें बोलनेके हैं, अर्थात् युद्धका प्रसंग, आनन्दमंगलका प्रसंग, महोत्सव और कठिन समस्या शत्रुपर आक्रमण, आपसका संगठन आदि विभिन्न प्रसंगोंमें बोलनेके लिये ये मंत्र हैं। प्रत्येक मंत्रका अर्थ देखनेसे वह मंत्र किस प्रसंगमें बोलने योग्य है इसका ज्ञान हो सकता है। इसके सूचक शीर्षक भी दिये हैं। अब वेदमें अन्यान्य स्थानोंमें जो राष्ट्रगीतके मंत्र हैं उनमेंसे एक दो मंत्र यहां देते हैं—

राष्ट्रमें समृद्धि हो

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतां, आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां, दोग्ध्री धेनुः वोढाऽनड्वान् आशुः सप्तिः, पुरन्धिर्योषा, जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य वीरो जायतां, निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु, फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां, योगक्षेमो नः कल्पताम्॥
वा० यजु. २२।२२

हे ईश्वर! हमारे राष्ट्रमें ज्ञानसे (ब्रह्मवर्चसी) तेजस्वी बने ब्राह्मण हों, हमारे राष्ट्रमें शूर अचूक शत्रुवेध करनेवाले महारथी क्षत्रिय हों, हमारे राष्ट्रमें (दोग्ध्री धेनुः) दुधारू गौवें हों, बोझ (वोढा अनड्वान्) खींचनेवाले बैल हों, (आशुः सप्तिः) चपल घोडे हों और इन पशुओंका पालन करनेवाले उत्तम धनधान्यसंपन्न वैश्य हों, तथा उत्तम कर्ममें कुशल शूद्र हों। हमारे राष्ट्रमें (पुरंधिः योषा) स्त्रियां विशेष बुद्धिमती सुशीला और चारित्र्यसंपन्न हों, तथा नगरका (पुरं-धिः) संरक्षण करनेमें समर्थ वीर स्त्रियां हों। (जिष्णुः रथेष्ठा) विजयी रथमें बैठनेवाला (सभेयः युवा) सभामें संमान पानेवाला तरुण पुत्र यजमानके लिये हो। हमारे राष्ट्रमें ऐसे तरुण हों। हमारे राष्ट्रमें योग्य समयमें पर्जन्यकी वृष्टी होती रहे, औषधियाँ उत्तम फल फूल देती रहें और हम सबका योगक्षेम उत्तम रीतिसे हमारे राष्ट्रमें सदा चलता रहे।

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नः कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्॥
वा० यजु० १८।४८

हमारे राष्ट्रके ब्राह्मणोंमें तेज रहे, हमारे क्षत्रियोंमें तेज रहे, हमारे वैश्योंमें और शूद्रोंमें तेज रहे। हमारे राष्ट्रके ये सब लोग उत्तम तेजस्वी बनें, वीर्यवान बनें और इस तेजसे प्रत्येक मनुष्य भी तेजस्वी बने। हमारे राष्ट्रमें कोई भी निस्तेज, निर्वीर्य, निर्धन, कर्महीन दीन न हो। सब तेजस्वी, ओजस्वी, वर्चस्वी, मनस्वी बनें।

इस तरह राष्ट्रगीतके फुटकर मंत्र अन्यान्य वेदोंमें मिलते हैं।

इस राष्ट्रगीतकी विशेषता

प्रथम यह राष्ट्रगीत इतना बडा है यह देखकर लोग कहेंगे कि इतने बडे राष्ट्रगीतका पाठ किस तरह किया जा सकता है? सब देशोंके राष्ट्रगीत, जो इस समय प्रचलित हैं वे दो मिनिटोंमें बोले जा सकते हैं। गायन करनेके लिये ३।४ मिनिट लगेंगे। पर इस राष्ट्रगीतके ६२ मंत्र केवल बोलनेके लिये आधा घण्टा लगेगा और गान करनेके लिये एक घण्टा लगेगा। इसलिये यह राष्ट्रगीत ही नहीं है।

इस विषयमें प्रथम यह कहना है कि इसका उपयोग 'ग्राम-पत्तन-राष्ट्र-रक्षणार्थ' करनेका विधान अति प्राचीन कालसे सर्व मान्य हुआ है। इस कारण उपयोग की दृष्टिसे यह राष्ट्रगीत है इसमें संदेह नहीं है। राष्ट्रीयभाव इसके प्रत्येक मंत्रमें स्पष्ट दीख रहा है।

अब दूसरा प्रश्न यह है कि यह बहुत लंबा है। तो इस विषयमें कहना इतना ही है कि इसके मंत्रोंके अनेक वर्ग हैं और एक एक वर्गके मंत्र एक एक प्रसंगमें बोले जानेके लिये हैं। जिस समय शत्रुपर आक्रमण करना होगा, उस समय बोलनेके मंत्र पृथक् हैं, वे ही उस समय बोलने होते हैं। यज्ञ करनेके समय, राष्ट्रीय महोत्सवके समय, शान्तिकर्मके समय, संघटना करनेके समय, एकता स्थापन करनेके समय इस तरह विभिन्न प्रसंगोंमें विभिन्न मंत्र जनसमुदायके द्वारा बोले जानेके लिये हैं। इन मंत्रोंपर जो शीर्षक है तथा

मंत्रोंका जो अर्थ दिया है, उसको देखनेसे यह बात स्पष्टतया विदित हो सकती है।

आजकलका इंग्रेजोंका राष्ट्रगीत 'गॉड सेव्ह दी किंग' अर्थात् 'प्रभु राजाकी सुरक्षा करे' यह जबतक इंग्लिशस्थानपर राजा राज्य करता है, तबतक यह गीत ठीक है, पर जिस समय वहां प्रजासत्ताक राज्य होगा, उस समय यह गीत बदलना पडेगा। इसी तरह अन्यान्य देशोंके राष्ट्रगीतोंकी स्थिति है। पर यह वैदिक राष्ट्रगीत ऐसा है कि, यह सब देशोंके सब कालोंके राष्ट्रोंके लिये सदा उपयोगी होगा। यह त्रिकालाबाधित है यह इसकी विशेषता है। पाठक इस विशेषताको मननपूर्वक देखें और इस दृष्टिसे इसका उपयोग जानें।

इस तरह यह मातृभूमिका वैदिक राष्ट्रगीत है। इतना उत्तम और बोधपूर्ण राष्ट्रगीत किसी भी दूसरे देशका नहीं है। यहां मातृभूमिकी उत्तम तथा स्पष्ट कल्पना है, राष्ट्रका रक्षण करनेके लिये लगनेवाले आवश्यक शुभगुणोंका निर्देश यहां है, मातृभूमिका यश बढानेका पूर्ण कार्यक्रम इसमें है। मातृभूमिके यशके लिये आत्मसर्वस्वका अर्पण करनेकी स्फूर्ति है। इतना बोधप्रद स्फूर्तिदायक, उत्साहवर्धक, कर्तव्य कर्म बतानेवाला राष्ट्रगीत वेदने दिया है। इससे सिद्ध हो सकता है कि वेद राष्ट्रीयताका उपदेश करता है। वेदधर्म राष्ट्रीयतासे दूर नहीं है॥

वेदमें इतना सर्वांग सुन्दर राष्ट्रगीत है यह बात सिद्ध होनेसे, वेदमें राष्ट्रशासन विषयक कई विषयोंका होना सिद्ध होसकता है। वेदमें अनेक विद्याएं हैं, उसमें राष्ट्रशासन विद्या भी है, उसका संक्षेपसे दिग्दर्शन इस राष्ट्रगीतने किया है।

इस राष्ट्रगीतको देखनेके पश्चात् राष्ट्रशासनका विचार करना अत्यंत ही आवश्यक है।

व्यक्तिमें शान्ति ! राष्ट्रमें शान्ति !! विश्वमें शान्ति हो !!!

प्रश्न

१ मातृभूमिकी स्पष्ट कल्पना जिन वेदमंत्रोंमें है, वे वेदमंत्र लिखकर उनका अर्थ लिखिये।

२ वैदिक राष्ट्रगीत किस वेदमें किस स्थानपर है? और उनमें कितने मंत्र हैं? अन्य वेदोंमें राष्ट्रगीतके मंत्र कहां और कितने हैं?

३ प्रजाजन मातृभूमिके पुत्र हैं इस अर्थका एक मंत्र देकर उसका अर्थ लिखिये।

४ अनेकभाषी और अनेकधर्मी प्रजाजनोंका बन्धुभाव रखनेका उपदेश करनेवाला मंत्र लिखिये।

५ देवोंद्वारा बसाये नगरोंका वर्णन जहां हो वैसा मंत्र बताइये।

६ मातृभूमिका संरक्षण करना चाहिये ऐसा आदेश देनेवाले मंत्र लिखकर उनका अर्थ भी लिखिये।

७ मातृभूमिकी सेवा करनेका भाव किस मंत्रमें है ?

८ मातृभूमिका धारण जिन गुणोंसे होता है उन गुणोंका वर्णन करनेवाला मंत्र लिखकर उसका अर्थ बताइये ।

९ शत्रुनाश करनेका उपदेश करनेवाले कौनसे मंत्र हैं ?

१० मातृभूमिके लिये वंदना करनेवाले मंत्र कौनसे हैं ?

११ युद्धके ढोल किस मंत्रमें बजाये हैं ?

१२ अपने विजयकी प्रार्थना किस मंत्रमें है ?

१३ मैं अध्यक्ष बनूं यह आकांक्षा किस मंत्रमें है ?

१४ मातृभूमिके हितके लिये आत्मबलि अर्पण करनेवाला मंत्र कौनसा है ?

१५ हमारा पतन न हो ऐसी सावधानीकी सूचना करनेवाला मंत्र कौनसा है ?

१६ अपनी पवित्रता करनेका उपदेश देनेवाले मंत्र कौनसे हैं ?

१७ वृक्षोंका संरक्षण करनेका उपदेश करनेवाला मंत्र कौनसा है ?

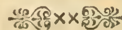
१८ यज्ञका महत्त्व बतानेवाला मंत्र कौनसा है ?

१९ अपनी समृद्धि करनेका आदेश देनेवाले मंत्र कौनसे हैं ?

२० इस राष्ट्रगीतकी विशेषता कौनसी है ।

२१ आजकल प्रचलित विभिन्न राष्ट्रोंके राष्ट्रगीतोंके साथ इस राष्ट्रगीतकी तुलना कीजिये।

२२ इस राष्ट्रगीतमें आपके मतसे कौनसा एक मंत्र सबसे अच्छा है उसको लिखकर उसपर एक निबंध लिखिये ।



मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवलेकर, बी.ए., भारत-मुद्रणालय, किल्ला-पारडी (जि. सूरत)



वैदिक व्याख्यान माला - दसवाँ व्याख्यान

वैदिक राष्ट्र-शासन

लेखक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

अध्यक्ष- स्वाध्याय-मण्डल, साहित्य वाचस्पति, गीतालङ्कार

मूल्य छः आने

ॐ

वैदिक राष्ट्र-शासन



" वैदिक राष्ट्रगीत " हमने देखा। उसमें बहुमूल्य उपदेश है, राष्ट्रका धारण करनेवाले सद्गुणोंका संग्रह उसमें है, संघटना करनेका आदेश है, अपने नगरोंका आदर है, अपने पूर्वजोंका आदर करनेका आदेश है, मातृभूमिके उन्नत्यर्थ आत्मसमर्पण करनेका उपदेश है, मातृभूमिकी सेवाका व्रत लेनेका संदेश है, मातृभूमिका अध्यक्ष मैं बनूंगा यह महत्वाकांक्षा धारण करनेका उपदेश है। इस तरह इस राष्ट्रगीतमें सब आवश्यक उपदेश हैं। इतना सुयोग्य राष्ट्रगीत किसी भी अन्य देशका नहीं है। यह वेदने दिया है।

राष्ट्रगीत है और वह उत्तमसे उत्तम है, इतना सिद्ध होनेसे राष्ट्रीय उन्नतिकी अन्य बातें भी वेदमें होनी चाहिये ऐसा अनुमान सहज ही से किया जा सकता है। यदि राष्ट्रकी कल्पना वेदमें न होती, तो ' राष्ट्र गीत ' भी न होता। जिस कारण वेदमें ' राष्ट्रगीत ' है और वह जगत्के सब राष्ट्रगीतोंमें श्रेष्ठ है, उस कारण वेदमें राष्ट्रशासनके विषयमें भी निर्देश होने चाहिये और वैसे हैं भी। इस लिये इन राष्ट्रीय निर्देशोंका अब हम विचार करते हैं। इसका विचार करनेके समय एक वेदमन्त्र हमारे सामने सबसे प्रथम आजाता है, वह यह है—

ऋषिऋण

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु॥
अथर्व० १९।४१।१

" आत्मज्ञानी ब्रह्मनिष्ठ ऋषियोंने सब लोगोंका कल्याण करनेकी इच्छासे प्रारंभमें तप करनेकी दीक्षा ली और अनुष्ठान किया। इससे राष्ट्र उत्पन्न हुआ, बल और पराक्रम करनेका सामर्थ्य निर्माण हुआ। इस कारण इस राष्ट्रके सामने ज्ञानियोंको विनम्रभावसे उपस्थित रहना चाहिये।

इस मन्त्रमें कहा है कि सृष्टि उत्पत्तिके प्रारंभमें जिस समय लोग प्रगति करने लगे, उस समय ऋषियोंने सब जनताके अभ्युदय निश्रेयसकी सिद्धिके लिये जो यत्न दक्षतासे किये, उससे राष्ट्र निर्माण हुआ। राष्ट्र बननेपर सांघिक बल बना और संघशक्तिसे पराक्रम करनेका सामर्थ्य बढ गया। इसलिये सब ज्ञानी लोग इस राष्ट्रीय सामर्थ्यका आदर करें।

ऋषियोंके प्रयत्नसे राष्ट्रशक्ति निर्माण हुई यह बात यहां इस मन्त्रमें पाठक देखें। राष्ट्रीयता यह ऋषिऋण है। यह मन्त्र ब्रह्मा ऋषिका देखा है। यह मन्त्र कहता है कि ऋषियोंके प्रयत्नसे राष्ट्र बना। राष्ट्रकी संघटना हुई और बडा सामर्थ्य निर्माण हुआ। यह कैसा हुआ वह हम आगे देखेंगे। यहां प्रथम हम देखना चाहते हैं कि इस राष्ट्रके शासनके कितने भेद हैं और प्रत्येकके लक्षण क्या हैं। राज्य शासनोंके कई प्रकार वेदोंमें आये हैं, उनका क्रमशः विचार यहां हम करते हैं। इनमें पहिला ' विराट् शासन ' है—

विराज् शासन

१ विराट् – ' वि+राट् ' अथवा ' वि+राज् ' यह नाम उस अवस्थाका है कि जिस समय ' राजा नहीं था '। राजा की कल्पना भी उत्पन्न नहीं हुई थी। इस समयके शासनका नाम ' वैराज्य ' शासन है। वेदमें—

विराड् वा इदमग्र आसीत्
तस्या जातायाः सर्वमबिभेद्
इयमेवेदं भविष्यतीति। अथर्व ८।१०।१

वैराज्य व्यवस्था

'राजविहीन अवस्था प्रथम थी। यह देखकर सबको भय हुआ कि यही भविष्यमें भी रहेगी।' राजा नहीं था। राजाकी नियुक्ति करनेकी अवस्था समाजमें नहीं आयी थी, उस प्राथमिक अवस्थाका यह नाम है। यह राजविरहित अवस्था है। राजा अस्तित्वमें आनेके पूर्वकी यह अवस्था है। इसको 'वैराज्य' कहते हैं। वैराज्य शासन भी एक प्रकारका शासन है। यह 'अराजक' नहीं है। इस वैराज्यमें राजा नहीं होता, अतः सब लोग मिलकर अपना शासन प्रबंध करते हैं।

भारतमें यह वैराज्य टूटी फूटी अवस्थामें आज भी वन्य जातियोंमें दिखाई देता है। इस व्यवस्थाको आज 'दैव' कहते हैं। जब कोई निर्णय करना होता है, तब सब जातीको बुलाया जाता है और सब जाती निर्णय देती है वह सब मानते हैं और वैसा ही सब करते हैं।

सत्ययुगके वर्णनें कई स्थानोंपर ऐसा वर्णन आता है कि उस समय राजा नहीं था, सेना नहीं थी, परंतु लोग धर्मानुसार रहते थे और धर्मसे सबका पालन होता था। वह अवस्था वैराज् शासनकी अवस्था है। यह अवस्था प्रारंभिक अवस्था है। अत्यंत सुधार होनेपर भी वैराज अवस्था आसकती है। वेदमें दोनों प्रकारके वैराज्योंका वर्णन है। प्रारंभिक अवस्थाका वैराज्य ऊपर दिये मंत्रमें है। जब सब धर्मात्मा होंगे, तबका वर्णन भी है जो ब्राह्मणों और पुराणोंमें कृतयुग वा सत्ययुगके वर्णनमें हमें दीखता है। प्रारंभमें संघटित शासन करनेकी कल्पना उत्पन्न नहीं हुई थी और परमोच्च सुधार होनेपर लोग स्वयं शासित होनेके कारण उनको उस समय किसी शासककी आवश्यकता नहीं थी। अस्तु यह है वैराज्य शासनका स्वरूप। इसको 'विराट् वा विराज्' कहते हैं। यहां जातीकी जाती सबकी सब मिलकर अपनी शासन व्यवस्था करती है।

वेदने इस "प्रारंभिक राजविहीन शासन" को प्रशंसा योग्य माना नहीं है। इसलिये पूर्वोक्त मंत्रमें कहा है।

तस्या जातायाः सर्वमबिभेत्।
इयमेवेदं भविष्यतीति।"　　अथर्व ८।१०।१

"यही परिस्थिति सदा रहेगी, यह भय उस समयके धुरीण लोगोंके मनमें उत्पन्न हुआ।" जो भयजनक अवस्था होती है वह सन्माननीय नहीं हो सकती। अतः यह प्रारंभिक "वैराज शासन" ठीक नहीं है।

वैराज शासनमें एक अध्यक्ष नहीं होता। सब जनता मिले और शासनप्रबंध करे। यह एक ग्रामके विषयमें भी बनना कठिन होता है। यदि जाती नाना ग्रामोंमें बिखरी रही तब तो उन सबको बुलाना, उनका इकट्ठा होना और निर्णय देना कितना कठिन होगा, इसकी कल्पना पाठक कर सकते हैं। यह कठिनता लोगोंके सामने आगयी और ग्रामका शासन ग्रामसभाद्वारा हो, यह पद्धति शुरू हुई। इस विषयमें कहा है...

ग्रामसभा

सा उदक्रामत् सा सभायां न्यक्रामत्। अथर्व ८।१०

१ ग्रामसभा—"वह जनशक्ति उत्क्रान्त हुई और वह ग्रामसभामें परिणत हुई।" प्रथम 'वि-राज्' अवस्था थी, राजा नहीं था, परंतु सर्वत्र लोक ही लोक थे। जनता ही जनता थी। सब जनताको इकट्ठा करना कठिन कार्य है, इसलिये ग्रामसभा सब लोगोंने पसंद की और ग्रामसभा बनी। ग्रामसभा द्वारा ग्रामका राज्यशासन चलने लगा। यहां ग्रामसभा और ग्रामसभाका अध्यक्ष बने और ग्रामका शासन ग्रामसभा और उसका अध्यक्ष करने लगे।

ग्रामकी सब जनता मिलकर ग्रामका शासन करे, इसकी अपेक्षा ग्रामसभा शासन करेगी तो अच्छा रहेगा। ग्रामसभा छोटी होती है, सदस्य थोडे होते हैं। उनको बुलाना, उनका इकट्ठा होना, और एकमतसे कार्य करना सहजहीसे हो सकता है। वि-राज् शासनसे ग्रामसभाका शासन अधिक उत्तम होना स्वाभाविक है। ग्रामके लोग भी ग्रामसभाकी ओर नेतृत्वभावसे देख सकते हैं और ग्रामसभाके सदस्य भी दायित्वके साथ अपना कार्य कर सकते हैं।

ग्रामसभाका कार्यक्षेत्र ग्रामतक ही मर्यादित रहता है। ग्राम एक छोटासा क्षेत्र है। ग्राम, नगर, पत्तन, पुरी, क्षेत्र इनका विस्तार छोटा या बडा हो सकता है, तथापि वह मर्यादित ही होगा। अनेक ग्रामोंका कैसा शासन होगा यह विचार इस समय मनमें आता है। इस समय अनेक

ग्रामोंकी मिल कर समिति बनानेकी कल्पना विचारकोंके सामने आजाती है। इस विषयमें कहा है—

राष्ट्र समिति

सा उदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत्। अथर्व० ८।१०

३ समिति— "वह जनताकी शक्ति उत्क्रान्त हुई और वह शक्ति समितिमें परिणत हुई।" समितिका अर्थ प्रान्त या राष्ट्र समिति है। अनेक ग्रामसभाओंके निरीक्षणका कार्य करनेवाली शिरोमणी सभा समिति कहलाती है। इस तरह यह राष्ट्रशासन अथवा अनेक ग्रामोंका मिलकर शासन करनेवाली समिति नियत हुई। अनेक ग्रामोंकी इससे संघटना हुई और संघका बल इससे उत्पन्न हुआ। एक एक ग्राम जो बिखरा था, वह समितिके शासनके अन्दर आनेसे एक ही शासनसे सब ग्राम बद्ध हुए। ग्रामसभाओंके प्रतिनिधि आकर उनकी यह राष्ट्रशासक समिति बन गई। यहांतक सभा और समिति बनी। तो भी राजाकी कल्पना अब भी उत्पन्न नहीं हुई। इनके बीचमें इसके बाद एक मन्त्री मण्डल बना है देखिये—

मंत्री मण्डल

सा उदक्रामत् सा आमन्त्रणे न्यक्रामत्। अथर्व ८।१०

४ मन्त्रीमण्डल— "वह जनताकी शक्ति और अधिक उत्क्रान्त हुई, और वह आमन्त्रण अर्थात् मन्त्रीमण्डलमें परिणत हुई।" यहांतक राष्ट्रीय जीवनकी उन्नति हुई। पहिली विराज् अर्थात् राजविरहित केवल जनशक्ति ही थी। उससे ग्रामसभा बनी, पश्चात् राष्ट्रसमिति बनी और पश्चात् मन्त्रीमण्डल बना। मन्त्रणा करनेवाला मण्डल बना और इसका एक अध्यक्ष हुआ। यहां तक लोक प्रतिनिधि ही हैं। ग्रामसभा बनी, वह ग्रामवासियोंके द्वारा चुनी हुई ग्रामके पंचोंकी सभा है। पश्चात् राष्ट्रसमिति बनी, यह अनेक ग्रामसभाओंके प्रतिनिधियोंकी सभा है। अनेक ग्रामसभाओं द्वारा अथवा अनेक ग्रामोंकी जनता द्वारा चुने हुए सदस्योंकी सभा ही राष्ट्रसमिति कहलाती है। राष्ट्र समिति थोडेसे अपने प्रतिनिधि चुनती है वही आमंत्रण सभा अथवा मंत्री मण्डल कहा जाता है। इसका अध्यक्ष राष्ट्राध्यक्ष होता है। ये सब ही लोकोंके पसंद किये लोकप्रतिनिधि ही हैं। अध्यक्ष भी जनताका प्रतिनिधि है। अभीतक अनियंत्रित राजसत्ताका नाम भी नहीं है।

अधिकारका केन्द्रीकरण

यह जो (उदक्रामत्) उत्क्रमण हुआ वह यद्यपि जनताके प्रतिनिधियोंका ही हुआ है, तो भी उसमें जनताने अपने चुने हुए प्रतिनिधि ही हैं। तथापि इसमें अधिकारका केन्द्रीकरण हुआ है यह बात देखने योग्य है। जो अधिकार ग्रामकी जनताका था वह ग्रामसभाके थोडेसे लोगोंके हाथोंमें आगया। पश्चात् अनेक ग्रामोंकी जनताके हाथोंमें जो अधिकार था वह समितिके थोडेसे सदस्योंके हाथोंमें एकत्रित हुआ और इसके पश्चात् वही सब अधिकार मंत्री मण्डलके दस पांच सदस्योंके हाथोंमें आगया और पश्चात् यह सब अधिकार अध्यक्षके हाथोंमें केन्द्रित हुआ। जो अधिकार अथवा जो शक्ति जनतामें बिखरी थी, वही इस तरह प्रथम थोडे व्यक्तियोंके हाथोंमें आगयी और पश्चात् प्रधानमंत्री और अध्यक्षके हाथमें आगयी।

इस तरह यह उन्नति तो हो गई, राष्ट्रकी संघटना हो गयी, पर विकेन्द्रित अधिकारका केन्द्रीकरण हुआ और जो अधिकार अनेकोंके पास था वही एकके हाथमें आ गया। यहां राज्यपदका उदय हुआ है। पहिले जो राज्याध्यक्ष था, जब उसके हाथमें अधिकार केन्द्रित हुआ, तब वही अध्यक्ष अपने अधिकारको अधिक केन्द्रित करने लगा, और अपने अधिकारोंको अधिक बढाने लगा, प्रथम वह जनसेवा करता रहा और जनताका विश्वास संपादन करता रहा और जनता उसको अधिकार देती गयी और अन्तमें जो लोकमतानुवर्ती अध्यक्ष था, वही अनियन्त्रित राजा बन गया। केन्द्रीकरणका यही दुष्परिणाम है। इसमें राष्ट्रशक्ति बढती है, पर वह अनियंत्रित और केन्द्रित होती जाती है।

अनियंत्रित राजा

५ अध्यक्षका राजा - जो अध्यक्ष था वह जनसेवा करता गया, और वही वारंवार अध्यक्ष बनता गया और अन्तमें जनताने पुनः पुनः निर्वाचन करनेके कष्ट करना छोड दिया और उसी अध्यक्षको स्थायी राज्यपद दिया। इस समय वह राजा (रञ्जयति असौ) जो प्रजाओंका रञ्जन करता है, प्रजाहित करता है, प्रजाकी उन्नति ही अपना ध्येय मानता है। ऐसा यह वंशपरंपरासे मान्य किया जाता है। अध्यक्ष जो लोकरंजन करनेवाला वही आगे राजा बना

और उसीका अनियंत्रित राजा बना है। शक्तिके केन्द्रीभवनका यह परिणाम ही है। जो अध्यक्ष प्रजासेवक था, वही प्रजाका स्थायी ईश्वर बना और प्रजा उसकी सेवा करनेवाली बनी। ऐसा ही होता है। लोकप्रिय अध्यक्ष ही अधिकार प्राप्तिके कारण स्थायी शासक बन जाता है। यही तो अधिकार प्राप्तिसे गिरावट होती है।

रक्षकोंके राक्षस

रक्षकोंके ही राक्षस बनते हैं। प्रजा उत्पन्न होते ही प्रजापतिने उनसे पूछा कि तुम क्या कार्य करोगे? जिन्होंने कहा कि ' हम यज्ञ करेंगे ' (यजामः) वे याजक बने और जिन्होंने कहा कि ' हम रक्षण करेंगे (रक्षामः) ' वे रक्षक बने। इनका दूसरा नाम ' पूर्वदेवाः ' था। ये जनताका रक्षण करनेके कारण देववत् पूज्य थे। पहिले समयके ये देव ही थे। रक्षण करते करते ये गिरते गये और अन्तमें ये ही राक्षस बने!! रक्षण करना पवित्र काम है, यह जनसेवा है। इससे मनुष्यका उद्धार होता है। पर रक्षक होनेका अधिकार हाथमें आनेसे वे रातमें पहारा करनेवाले ही चोरी करने लगते हैं और वे ही रक्षक अन्तमें राक्षस बनते हैं। यह यक्ष और राक्षस बननेका वृत्तांत अनेक पुराणोंमें है और यह बताता है कि रक्षक सावध न रहे तो उनके गिरनेका भय है।

जो पहिले देव थे वे भी भयानक राक्षस बने इसका अर्थ ही यह है कि अधिकारका मद अधिकारियोंको गिराता है। इसलिये जिनके हाथमें अधिकार होता है, उनको अत्यंत सावध रहना चाहिये। इसी तरह जो राष्ट्रसमिति अथवा मन्त्रीमण्डलका अध्यक्ष होता है, जिसके हाथमें राष्ट्रशासनकी बागडोर आती है, उसको बडा सावध रहना चाहिये। अस्तु जनपदका जनताने चुना हुआ अध्यक्ष ही अपने हाथमें अधिकारोंको केन्द्रित करके गिरता गया और अन्तमें अनियन्त्रित सर्वाधिकारी बना!!!

इस कारण ' राजा ' की व्युत्पत्ति प्रारंभमें लोकरंजन करनेवाला (राजा प्रकृतिरंजनात्) ऐसी मिलती है। इस समय प्रकृति अर्थात् प्रजा उपास्य है, प्रजाको सन्तुष्ट रखना राजाका कार्य है, यह भाव इस समय है। परन्तु यह भाव लुप्त होकर पश्चात् राजाको ही प्रभुका पद दिया जाता है। इस समय ' राज्ञः इदं राज्यं ' ऐसी राज्यकी व्युत्पत्ति बनी! इस समय राज्य यह राजाकी संपत्ति बनी। राष्ट्र राजाका उपास्य था, वही उसकी उपभोग्य संपत्ति बनी। इसीका नाम ' रक्षक ' का ' राक्षस ' बनना है। अधिकार हाथमें आनेपर जो सावध नहीं रहेगा, वह अवश्य गिरेगा। इसीलिये वेदने राजाके राज्याभिषेकके समय सावधानीकी सूचना दी है—

राज्याभिषेकके समय उपदेश

आ त्वाहार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत् ॥१॥
इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलिः।
इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय ॥ २ ॥
ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवासः पर्वता इमे।
ध्रुवं विश्वमिदं जगत् ध्रुवो राजा विशामयम् ॥ ४ ॥
ऋ. १०।१७३

यहां जनताका नेता पुरोहित अभिषिक्त राजासे कहता है कि ' हे राजन्! मैंने तुमको इस स्थानपर लाकर रखा है। तुम यहां स्थिर रहो, चञ्चल न बनो। सब प्रजाजन तुम्हें इस स्थानपर रखनेकी इच्छा करें। तुमसे राष्ट्र भ्रष्ट न हो जावे, तुमसे राष्ट्र दूर न हो जावे। यहीं रहो, चञ्चल न बनो, पर्वतके समान स्थिर रहो। इन्द्रके समान यहां स्थिर रहो और राष्ट्रका उद्धार करो। जिस तरह द्यौ, पृथिवी, पर्वत और यह सब जगत् स्थिर है, वैसा ही यह राजा स्थिर रहे। '

इस रीतिसे राज्याभिषेकके समय जनताका नेता राजासे कहता है। इन मन्त्रोंमें कई वाक्य मनन करने योग्य हैं। " विशः त्वा सर्वाः वाञ्छन्तु। " सब प्रजाजन तुझे राज्यपर रखनेकी इच्छा करें। प्रजाकी इच्छासे ही यह राजा राज्यपर स्थिर रह सकता है। प्रजा जब विरोध करने लगेगी तब कोई राजा अपने पाशवी बलसे ही राज्यपर नहीं रह सकता। इसलिये पुरोहित इस मन्त्र द्वारा राजाको सूचना देता है, कि तुम ऐसा राज्य करो कि, जिससे सब प्रजाजन तुझे ही इस राज्यपर रखनेकी इच्छा करें। प्रजाका संतोष ही राजाकी स्थिरताका आधार है।

" मा त्वत् राष्ट्रं अधिभ्रशत्। "

तुम्हारे हाथसे राष्ट्र न गिरे। यहां "अधिभ्रशत्" पदमें दो भाव हैं। एक भाव यह है कि राष्ट्रका अधःपतन अर्थात् नैतिक गिरावट तुम्हारे शासनके कारण न हो। और दूसरा भाव यह है कि राष्ट्रपरका तुम्हारा अधिकार दूर न हो। दोनों भाव यहां विचार करने योग्य हैं। राष्ट्रका नैतिक अधःपतन हुआ, तो भी राष्ट्रकी हानि है और प्रजाका क्षोभ होकर राजाको अधिकारसे भ्रष्ट होना पडे, तो भी राजाकी हानि है। ये दोनों हानियां राज्याभिषेकके समय राजाको पुरोहित सुना रहा है। अधिकार प्राप्त होनेसे मनुष्यका पतन होनेकी संभावना है, और जितना अधिकार बढा इतना पतन भी अधिक गहरा होता है। ये मन्त्र सुनकर राजा क्या उत्तर देता है देखिये—

जनताका प्रिय राजा

येनेन्द्रो हविषा कृत्व्यभवद् द्युम्न्युत्तमः।
इदं तदक्रि देवा असपत्नः किलाभुवम् ॥ ४ ॥
असपत्नः सपत्नहाऽभिराष्ट्रो विषासहिः।
यथाहमेषां भूतानां विराजानि जनस्य च ॥ ५ ॥

ऋ. १०।१७४

"जिस उपायसे इन्द्र श्रेष्ठ तेजस्वी, उत्तम और कृतकृत्य हुआ उसी यज्ञसे मैं शत्रुरहित हुआ हूं। उससे मैं शत्रुरहित, दुष्टोंका विनाशक, शत्रुके आक्रमणोंका प्रतिकार करनेमें समर्थ, और राष्ट्रके हित करनेका ही विचार करने वाला हुआ हूं। मैं सब प्राणियोंका और सब जनताका प्रिय करता हूं।"

राष्ट्रहितकी प्रतिज्ञा

यह राजा कहता है। राष्ट्रहित करनेकी प्रतिज्ञा यहां राजा करता है। राजाने यज्ञ किया, इस यज्ञमें श्रेष्ठ पुरुषोंका सत्कार किया, राष्ट्रके सब लोगोंकी संघटना की और जो दीन थे उनकी दीनताको दूर करके उनको भी सामर्थ्यवान बनाया। राजाने यह यज्ञ किया जिससे वह शत्रुरहित हुआ, जो ऐसा यज्ञ करेगा वह भी शत्रुरहित हो जायगा।

६ राजा और राज्य— यहांतक हमने राजा और राज्य पदके दो अर्थ देखे। एक 'राजा' प्रजाका रंजन अथवा प्रिय करनेवाला और उसका शासन जहां चलता है वह 'राज्य' है। इस 'राजा' पदका दूसरा अर्थ यह है कि जो स्वयं चाहे वैसा अनियंत्रित शासन करे। (राज्ञः इदं राज्यं) ऐसे राजाकी अपनी भोग्य संपत्ति राज्य है। इस दूसरे अर्थकी निन्दा वेद करता है यह पाठक ऊपरके मंत्रोंमें स्पष्ट रीतिसे देख सकते हैं। वेदमें जनताका चुना हुआ, पसंद किया हुआ राजा है, और पिताका पुत्र आनुवंशिक अधिकारसे बैठनेवाला भी राजा है। पर यह आनुवंशिक पुत्र भी प्रजाकी संमतिसे ही राजगद्दीपर बैठता है। जैसा भगवान् रामचन्द्रजीका राजगद्दीपर बैठना तब हुआ कि जब प्रजाने संमति दी। वेन जैसा भी अनियंत्रित राजा होता था, पर उसको ऋषियोंने मारा, अर्थात् उच्छृंखल राजाका वध भी होता था, और दूसरा प्रजासंमत राजा गादीपर बिठलाया जाता था।

नये नियमोंका पालक राजा

पिता यत् स्वां दुहितरमधिष्कन्
क्ष्मया रेतः संजग्मानो नि षिञ्चत्।
स्वाध्योऽजनयन् ब्रह्म देवा
वास्तोष्पतिं व्रतपां निरतक्षन्।

ऋ. १०।६१।७

"जब प्रजापालक राजाने अपनी पुत्री जैसी पालने योग्य प्रजा परिषत्का अपमान किया, तब मातृभूमिके साथ (अर्थात् प्रजाजनोंके साथ) जो संघर्ष हुआ उसमें उस प्रजापतिका वीर्य नष्ट हुआ अर्थात् यह मारा गया। तब ज्ञानी लोगोंने, नया विधान बनाया और नियमोंका पालन करनेवाला प्रजापति राज्यपर बिठलाया।"

यहां स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि प्रजाके नेता एक दुष्ट राजाको हटाते हैं और नियमोंके पालन करनेवाले नये राजाको राजगद्दीपर बिठलाते हैं। यह प्रजाका अधिकार है। इस तरह यह वैदिक राज्य व्यवस्था स्पष्ट दीखती है। यह है राजा और यह है राज्यशासन। जहां मनुष्य होता है वहां भला और बुरा हुआ ही करता है। भलेका रक्षण और बुरेका विनाश करना चाहिये। यह देवासुर संग्राम सतत चलता ही रहेगा। अब आगेके राज्यशासन हम देखते हैं—

प्रजाके खानपानका प्रबंध

७ भोज्यं— यह एक प्रकारका राज्यशासन है। इसमें प्रजाको भोजन देनेका भार राजापर रहता है। प्रजाको काम

देना, काम करनेपर योग्य दाम और योग्य दामोंसे योग्य भोजन प्रजाको मिलना चाहिये। राज्यप्रबंधका यही ध्येय होना चाहिये। भोजनमें अन्न, वस्त्र और रहनेका स्थान इनका समावेश होता है। इसका भार राजापर जहां रहता है वह भोज्यशासन है। यह ऐसा प्राचीन भारतके अनेक शासनोंमें हम देखते हैं। यह सचमुच अच्छा राज्यशासन है।

राजाको यह दायित्व लेना चाहिये। राजाका यह आवश्यक कर्तव्य भी है। भोज्यशासन प्रायः बुरा नहीं होता। पुराणोंमें हम देखते हैं कि गणेशजीने अपने भूतानके राज्यमें सब तरहकी उत्तम राज्यशासन पद्धति प्रयोगमें लायी थी। सब प्रजाकी गणना उसने की, कामधंदोंके अनुसार वर्ग किये, प्रत्येकको काम मिले, काम करनेवालेको आवश्यक सब वस्तु मिलें, रोगीको औषध मिले, दीनकी दीनता दूर हो ऐसी उत्तम व्यवस्था श्री गणेशजीने की थी। इसी कारण उनकी अग्रपूजा होने लगी। वह योग्य थी। दूसरा हम रामराज्य सुनते हैं जहां सब प्रजाजनोंका हित करना ही राजाका ध्येय माना गया था।

साम्राज्य शासन

८ साम्राज्यं — साम्राज्यमें अनेक छोटे मोटे पृथक् पृथक् राज्य रहते हैं, वे सब परस्पर पृथक् रहनेपर भी और अनेक प्रकारके विधानोंसे पृथक् पृथक् पद्धतिसे चलाये जानेपर भी उनका एक सम्राट् होता है। यह साम्राज्य है। प्राचीन समयमें बडे बडे साम्राज्य हुए जो इतिहासमें प्रसिद्ध हैं।

९ महाराज्यं — साम्राज्यमें जो अनेक छोटे मोटे राज्य होते हैं, वे सब स्वेच्छासे या दबावसे एक विधानमें आ गये और उनका एक राज्य हुआ तो वह महाराज्य होता है। महाराज्यमें जो रहेंगे वे एक होकर रहेंगे, साम्राज्यमें पृथक् पृथक् शासन रह सकते हैं। यह साम्राज्य और महाराज्यमें भेद है।

अधिकारियोंद्वारा राज्यशासन

१० आधिपत्यमयं राज्यं — अधिकारियोंको अधिपति कहते हैं। अधिपतियों अर्थात् अधिकारियोंके मण्डलके आधीन जहां की शासन व्यवस्था रहती है वह 'आधिपत्यमय' राज्य कहलाता है। राज्यके बडे अधिकारियोंका मण्डल बनाया जाता है और जैसा वे चाहते हैं वैसा उस राष्ट्रका शासन चलाया जाता है। इसमें प्रजाकी संमतिके लिये कोई स्थान नहीं रहता।

नियम तोडनेवाले प्रजापतिको हटाना या उसका वध करना और नये नियमपालक अच्छे शासकको प्रजापतिके स्थानपर बिठलाना यह इस आधिपत्यमय राज्यशासनमें नहीं हो सकता। अधिकारी वर्ग जैसा चाहेंगे वैसा ही यहांका शासन होगा। यह शासन प्रजाका सुख नहीं बढा सकता।

सामन्तमण्डलका राज्य

११ सामन्तपर्यायी राज्यं — छोटे राजाओंको सामन्त अथवा मांडलिक कहते हैं। सामन्तमण्डलीके आधीन जहां की राज्यव्यवस्था रहती है वह सामन्तपर्यायी राज्यव्यवस्था है। सम्राट्के साथ छोटे माण्डलिक राजाओंका मण्डल रहता है और ये अपनी संमतिसे जैसा चाहिये वैसा राज्यशासन चलाते हैं। इस व्यवस्थामें भी प्रजाकी संमतिका कोई मूल्य नहीं रहता, इसलिये इस शासनसे प्रजाका सुख नहीं बढ सकता। पहिले दुष्ट सम्राट्को हटाना और दूसरे नये अच्छेको उसके स्थानमें नियुक्त करना यह इस शासनमें नहीं हो सकता। सामन्तोंकी संमतिके ऊपर सम्राट्की ही संमति यहां शिरोधार्य होती है। यह शासन प्रायः एक सम्राटके विचारसे ही चलता है, पर सामन्तोंकी भी संमति अंशतः रहती है। सम्राट्के प्रतिकूल कोई सामन्त कुछ बोल सकेगा ऐसा नहीं माना जा सकता। इसलिये इसमें नाममात्र सामन्त रहते हैं, सर्वाधिकार सम्राट्का ही यहां रहता है। यहां भी इस कारण प्रजाके हितकी संभावना कम ही दीखती है।

लोक राज्य

१२ जानराज्य — सब जनोंका हित करनेके लिये जिसमें सब प्रजाकी अनुकूल संमति प्राप्त करनेके साधन रहते हैं, प्रजाके प्रतिकूल कोई शासन निर्बंध जहां नहीं हो सकता, प्रजाके हितके लिये ही जहांका शासन चलाया जाता है वह यह जानराज्य है। वेदमें इसका ऐसा वर्णन आया है—

इमं देवा असपत्नं सुवध्वं महते क्षत्राय
महते जानराज्याय। वा० य० ९।४०;१०।१८

'इसको शत्रुरहित करो, यह बडा पराक्रम करे। यह बडे जानराज्यके लिये शासन करे।' बडा जानराज्य अर्थात् जनताका हित करना ही एकमात्र जहां ध्येय है ऐसे राज्य-शासनके लिये यत्न करना चाहिये। आज जिसको लोक-राज्य कहते हैं वही यह है। इस तरहके शासनमें प्रजाके हितका विरोध होना भी संभव नहीं है। सब ध्येय प्रजाका सच्चा और स्थायी हितका साधन करना ही है। प्रजाजनोंका हित करनेके लिये यहांके अधिकारी तत्पर रहते हैं। और प्रजा भी उत्तम नियमोंका पालन करनेमें तत्पर रहती है, इसलिये यह राज्यशासन प्रजाहित करता है।

स्वराज्य शासन

१३ स्वराज्यं (स्वाराज्यं)–स्वराज्यका वर्णन वेदके ही मंत्र द्वारा किया गया है वह मंत्र अब देखिये—

आ यद्वामीयचक्षसा मित्र वयं च सूरयः।
व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये। ऋ. ५।६६।६

"हे विशाल दृष्टिवालो, हे मित्र भावसे बर्तनेवालो और हम सब विद्वान् मिलकर विस्तृत तथा बहुतों द्वारा जिसका पालन किया जाता है ऐसे स्वराज्यमें सब लोगोंका हित साधन करनेके लिये यत्न करेंगे।"

इस मंत्रमें स्वराज्यका लक्षण किया है। यह स्वराज्य "बहु+पाय्य" है। बहुतोंकी संमतिसे इसका पालन किया जाता है। बडी राष्ट्रसमिति होती है जो सब प्रजा जनों द्वारा चुनी जाती है। इसमें विद्वान् ज्ञानी, विशाल दृष्टीवाले तथा मित्रके समान जनताका हित करनेवाले ही चुने जाते हैं। इस समितिके सदस्योंकी बहुसंमतिसे (बहु+पाय्ये) जो नियम निश्चित होते हैं, उससे यहांका शासन चलता है। इसलिये यह शासन सबसे श्रेष्ठ शासन है। ऐसा कहा है—

नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः।
यदजः प्रथमं संबभूव स ह तत् स्वराज्यं
इयाय, यस्मान्नान्यत्परमस्ति भूतम्॥
अथर्व १०।७।३१

"सूर्योदयके पूर्व और उषःकालके पूर्व ईश्वरका नाम लेकर जो ईश्वरकी भक्ति करते हैं, वे प्रथम संघटित होते हैं और उस स्वराज्यको प्राप्त करते हैं जिससे राज्यशासनोंमें कोई शासन अधिक अच्छा नहीं है।"

*

शासनोंमें सबसे श्रेष्ठ शासन स्वराज्य शासन ही है, जहां ईश्वर भक्त, विशाल दृष्टीवाले, मित्र भावसे व्यवहार करनेवाले ज्ञानी 'शासक संस्था' के सदस्य रहते हैं वहां दोष होनेकी संभावना ही नहीं रहती।

'स्व' पर बल रखो

स्वराज्य ही स्वाराज्य है। इसमें 'स्व' पर बल देनेसे 'स्व' का 'स्वा' बना है। स्व पर बल देनेका तात्पर्य यह है कि स्वराज्यमें प्रत्येक प्रजाजन 'स्व' कहलाता है। प्रत्येककी संमतिसे राष्ट्रसमिति चुनी जाती है। इसलिये प्रत्येककी संमति राष्ट्र शासनमें पहुंचती है। इस कारण 'स्व' का सुधार, 'स्व' का विकास अथवा 'स्व' की ज्ञानसे पूर्णता यहां होनी चाहिये। जितना प्रत्येक मतदार उच्च रहेगा, उतना श्रेष्ठ यह स्वराज्य होगा।

यहां शासनाधिकार अपने अथवा अपने पक्षके आधीन रखनेकी स्पर्धा नहीं है, प्रत्युत 'स्व' को अर्थात् प्रत्येक मतदाताको परिशुद्ध और परिपूर्ण करनेकी पराकाष्ठा है। इसको दर्शानेके लिये यहां स्व पर बल देकर 'स्वा-राज्य' ऐसा पद वेदने बनाया है।

इतने राज्यशासन वेदोंमें विविधमंत्रोंमें दीखते हैं। ऐतरेय आदि ब्राह्मणोंमें इन सबका एक स्थानपर उल्लेख किया है।

सब पृथिवीका एक शासक

साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं
पारमेष्ठ्यं राज्यं महाराज्यमाधिपत्यमयं
समन्तपर्यायी स्यात् सार्वभौमः
सार्वायुषः आन्तादापरार्धात्। पृथिव्यै
समुद्रपर्यन्ताया एकराट् इति। ऐ. ब्रा.

इस वचनमें बहुतसे राज्योंका उल्लेख है। अन्तमें (समुद्रपर्यन्तायाः पृथिव्या एकराट्) समुद्र पर्यंतकी पृथिवीका एक आर्य राजा हो और उस सब पृथ्वी भरमें एक ही वैदिक राज्यशासनका विधान हो यह इच्छा प्रकट की है। यह एक बडी महत्त्वकी बात है। समुद्रपर्यंत जितनी भी पृथिवी है, उस संपूर्ण पृथ्वीपर एक आर्य राजाका राज्य हो और सब पृथ्वीपर एक ही वेदानुमोदित आर्य विधानका शासन हो। इस तरहकी घोषणा करने

योग्य राष्ट्रीय शक्ति ऋषियोंके आधीन उस समय होचुकी थी। इतना राजकीय सामर्थ्य ऋषियोंके हाथमें उस समय था। इस घोषणासे स्पष्ट हो जाता है कि ऋषि लोग राज्य शासनमें अपना मन लगाते थे और प्रजाका हित करना यही एक मात्र उनका ध्येय था। इतने वैदिक मंत्रोंमें कितने विविध प्रकारके शासनोंका उल्लेख आया है। जहां जो शासन योग्य था वह वहां उन्होंने शुरू किया था। उनका अन्तिम ध्येय विश्वभरमें एक आर्य राज्यशासन हो यह था और यदि यह सफल हो जाता, तो निःसंदेह जगत्का कल्याण हो जाता। पर विश्वभरके एक राज्यशासनकी घोषणा तो उन्होंने की, पर वह बना नहीं। वह उनकी घोषणा अधूरी रही। वह अब हमें यत्न करके सिद्ध करनी चाहिये।

यह जो अन्तिम " बहुपाय्य स्वराज्य " नामक राज्यशासन कहा, इसकी कुछ विशेषताएं हैं, उनका थोडासा विचार अब हम करेंगे।

स विशोऽनुव्यचलत्। तं सभा च समितिश्च
सेना च सुरा चानुव्यचलन्॥ अथर्व. १५।९

" जो राजा प्रजाके अनुकूल रहकर अपना राज्य शासन चलाता है, उस राजाको सभा, समिति, सेना और धनकोश अनुकूल रहते हैं। " किसी भी राजाका सामर्थ्य सभा, समिति, सेना और धनकोशकी अनुकूलता रहनेसे ही होता है। यदि राजाको इनकी अनुकूलता न प्राप्त हुई, तो वह राजा प्रजाको नहीं सता सकता। वैदिक समयमें ग्रामसभा और राष्ट्र समिति स्वतंत्र रीतिसे अपना कार्य करती थी। और मंत्री मण्डलके अधीन धनकोश और सेना रहती थी। इसलिये राजा बलवान बनकर किसीको सताने लगे यह होना असंभव ही था। और राजाको सुशिक्षासे सुशिक्षित भी किया जाता था इसलिये वह मर्यादासे बाहर नहीं जाता था।

यहांका ' सुरा ' शब्द मद्यवाचक नहीं है। सुर ऐश्वर्य अर्थवाले सुरसे सुरा पद बना है। इस कारण इसका यहां अर्थ धन ऐश्वर्य संपत्ति राष्ट्रीयकोश ऐसा है। इनकी अनुकूलता उस राजाको मिलती है कि जो प्रजाके अनुकूल राज्य शासन चलाता है। वैदिक राज्य व्यवस्थामें सभा समितिका स्वातंत्र्य और सेना तथा धनकोशका प्रजाके आधीन होना ये मुख्य बातें हैं। इससे स्पष्ट पता चलता है कि, उस शासनको चलानेवाली जनता भी अच्छी प्रबुद्ध थी। ये अधिकार विधानने दिये, तो भी उनको योग्यरीतिसे वर्तना, तो चाहिये। अन्यथा केवल विधानके नियम ही किसीको सुख नहीं दे सकते।

राष्ट्रकी सेना, राष्ट्रीय सेनाके शास्त्रास्त्र तीक्ष्ण करनेका कार्य वैदिक समयमें पुरोहितका है। अर्थात् पुरोहित सेनाका निरीक्षण करता है, शास्त्रास्त्र ठीक करके रखता है। युद्धकी तैयारी करता है। राजा और क्षत्रिय इसके पश्चात् युद्ध करते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि जनताके नेता पुरोहितके आधीन सेना और शास्त्रास्त्र थे। इसलिये राज्याभिषेकके समय पुरोहित कहता है—

प्रजाके द्वारा राजाका स्वीकार

त्वां विशो वृणतां राज्याय
त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः॥
सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तु
उपसद्यो नमस्यो भवेह॥ अथर्व ३।४।२,१

" हे राजन्! सब प्रजा अपने राज्यशासन करनेके कार्यके लिये तुम्हारा स्वीकार करे। पांचों प्रकारके प्रजाजन अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद ये पांचों लोग तुमको ही चाहें। सब प्रजा तुमको ही बुलावे और तुम सबके आदरका भाजन बनो। "

यह पुरोहितका अधिकार था। पुरोहित यहां सब जनताने अपना नेता बनाकर (पुरः) आगे (हितः) रखा होता है। वह जनताका नेता होकर यह भाषण करता है। इससे राजाका प्रजासंमतिसे राजगद्दीपर आना और प्रजासंमतिसे ही राजगद्दीपर रहना सिद्ध होता है। वैदिक समयमें प्रजामें इतना बल था, क्योंकि ऋषि लोग प्रजाके निःस्वार्थी तथा सच्चे हितैषी पुरोगामी नेता थे। वे कहते थे कि—

राष्ट्रमें जाग्रत रहो

वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः।
वा. यजु. ९।२३ श. ब्रा. ५।२।२।५

" अपने राष्ट्रमें आगे बढनेवाले नेता होकर हम जागते रहेंगे। " जनताके नेता ऋषि होंगे तो वे कभी अन्याय करेंगे नहीं, वे सन्मार्गसे ही जनताको ले जायंगे और उनको अन्तमें सुखी करेंगे। प्रजा और राजाके सच्चे हितका जो मार्ग होगा वही उनके सामने होगा। उनको पता था कि—

प्रजामें राजाका आश्रय

विशि राजा प्रतिष्ठितः। यजु. २०।९

' प्रजाके आधारसे राजा रहता है। ' यह उस समयके सब विद्वान लोग जानते थे। प्रजा भी अपना सामर्थ्य जानती थी, उस प्रजाके नेता ऋषि भी वेदके राष्ट्र शासन विषयक ज्ञानको जानते थे, राजा भी प्रजा ही मेरा अन्तिम आधार है यह जानता था। इसलिये कोई भी अपनी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करता था। अतः सब सुखी थे। राजा मानता था कि—

विशो मे अंगानि सर्वतः। यजु. २०।९

' प्रजाजन ही मेरे शरीरके अवयव हैं। ' प्रजाजन मिलकर ही राजा होता है। प्रजा और राजाकी एकरूपता इस तरह जहां होगी वहां दोनोंका कल्याण होनेमें संदेह ही नहीं है। इस समय लोग आशीर्वाद देते थे वह भी राष्ट्रीय आशीर्वाद था देखिये—

राष्ट्रके साथ बढो

अभिवर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम्।
रय्या सहस्रवर्चसा इमौ स्तामनुपक्षितौ॥
अथर्व० ६।७८।२

यह आशीर्वाद वधुवरोंके लिये है। इसमें क्या कहा है देखिये— " हे वधुवरो! तुम दोनों दूध पीकर हृष्ट हो जाओ। तुम दोनों राष्ट्रकी उन्नतिके साथ अपनी उन्नति कर लो। हजारों प्रकारके ऐश्वर्योंसे तुम दोनों युक्त हो जाओ। "

यह है आशीर्वाद। वधुवर ये दोनों विवाहके समय विवाह बद्ध होकर गृहाश्रममें प्रविष्ट हो रहे हैं। स्वार्थवश होकर ये अपने सुखको बढानेके लिये अपने राष्ट्रका घात न करें। इसलिये इस आशीर्वादमें कहा है कि- " राष्ट्रेण अभिवर्धतां " हे वधुवरो! तुम दोनों अपने राष्ट्रके हितके साथ अपने हितकी साधना करो। कितनी सावधानता वेद यहां बता रहा है। इस तरह शिक्षित और दीक्षित होकर जो गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होंगे उनसे अपने राष्ट्रका कभी अहित नहीं होगा। और भी एक मंत्र यहां राष्ट्रसेवाका उपदेश करनेवाला देखने योग्य है-

ऊर्जे त्वा बलाय त्वौजसे सहसे त्वा।
अभिभूयाय त्वा राष्ट्रभृत्याय पर्यूहामि
शतशारदाय॥ अथर्व० १९।३७।३

" अन्न, बल, सामर्थ्य, शत्रुका नाश करनेकी शक्तिके लिये और राष्ट्रसेवा करनेके लिये तथा दीर्घ आयु प्राप्त करनेके लिये मैं इस पदार्थका धारण करता हूं। " किसी पदार्थका धारण करनेके समय " राष्ट्रकी सेवा करनेके लिये मैं इसको धारण करता हूं। " ऐसा कहना राष्ट्रसेवाके लिये तैयार रहनेकी सूचना देता है।

वैदिक सूक्तोंमें राष्ट्रशासनके कितने उच्च भाव हैं इसका पता इस लेखसे लगेगा। इसी कार्यके लिये यह लेख है। अब राष्ट्र संरक्षणका विचार करते हैं क्योंकि विना संरक्षणके राष्ट्र रह ही नहीं सकता।

राष्ट्रका संरक्षण करनेके लिये कीले

राज्य शासनका विचार करनेके समय राष्ट्रके संरक्षणका विचार अवश्य करना चाहिये। इससे पूर्व " व्रहु पाय्य स्वराज्य " के मंत्रमें बताया ही है कि, राष्ट्रशासनके विधान राष्ट्रसमिति बनावे कि जो समिति (ईयचक्षाः) विशाल दृष्टीवाले, (मित्रः) मित्रवत् व्यवहार करनेवाले और (सूरयः) ज्ञानी विद्वानोंकी बनी हो। ऐसे लोगोंकी बहुमतिसे जो विधान तैयार होगा वह निर्दोष होगा, इसमें संदेह नहीं है। इसी विद्वत्समितिसे राष्ट्रका शासन होगा। अब राष्ट्रके संरक्षणका विचार करना है। इस विषयमें निम्न लिखित मंत्र देखने योग्य है-

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूः अयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥
अथर्व १०।२।३१

' देवोंकी अयोध्या नगरी नौ द्वारोंवाली और आठ चक्रोंवाली है। इसमें सोनेका धनकोश है वह ज्योतिसे घिरा हुआ स्वर्ग ही है। ' इस मंत्रमें सुरक्षित नगरीका वर्णन है। इस नगरीके बाहर चारों ओर दुर्ग (कीला)

हो। बाहरसे अन्दर आने और अन्दरसे बाहर जानेके लिये इस दुर्गकी दीवारमें नौ द्वार हों। इस दुर्गकी दीवारपर आठ चक्र अर्थात् उल्हाट यंत्र लगे हों, जिनसे शत्रु आनेपर उस शत्रुपर इन अस्त्रोंका हमला हो सके और शत्रुका पराभव हो सके। इस तरह नगरी सुरक्षित हो।

नगरी ' अ-योध्या ' हो, अर्थात् शत्रु आकर युद्ध भी करे, पर यह नगरी उसके प्रयत्नसे पराभूत न हो, ऐसी जो अभेद्य नगरी होगी, वही ' अ-योध्या ' नगरी कहलायेगी। शत्रु द्वारा अभेद्य नगरी हो। दुर्गकी दीवार पर शत्रुका पराभव करनेके सब सामान तैयार रहें। कीलेकी दीवारके अन्दरके द्वार मजबूत हों। शत्रु उनको तोड न सके, ऐसे वे द्वार सबके सब दुर्भेद्य हों। द्वार नौ हों या कम ज्यादा हों, यह तो उस नगरीके विस्तारपर अवलंबित रहेगा।

सात दीवारें हों

सप्तास्यासन् परिधयः। ऋ. १०।९०।१५

इस दुर्गकी सात परिधियां हों, अर्थात् एकके अन्दर दूसरी ऐसी सात दीवारें दुर्गकी हों। बाहरकी दीवार कदाचित् टूट जानेपर भी अन्दरकी दीवार अच्छी दुर्भेद्य हो। ऐसी एकके अन्दर दूसरी इस तरह सात दीवारें हों। इन सबके अन्दर मुख्य राजा, धनकोश, ज्ञानका केन्द्र, जो भी, सुरक्षित रखने योग्य है, वह सब इन सात दीवारोंके अन्दर सुरक्षित हो। इस तरह शत्रुके लिये अभेद्य नगरी हो। इसमें नागरिक रहें। बाहरकी कक्षामें लडाई करनेवाले रहें, अन्दरकी कक्षामें विद्वान तथा जो उत्तमसे उत्तम ज्ञानी हों वे वहां रहें।

पूर्वोक्त मंत्र वस्तुतः अध्यात्मका वर्णन करते हैं और साथ साथ नगरीको सुरक्षित रखनेका भी उपदेश देते हैं। यही रीति वेदमें है, जिससे वेदमें इस विषयका ज्ञान दिया है। पञ्च कोश और सप्त शरीरका जो वर्णन अध्यात्ममें है, वही राष्ट्ररक्षाका विचार करनेके समय संरक्षणकी विधि बताता है। कोश वा शरीर एक दूसरेके अन्दर जैसे रहते हैं, इस तरह नगरीके कीलेकी दीवारें हों। यह नगरीकी बाहरकी दीवार दो चार सौ मील लंबी भी हो सकती है। इससे भी बडी होगी। और उत्तम सदाचारी और उत्तम ज्ञानी जो होंगे वे मध्य भागमें रहेंगे। इस स्थानका नाम ' स्वर्ग ' है। यही ' सुवर्ग लोक ' है, उत्तम वर्गमें जिनकी गणना होना संभव है, वे ही इस केन्द्रमें रहेंगे और बाहरके स्थानमें वे लोग रहेंगे, जो लडाके होंगे और जो सुवर्गमें नहीं रह सकते। इस तरह नगरकी रचना करनी चाहिये। गुण्ड लोग अन्दरके मध्य केन्द्रमें आ भी न सकें, ऐसा प्रबंध होना चाहिये।

सुवर्गके लोगोंका स्थान

इस नगरीके संबंधका वर्णन करनेका प्रसंग आजाय तो वह ऐसा बनेगा—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो। नानाहिताग्निः नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥
छांदोग्य ५।११।५

' मेरे राज्यमें चोर, कंजूस, मद्यपि, अयाजक, अज्ञानी, स्वैराचारी नहीं है फिर स्वैरिणी कहांसे मिलेगी। '

सुवर्ग लोकमें ऐसी ही जनसंख्या रहेगी। वास्तवमें सभी राष्ट्रमें ऐसे लोक होने चाहिये पर वैसा हो या न हो, पर नगरके मुख्य केन्द्र विभागमें तो ऐसी वस्ती रखनेका प्रबंध राज्यशासन व्यवस्थासे किया जा सकता है। और बाहरके विभागोंमें उसकी अपेक्षासे कम योग्यतावाले रह सकते हैं। जब वे बाहरके लोग अपना सुधार करेंगे, तब वे भी उस सुवर्ग लोकमें जाकर रहनेका अधिकार प्राप्त कर सकेंगे।

इस तरह आत्मसंयम और आत्मसुधार करनेसे सुवर्ग लोकमें वे सुसंस्कृत हुए लोग जाकर रह सकते हैं। सत्कर्मसे स्वर्ग प्राप्त होनेका भाव यह है अस्तु संरक्षणका प्रश्न इस तरह महत्त्वका है और सुवर्ग और दुर्वगकी बस्तियोंका भी प्रश्न इस संरक्षणके प्रश्नके साथ ही घनिष्ठ संबंध रखता है। यदि सर्वत्र गुण्डोंका प्रवेश होता रहेगा, तो कोई स्थान सुरक्षित नहीं हो सकेगा। इसलिये सदाचार संपन्नोंको सुवर्ग लोकमें चढाना और दुराचारियोंका दुर्वर्ग लोकमें—नरकलोकमें—गिराना योग्य है। ' नर-क ' का अर्थ मनुष्योंने अपने कर्मसे बनाया स्थान। ' सुवर्ग ' वह है जो अच्छे कर्म करनेवाले सज्जनोंका निवास स्थान है। इस तरह नागरिकोंकी सुरक्षाके लिये ऐसा कर्माचरणानुसार वर्गवारीसे रहनेका प्रबंध करना योग्य है।

इसके साथ अब प्रजाजनोंकी सुरक्षाका अधिक विचार करना चाहिये वह यह है—

अमितैः महोभिः शतं आयसीभिः पूर्भिः पाहि। ऋ. ७।३।७

'अपरिमित सामर्थ्योंसे युक्त सैंकडों कीलोंसे राष्ट्रका संरक्षण करो।' अर्थात् राष्ट्रमें ऐसी सेकडों नगरियां हों कि जिनके चारों ओर ऐसे कीले हों। प्रत्येक नगर कीलोंवाला ही हो ऐसी बात नहीं है। पर बीच बीचमें कीलोंवाले सुरक्षित नगर अवश्य होने चाहिये। एक ऐसा नगर आजू बाजूके अनेक नगरोंका संरक्षण कर सकता है।

कीलेका शूर अधिपति

कीलेका संरक्षण करनेवाला अधिपति उत्तमसे उत्तम वीर हो—

अद्रेः धासिं भानुं कविं शं राज्यं पुरंदरस्य
महानि व्रतानि गोभिः आविवासे। ऋ. ७।६।२

'(अद्रेः धासिं) कीलेका संरक्षण करनेवाला वीर तेजस्वी हो (कविं) ज्ञानी हो, समझदार हो, (शं राज्यं) अपने प्रजाजनोंको सुख देनेके उद्देश्यसे राज्यशासन करनेवाला हो, (पुरंदरः) शत्रुके कीलोंको तोडनेवाला हो, परंतु अपने कीलेका उत्तम रक्षण करनेवाला हो, ऐसे वीरके बडे बडे कृत्योंका मैं वर्णन करता हूं।' इस मंत्रमें कहा है कि कीलेका रक्षक अधिकारी कैसा हो। ज्ञानी, तेजस्वी, राज्यमें शान्ति रखनेवाला शूरवीर हो। अनेक वीरोंमेंसे चुनकर जो उत्तमसे उत्तम हो उसीको दुर्गरक्षक बनाना चाहिये।

'आयसीः पूः' लोहनगरी पूर्वस्थानमें कही है। यहां लोहनगरी लोहेसे बनायी नगरी ऐसा ही अर्थ इसका नहीं है। 'आयसीः पूः' का अर्थ उत्तम पत्थरोंसे बनी दीवार ऐसा इसका अर्थ है। इसके बीचमें लोहा लगा हो, परंतु पत्थरोंकी दीवारोंका नाम भी 'आयसी' होता है।

वधस्नैः देहाः अनमयत्। ऋ. ७।६।५

'वधकारक शस्त्रोंसे गुण्डोंको नम्र करता है,' गुण्डेका गुण्डापन दूर करता है। गुण्डोंका सुधार करनेका यह साधन है। कीलेका अधिकारी यह कार्य करे।

अनाधृष्टः नृपीतये शतभुजिः मही आयसीः पूः। ऋ. ७।१५।१४

'शत्रुद्वारा अपराजित और प्रजाजनोंका संरक्षण करनेके लिये सैंकडों वीर जहां रहते हैं; ऐसी बडी लोहेकी नगरी हो।' यहां भी कीलेका ही वर्णन है। ऐसी कीलेवाली नगरीका उद्देश्य (नृ-पीतिः) प्रजाका संरक्षण होना यह मुख्यतया है। वहां जो वीर हों वे (अनाधृष्टः) शत्रुद्वारा अपराजित हों। सदा विजयी हों।

समन्यवः सेनाः समरन्त। ऋ. ७।२५।१

'उत्साही सेनाएं अच्छी तरह युद्ध करती है।' इसलिये अपनी सेनाका उत्साह बढाना चाहिये और उनको बडे पराक्रम करनेके लिये उत्साहित करना चाहिये।

सेनामें शूरोंकी भरती हो

विश्वेषु जनेषु शूरः सैन्यः। ऋ.। ७।३०।२

'सब लोगोंमें जो शूर हैं वही सेनामें भरती करनेके लिये योग्य हैं।' यह सूचना महत्त्वकी है। जनतामें जो शूर होते हैं उनको ही सेनामें भरती करनेसे सब सेना शूरों की होगी, जो उत्तम युद्ध कर सकेगी।

महासेनासः अमेभिः शत्रुं तपन्ति। ऋ. ७।३४।१९

'बडी सेनावाले वीर अपने सामर्थ्योंसे शत्रुको ताप देते हैं।' राष्ट्रसंरक्षणके लिये ऐसी सेनाएं खडी रहनी चाहिये, तब राष्ट्रका संरक्षण होगा।

गणः तुविष्मान्। ऋ. ७।५६।७

"संघ बलवान होता है।' इसलिये अपने संघ या गण बनाकर गणोंके द्वारा शत्रुपर आक्रमण करना चाहिये। वैयक्तिक आक्रमणसे गणशः आक्रमण अधिक परिणामकारक होता है।

जनानां विधर्ता वीरः शुष्मी अस्तु। ऋ. ७।५६।२४

'प्रजाजनोंका धारण करनेके लिये जो वीर नियुक्त किया जाय, वह बलवान हो।' वह निर्बल नहीं होना चाहिये। निर्बल पुरुष संरक्षणका कार्य ठीक तरह नहीं कर सकता।

राजाका पुरोहित

राजाका पुरोहित राष्ट्र संरक्षणके कार्यमें कितना महान् कार्य करता है, यह यहां देखना आवश्यक है। आजके पुरोहित श्राद्ध और तर्पण ही करते हैं, पर प्राचीन समयके पुरोहित राष्ट्रके संरक्षणका महान कार्य करते थे। इस विषयमें ये मन्त्र देखिये—

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं बलम्।
संशितं क्षत्रं अजरं अस्तु जिष्णुः येषां अस्मि
पुरोहितः ॥ १ ॥
सं अहं एषां राष्ट्रं स्यामि सं ओजो वीर्यं बलम्।
वृश्चामि शत्रूणां बाहून् अनेन हविषा अहम् ॥ २ ॥
नीचैः पद्यन्तां अधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं
पृतन्यान्।
क्षिणामि ब्रह्मणा अमित्रान्, उन्नयामि स्वान्
अहम् ॥ ३ ॥
तीक्ष्णीयांसः परशोः अग्नेः तीक्ष्णतरा उत।
इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसो येषां अस्मि
पुरोहितः ॥ ४ ॥
एषां अहं आयुधा संस्यामि एषां राष्ट्रं सुवीरं
वर्धयामि।
एषां क्षत्रं अजरं अस्तु जिष्णु एषां चित्तं
विश्वेऽवन्तु देवाः ॥ ५ ॥
उद्धर्षन्तां मघवन् वाजिनानि उद् वीराणां
जयतां एतु घोषः।
पृथग् घोषा उलुलयः केतुमन्त उदीरताम्।
देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया ॥ ६ ॥
प्रेता जयता नर उग्रा वः सन्तु बाहवः।
तीक्ष्णेषवोऽबलधन्वनो हतोग्रायुधा अबलान्
उग्रबाहवः ॥ ७ ॥
अवसृष्टा परापत शरव्ये ब्रह्मसंशिते।
जय अमित्रान् प्र पद्यस्व जहि एषां वरं वरं।
मा अमीषां मोचि कश्चन ॥ ८ ॥ अथर्व० ३।१९

(मे इदं ब्रह्म संशितं) मेरे राष्ट्रका यह ज्ञान अत्यंत तेजस्वी है। मेरे राष्ट्रका यह (वीर्यं बलं संशितं) वीर्य और बल भी तेजस्वी है। (संशितं क्षत्रं अजरं अस्तु) मेरे राष्ट्रका तेजस्वी क्षात्र सामर्थ्य कभी कम न हो, कभी क्षीण न हो। (येषां जिष्णुः पुरोहितः अस्मि) जिनका मैं पुरोहित हूं, उनका बल बढना ही चाहिये ॥ १ ॥ (अहं एषां (राष्ट्रं संश्यामि) मैं इनके राष्ट्रको तेजस्वी करता हूं, इनका (ओजः वीर्यं बलं संस्यामि) बल, सामर्थ्य और सैन्य मैं तेजस्वी बनाता हूं। (अनेन हविषा शत्रूणां बाहून् वृश्चामि) इस हवनसे मैं शत्रुके सैन्यके बाहुओंको काटता हूं ॥ २ ॥ वे सब शत्रु (नीचैः पद्यन्तां) नीचे गिर जांय, वे (अधरे भवन्तु) अवनत हो जांय, (ये नः मघवानं सूरिं पृतन्यात्) जो हमारे धनी और ज्ञानियोंपर सैन्य भेजते हैं, और अपने सैन्यसे हमारे ज्ञानी और धनी लोगोंको कष्ट देते हैं, (अमित्रान् अहं ब्रह्मणा क्षिणामि) उन शत्रुओंको मैं क्षीण करता हूं, निर्बल करता हूं और (स्वान् उन्नयामि) स्वकीयोंकी मैं उन्नति करता हूं ॥ ३ ॥ मैं जिनका पुरोहित हूं उनके शस्त्र तथा अस्त्र (परशोः तीक्ष्णीयांसः) परशुसे भी तीक्ष्ण हों, तथा (अग्नेः तीक्ष्णतराः) अग्निसे भी अधिक तीखे हो, (इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसः) इन्द्रके वज्रसे भी अधिक तीक्ष्ण हों। अर्थात् जिनका मैं पुरोहित हुआ हूं उस राष्ट्रके शस्त्र शत्रुके शस्त्रोंसे अधिक मारक हों ऐसा यत्न मैं करूंगा ॥ ४ ॥ (एषां आयुधा संस्यामि) इन वीरोंके आयुध, शस्त्र, अस्त्र मैं तीक्ष्ण करता हूं। (एषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि) इनके राष्ट्रको मैं उत्तम वीरोंका राष्ट्र बनाकर बढाता हूं। राष्ट्रको प्रथम वीरोंका राष्ट्र बनाऊंगा और उस राष्ट्रकी सब प्रकारकी उन्नति करूंगा। (एषां क्षत्रं अजरं जिष्णु अस्तु) इनका क्षात्र बल कभी क्षीण होनेवाला न हो, तथा वह विजयी भी हो। कभी उसका पराभव न हो ऐसा मैं यत्न करता हूं। (विश्वे देवाः एषां चित्तं अवन्तु) सब देव इनके चित्तका रक्षण करें ॥ ५ ॥

हे (मघवन्) धनवान् राजन्! (वाजिनानि उद्धर्षन्तां) सैन्योंका उत्साह बढाओ, (जयतां वीराणां घोषः उदेतु) शत्रुका पराभव और अपना विजय करनेवाले सैनिकोंका घोष-विजयकी घोषणाका शब्द-ऊपर उठे, यह घोषणा प्रभावी सिद्ध हो। (केतुमन्तः उलुलयः घोषाः पृथक् उदीरतां) झंडे हाथमें लेकर शत्रुपर हमला करनेवाले हमारे वीर सैनिकोंके शब्द पृथक् पृथक् आकाशमें गूंजते रहें। (इन्द्रज्येष्ठा मरुतः देवाः सेनया यन्तु) इन्द्रकी अध्यक्षतामें मरनेके लिये तैयार हुए वीर हमारी सेनाके साथ आगे बढें। इस तरह हमारी सेनाके लिये बडा सहाय्य प्राप्त होता रहे ॥ ६ ॥

हे (नरः) वीरो! (प्र इत) आगे बढो, (जयत) जय प्राप्त करो, (वः बाहवः उग्राः सन्तु) आपके बाहु बडी वीरता दिखानेवाले हों। हे (तीक्ष्ण-इषवः) तीखे बाणोंको

बर्तनेवाले वीरो ! हे (उग्रायुधाः) तीक्ष्ण आयुधोंवाले सैनिको, हे (उग्र-बाहवः) वीरतासे जिनके बाहु स्फुरणको प्राप्त हो रहे हैं ऐसे वीरो ! (अ-बल-धन्वनः अबलान् हत) निर्बल धनुष्यवाले शत्रुके निर्बल सैनिकोंकी कत्तल करो ॥ ७ ॥

हे (ब्रह्म-संशिते शरव्ये) ज्ञानके द्वारा तेजस्वी बने हमारे शस्त्रो ! (अवसृष्टा परापत) भेजे जानेपर दूर शत्रुपर जाकर गिरो, (अमित्रान् जय) शत्रुओंका पराभव करो, (प्र पद्यस्व) आगे बढकर शत्रुपर हमला करो, (एषां वरं वरं जहि) इनमेंसे श्रेष्ठ श्रेष्ठ वीरोंका वध करो, (अमीषां कश्चन मा मोचि) इन शत्रु सैनिकोंमेंसे किसीको न छोडो अर्थात् सब शत्रुओंका वध करो ।

यह पुरोहितका कार्य है । ऐसे पुरोहित जिस राष्ट्रमें होंगे, उस राष्ट्रका विजय होगा, इसमें संदेह ही नहीं है । यहां पुरोहित राष्ट्रीय सैन्यकी देखभाल करता है, सैनिकोंके शस्त्र अस्त्र शत्रुकी अपेक्षा अच्छे हैं या नहीं इसकी व्यवस्था करता है, शत्रु कौन है, उसकी तैयारी कैसी है, इसका ज्ञान प्राप्त करता है और शत्रुसे अधिक अपनी तैयारी करता है । सैनिकोंका संचालन करता है, सैनिकोंमें उत्तमोत्तम वीरोंकी भरती करता है, सैनिकोंका उत्साह बढाता है और अपने राष्ट्रका विजय संपन्न करता है । ब्राह्मणोंके अनेक कार्योंमें यह भी एक राष्ट्रीय कार्य है । आजके भारतके ब्राह्मण इस कार्यको भूले हैं ।

ईश्वरभक्तिसे बलप्राप्ति

युनज्मि त उत्तरावन्तं इन्द्रं येन जयन्ति न पराजयन्ते । यः त्वा करद् एकवृषं जनानां उत राज्ञां उत्तमं मानवानाम् ॥ अथर्व० ४।२२।५

(येन जयन्ति) जिससे विजय प्राप्त करते हैं और (न पराजयन्ते) कभी भी पराजय नहीं होता है । तथा (यः त्वा जनानां एकवृषं) जो तुझको मनुष्योंमें अद्वितीय बलवान करता है और (मानवानां राज्ञां उत्तमं करत्) मानवोंमें और राजाओंमें उत्तम करता है उस (उत्तरावन्तं इन्द्रं ते युनज्मि) श्रेष्ठ गुणवाले प्रभुके साथ मैं तेरा संबंध जोडता हूं । तू परमेश्वरकी भक्ति कर और श्रेष्ठ बल प्राप्त करके उत्तम बलवान् बन ।

अपना बल बढे और अपना बल कभी न घटे ऐसा प्रयत्न होना चाहिये । अपना सदा जय ही हो और कभी अपना पराजय न हो । ऐसा होनेके लिये प्रभुकी भक्ति करनी चाहिये । ईश्वरभक्तिसे जो सामर्थ्य प्राप्त होता है, उससे मनुष्य सामर्थ्यवान् होता है । और विजयी होता है । इसी तरह ईश्वरभक्तिसे मनुष्य बुरे कर्म करनेसे बचता है । इसलिये वह सब मानवोंमें श्रेष्ठ और सब राजाओंमें उत्तम होता है । जो ईश्वरको नहीं मानते उनको यह बल प्राप्त नहीं होता ।

उत्तरस्त्वं अधरे ते सपत्ना ये के च राजन् प्रतिशत्रवः ते । एकवृष इन्द्रसखा जिगीवाँ शत्रूयतां आभरा भोजनानि ॥ अथर्व० ४।२२।६

हे राजन् ! (त्वं उत्तरः) तू अधिक उच्च हो, (ते सपत्नाः अधरे) तेरे सब शत्रु नीचे हों, (ये के च ते प्रतिशत्रवः) जो कोई तेरे शत्रु हैं वे भी नीचे हों । तू ही उनके ऊपर विराज । तू ही (एक-वृषः) एकमात्र बलवान् है और (इन्द्रसखा) प्रभुका मित्र बनकर (जिगीवान्) विजयी होकर (शत्रूयतां भोजनानि आभर) शत्रुता करनेवाले दुष्टोंके उपभोगके सब साधन यहां ले आ । उनके पास भोगके साधन न रहें ऐसा कर ।

सिंह प्रतीको विशो अद्धि सर्वा व्याघ्रप्रतीकोऽव बाधस्व शत्रून् । एकवृष इन्द्रसखा जिगीवाँ शत्रूयतां आ भरा भोजनानि ॥

अथर्व० ४।२२।७

(सिंह प्रतीकः) सिंहके समान प्रतापवान् बनकर (सर्वाः विशः अद्धि) सब प्रजाजनोंसे कर प्राप्त करके उसी अंशका भोग कर । (व्याघ्रप्रतीकः शत्रून् अव-बाधस्व) व्याघ्रके समान समर्थ बनकर सब शत्रुओंको अपनेपर हमला करनेमें बाधा उत्पन्न कर । (मन्त्रका अन्य भाग पूर्व मंत्रके समान ही है) ।

राजाको करका अर्पण

यहां इस मंत्रमें सिंहके समान प्रभावी बन और (सर्वाः विशः अद्धि) सब प्रजाजनोंको खा ऐसा पदशः अर्थ है । पर यह पूर्वापर मंत्रोंके कथनसे विरुद्ध है । यहांके इन पदोंका सच्चा अर्थ यह है कि राजा अपना शासन व्यवहारका सब व्यय प्रजाजनोंसे प्राप्त धनसे ही करे ।

' कर, बलि, राजस्वं ' ये पद प्रजासे लिये करभारके लिये संस्कृत भाषामें प्रयुक्त होते हैं। प्रजासे राजा कर लेवे और उससे अपने सब शासनका व्यय चलावे, यह भाव इस मंत्रभागका है। वैदिक राष्ट्रगीतमें—

' वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ' अथर्व १२।१।६०

' हम सब प्रजाजन तुम्हें कर देनेवाले होकर रहेंगे ' ऐसा कहा है। इसका भाव ही इस मंत्रमें है। प्रजा कर देवे और उस करसे राजा शासन चलावे। यह भाव यहां स्पष्ट दीखता है। राजाको अपना शासन व्यय चलानेके लिये धन चाहिये। प्रजा उस करको अवश्य देवे। कदापि राजाको कर देनेमें हिचकिचाहट न करे। उत्तम प्रजाका यही लक्षण है। दुष्ट प्रजा वह है कि जो राजाको कर नहीं देती। ठीक हिसाब नहीं बताती और राजाको ठगाती है। उत्तम प्रजा योग्य कर देती है।

आयका छठां भाग राजाको कररूपमें देना चाहिये। प्रजा इस भागको राजाके पास पहुंचावे और राजा उसीमेंसे सब शासन व्यय भुगतावे। इस तरह राजा और प्रजा इन दोनोंके कर्तव्य यहां बताये हैं। " वयं बलिहृतः स्याम " यह वचन प्रजाजन अपने राष्ट्रगीतमें बोल रहे हैं। प्रजाजन स्वयं कह रहे हैं कि ' हम स्वयं कर देनेवाले बनकर इस राज्यमें रहेंगे। ' राजा जबरदस्तीसे कर लेगा ऐसा यहां नहीं है, पर प्रजा ही स्वयं कर राजाके पास पहुंचा देती है। वह जानती है कि कर देना प्रजाका कर्तव्य है।

जो प्रजा अपने राजाको कर न देनेका विचार करती है, नाना युक्तियोंसे कर कम देनेका सोचती है, हिसाबोंमें मिथ्या कपटजाल करके राजाको ठगाती है वह प्रजा रक्षणीय नहीं हो सकती। कर देनेके विषयमें यहां इतना ही लेख पर्याप्त है। प्रजाका कर्तव्य राजाको कर देना है और राजाका कर्तव्य प्रजाका उत्तम प्रकारसे रक्षण करके प्रजाकी सब प्रकारकी उन्नति करना है। इस तरह राजा और प्रजा अपने कर्तव्य पालन करते रहेंगे तो दोनोंके लिये वहां सुख हो सकता है।

शूरके लक्षण

प्रजाका संरक्षण राजा शूरपुरुषोंद्वारा करवाता है। इसलिये शूर पुरुषोंके लक्षण वेद किस तरह बताता है, यह अब देखना आवश्यक है—

शूरग्रामः सर्ववीरः सहावान् जेता पवस्व
सनिता धनानि। तिग्मायुधः क्षिप्रधन्वा
समत्स्वषाळ्हः साह्वान् पृतनासु शत्रून्॥

ऋ. ९।९०।३

(शूरग्रामः) शूरोंका संघ बनानेवाला, (सर्ववीरः) सब प्रकारके वीरोंको अपने पास रखनेवाला, (सहावान्) शत्रुका पराभव करनेवाला, (जेता) विजयी, (तिग्म-आयुधः) तीक्ष्ण शस्त्रोंको बर्तनेवाला, (क्षिप्र-धन्वा) अतिशीघ्र धनुष्योंसे बाण शत्रुपर फेंकनेमें प्रवीण, (समत्सु अषाळ्हः) युद्धोंमें शत्रुके लिये अजिंक्य, (पृतनासु शत्रून् साह्वान्) सेनाओंके युद्ध होनेके समय शत्रुओंका पराभव करनेवाला, (धनानि सनिता) धनोंका दान करनेवाला, तू वीर है, तू सब प्रजाजनोंको सुरक्षित करके सबको पवित्र बनाओ।

इस मंत्रका प्रत्येक शब्द वीरके लक्षण बता रहा है। वीर ऐसा हो। ऐसे वीरोंको राष्ट्रके संरक्षणके कार्यमें लगाया जावे। ये वीर ही शत्रुको दूर करनेमें समर्थ हो जायेंगे और इनके प्रयत्नसे राष्ट्र सदा सुरक्षित रह सकता है।

जो राजा प्रजाका रक्षण करता है उसका वर्णन थोडासा और देखिये—

हन्ति रक्षः बाधते परि अरातीः
वरिवः कृण्वन् वृजनस्य राजा॥ ऋ. ९।९७।१०

(वृजनस्य राजा) बलका स्वामी राजा (वरिवः कृण्वन्) धन निर्माण करता है, (रक्षः हन्ति) राक्षसोंका वध करता है और (अरातीः परिबाधते) शत्रुओंको सब ओरसे बाधा पहुंचाता है। और देखिये—

रक्षसः संपिनष्टन॥ १८॥
यातूनां पराशरः अभवत्॥ २१॥
पुमांसं यातुधानं जहि
मायया शासदानां स्त्रियं जहि॥ २४॥
प्रति चक्ष्व, जागृतं, रक्षोभ्यो वधं,
यातुमद्भ्यः अशनिं अस्यतम्। ऋ ७।१०४।२५

' राक्षसोंका चूर्ण करो, यातना देनेवालोंको दूर करनेवाले बनो, दुष्ट पुरुषका वध करो, कपटी ताप देनेवाली स्त्रीका भी वध करो। देखो, जागो, दुष्टोंको वध और यातना देनेवालोंके ऊपर बिजली जैसे अस्त्र फेंको और इन

सबको दूर करो। समाजमें ये न रहें ऐसा करो। इनको दूर करके समाजकी सुरक्षा करो।

और देखो—

विश्वा अरातीः तपोभिः अपदह। ऋ. ७।१।७
अररुषः अघायोः धूर्तेः पाहि। ऋ ७।१।१४
दस्यून् ओकसः आजः। ऋ. ७।५।६

'सब शत्रुओंको ज्वालाओंसे जला दो। पापी धूर्त हिंसक शत्रुसे प्रजाका संरक्षण करो। अपने घरसे घातपात करनेवालोंको दूर करो।' तथा—

अंहसः नः रक्ष।
रिषतः तपिष्ठः दह। ऋ. ७।१५।१३

'पापियोंसे हमें सुरक्षित रखो। घातकोंको जला दो।' यहां जलानेका तात्पर्य उनसे उपद्रव न हो ऐसा करना है।

वनुषः मर्त्यस्य वधः जहि। ऋ ७।२५।३

'हिंसक मनुष्यके वधकारक शस्त्रका नाश कर।' अर्थात् हिंसक मनुष्यके पास शस्त्र रहने न दे। सब हिंसक क्रूर लोगोंको निःशस्त्र या शस्त्रहीन किया जाय। उनके पास शस्त्र रहेंगे तो वे उससे जनताको कष्ट देंगे। इसलिये उनके पास शस्त्र न रहे तो वे वैसे घातपात नहीं करेंगे। इसलिये दुष्ट क्रूर जनोंको शस्त्रहीन रखना चाहिये।

अज्ञाता अशिवासः दुराध्यः वृजनाः
नः मा अवक्रमुः। ऋ. ७।३२।२७

'अज्ञात मार्गसे दुष्ट हिंसक क्रूरकर्मा शत्रु हमपर कुटिलतासे आक्रमण न करें।' इतनी सुरक्षा राष्ट्रमें होनी चाहिये। ज्ञात अज्ञात, कुटिल और सरल, तथा शुभ और अशुभ सभी मार्गोंमें प्रजाजनोंका उत्तम संरक्षण होना चाहिये।

अर्यः तिर। ऋ. ७।६८।२
द्वेषः यावय। ऋ. ७।७७।४
अमित्रान् हतं। ऋ. ७।८५।२
दुःशंसं दुर्विद्वांसं आभोगं रक्षस्विनं
हन्मना हतम्। ऋ. ७।९४।१२
ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे किमीदिने अत्वायं
द्वेषः धत्तम्। ऋ. ७।१०४।२

'शत्रुओंको भगा दो। दुष्टोंको दूर करो। अमित्रोंका वध करो। दुष्टों, अज्ञानीयों, भोगी, राक्षसोंको शस्त्रोंसे मारो। ज्ञानके द्वेष्टा, कच्चा मांस खानेवाले, क्या खांय ऐसा कहनेवाले अर्थात् सदा लूटमार करनेवाले जो महादुष्ट हैं उनका द्वेष करो।' ऐसे दुष्टोंका नियमन करो। ऐसे दुष्ट लोग राष्ट्रमें न घूम सकें ऐसा प्रबंध करो। इनके संचरण पर प्रतिबंध रखो।

अग्नितप्तेभिः अश्महन्मभिः तपुर्वधेभिः
अजरेभिः अत्रिणः पर्शाने निविध्यतं,
ते निः स्वरं यन्तु। ऋ. ७।१०४।५

'अग्निके समान तपे, पत्थरोंसे मारनेके समान प्रहार करनेवाले, तप्त प्रहार करनेवाले, क्षीण न होनेवाले शस्त्रोंसे खाऊ दुष्ट लोगोंको पीठपर प्रहार करो। वे भयभीत होकर चुपचाप चले जांय।' अर्थात् कोई दुष्ट हमारे समीप न रहे।

यहां दुष्टोंके लिये 'अत्रिन्' पद है। 'अत्ति इति अत्री' जो खाता है वह अत्रि है। तथा जो 'अतति इति अत्रिः' जो भागता है वह अत्रि है। जो सज्जनोंको खा जाता है और दौडकर दूसरे स्थानमें जाकर छिपकर रहता है वह अत्रि है। यह दुष्टोंका लक्षण है। ऐसे दुष्टोंको समाजमें रहने नहीं देना चाहिये।

शत्रुके साथ सामना

शत्रुका सामना करके शत्रुका प्रतिकार कैसा करना चाहिये इस विषयके कुछ मंत्र अब देखिये—

विश्वा दृंहितानि पुरः सप्त सहसा
सद्यः विततर्द। ऋ. ७।१८।१३

'शत्रुके सब सातों कीले अपने बलसे तूने तत्काल तोड दिये।' अपना बल ऐसा होना चाहिये।

द्रुह्यवः षष्टिः शता षट् सहस्रा षष्टिश्च
अधि षट् वीरासः निषुषुपुः। ॥ १४ ॥
शत्रवः शश्वन्तः ररधुः। ऋ. ७।१८।१८

"द्रोह करनेवाले शत्रुके ६६६६६ वीरोंको सुला दिया अर्थात् वध किया। शत्रु हमेशाके लिये नष्ट किये गये।" यहां हजारों शत्रुओंका वध करनेका उल्लेख है। अवसर आनेपर इतना वध करना पडता है। और ऐसा करना ही चाहिये।

नव नवतिं पुरः अहन् ऋ. ७।१९।५

'शत्रुके ९९ नगरियोंका विध्वंस किया।' शत्रुका ऐसा नाश करना ही होता है। जब इतना नाश करनेके विना शत्रुका बल नष्ट न हो जाय तो ऐसा वध करना ही चाहिये।

दुर्गे मर्तासः नः अमन्ति, अमित्रान् निश्नथिहि ॥
ऋ. ७।२५।२

'दुर्गमें रहकर जो प्रजाजनोंको कष्ट देते हैं, उन शत्रुओंको विनष्ट करो।' ये पुनः कष्ट नहीं देंगे ऐसा प्रबंध करो। शत्रु कीलेमें रहा तो उसका बल बढता है। इसलिये उसका विनाश करनेके लिये बडा प्रयास करना चाहिये।

जनताका कल्याण

राज्यशासनका ध्येय सब लोगोंका कल्याण करना है। दुष्ट लोगोंको दण्ड दिया जाता है वह शासकोंको अभीष्ट नहीं है, पर उनको दण्ड दिये विना विश्वमें शान्ति नहीं रह सकती, इसलिये दण्ड देनेका कार्य राजा करता है। मुख्य उद्देश सबका कल्याण ही है देखिये—

विश्वे जनासः शर्मन्। ऋ. १०।६।६

'सब लोकोंको सुख मिले' इसलिये राज्यशासन चलाया जाता है

विश्वा अमूरा वृषणा। ऋ. ७।६१।५

'सब लोगोंको अमूढ अर्थात् ज्ञानी बनाना है, और बलवान् भी बनाना है।' राज्यशासन इसीलिये है।

विश्वा सुपथानि सुगाः। ऋ. ७।६२।६

'सब उत्तम मार्ग सबके जानेके लिये सुगम हों।' अर्थात् किसी भी उन्नतिके मार्गसे जानेके लिये किसीको प्रतिबन्ध न हो। सब यथेच्छ उन्नति करें और उत्तमसे उत्तम योग्यता प्राप्त करें। अभ्युदय और निश्रेयसका मार्ग सबके लिये सुगम हो, कोई कठिनता किसीको भोगनी न पडे।

बुद्धिमानोंकी प्रशंसा

धियः अविष्टं, पुरंधिः जिगृतं। ऋ. ७।६४।५

'बुद्धियोंकी सुरक्षा हो, और विशाल बुद्धिकी सर्वत्र प्रशंसा हो।' जो विशाल बुद्धिवाला हो उसकी प्रशंसा सब करें। राष्ट्रमें बुद्धिमानोंका सन्मान हो। और बुद्धिका संवर्धन होता रहे, ऐसा विद्या प्रसारका प्रबंध होना चाहिये।

धन किसका है?

राष्ट्रमें धनकी वृद्धि होनी चाहिये। बुद्धिके साथ धन राष्ट्रमें रहना चाहिये। बुद्धि और धनसे ही राष्ट्रकी उन्नति हो सकती है इसलिये कहा है—

जिग्युषः धनम् ॥ १२ ॥

तरणिः जयति, क्षेति, पुष्यति। ऋ. ७।३२।९

'विजय प्राप्त करनेवालेका ही धन होता है।' 'जो शत्रुको पार करता है वही विजय पाता है, वही यहां ठीक रीतिसे रहता है और वही हृष्टपुष्ट भी होता है।

यह नियम इस विश्वमें कार्य कर रहा है। मनुष्य इस नियमको जाने और ऐसे बनें। विजयी बननेका अर्थ यह नहीं है कि दूसरोंपर सदा हमला करते रहना। इसकी आवश्यकता नहीं है। परंतु अपनेमें शुभ कर्म करनेकी विशेष शक्ति प्राप्त करनेका अर्थ ही विजय प्राप्त करना है।

रक्षक कैसा हो?

वैयक्तिक सुरक्षा और राष्ट्रकी सुरक्षा करनेके नियम समान ही होते हैं। अतः इस विषयमें कुछ वचन यहां देखने योग्य है—

सुप्रतिचक्षं दक्षाय्यं अवसे अस्ते न्यृण्वन्
ऋ. ७।१।२

'उत्तम निरीक्षण करनेवाले बलवान् वीरको घरमें संरक्षणके लिये नियुक्त करते हैं।' (सु-प्रति-चक्षः) उत्तम रीतिसे प्रत्येक वस्तुका निरीक्षण करनेवाला, किसी तरह शिथिलतासे व्यवहार न करनेवाला तथा (दक्षाय्यः) दक्षतासे कार्य करनेवाला तथा स्वयं बलवान् ऐसा जो वीर होगा, उस वीरको अपने (अस्ते) घरमें (अवसे) संरक्षण करनेके लिये रखो। घरके रक्षणके कार्यके लिये ऐसे योग्य व्यक्तिको रखनेको यहां कहा है, पर ग्रामरक्षकों और राष्ट्र-रक्षकोंमें भी ये ही गुण चाहिये। क्योंकि रक्षकोंके गुण समान ही सर्वत्र होने चाहिये। रक्षणका क्षेत्र छोटा हो या बडा हो, उससे रक्षकके गुणोंमें परिवर्तन नहीं हो सकता।

पित्र्यासः मर्ता नरः अनीकं पुरुत्रा विभेजिरे।
ऋ. ७।१।९

'संरक्षण करनेवाले नेता लोग अपनी सेनाको अनेक स्थानोंमें विभक्त करके रखते हैं।' अपने राष्ट्रमें जहां जितनी सेनाकी आवश्यकता हो, उतनी सेना वहां संरक्षणार्थ रख देते हैं। राष्ट्रके क्षेत्रमें इस तरह आवश्यकतानुसार सेनाके विभाग रख देते हैं और इस रीतिसे राष्ट्रका संरक्षण करते हैं।

एकः भीमः विश्वा कृष्टीः च्यावयति। ऋ. ७।१९।१

'एक ही सामर्थ्यवान् वीर शत्रुके सब सैनिकोंको हिला देता है।' अपने सैनिक थोडे हैं और शत्रुके अधिक हैं, इसीलिये डरना नहीं चाहिये। यदि अपने थोडेसे सैनिक उत्तम युद्धकलामें निपुण हों तो वे थोडेसे सैनिक बडी शत्रु-सेनाको भी परास्त करते हैं। इसलिये अपनी सेनाको युद्धकलामें निपुण बनाना चाहिये। अशिक्षितोंकी बडी सेनाको युद्धनिपुणोंकी छोटी सेना भी पराजित कर सकती है।

युध्मो अनर्वा खजकृत् समद्वा शूरः सत्राषाड् जनुषेमषाळ्हः। व्यास इन्द्रः पृतनाः स्वोजा अधा विश्वं शत्रूयन्तं जघान॥ ऋ. ७।२०।३

'(युध्म.) युद्ध करनेमें कुशल (अनर्वा) युद्धसे न भागनेवाला, (खज-कृत्) प्रखर युद्ध करनेवाला, (समद्वा) युद्धमें जानेके लिये सदा सिद्ध रहनेवाला, (शूरः) जो स्वयं शूर है तथा (जनुषा सत्राषाड्) जन्म स्वभावसे ही शत्रुका पराभव करनेवाला (अ-षाळ्हः) स्वयं कभी पराभूत नहीं होता, (स्व-ओजाः) स्वयं अपनी शक्तिसे ही अत्यंत बलशाली ऐसा जो वीर है वह (पृतनाः वि आस) शत्रु सेनाओंको अस्तव्यस्त करता है। वह (अथ विश्वं शत्रूयन्तं जघान) सब शत्रुता करनेवालोंका विनाश करता है। ऐसा वीर शत्रुके समान आचरण करनेवालोंको जीवित नहीं रखता। सब शत्रुओंका नाश करता और अपने राष्ट्रके प्रजाकी उत्तम सुरक्षा करता है।

पृतनासु प्रुरं अभितस्थौ। ऋ. ७।८।४

'युद्धोंमें बडे शत्रुके साथ सामना करनेके लिये भी वह खडा रहता है।' डरता नहीं। शत्रुकी बडी सेनाका भी पराभव करता है।

विश्वेभिः अर्कैः सुमना भुवः। ऋ. ७।८।५

'अपने सब सैनिकोंके साथ प्रसन्न मनसे बर्तता है।' इसीसे उसकी शक्ति बढती जाती है। अपनी सेनाके प्रत्येक सैनिकको ऐसा प्रतीत होना चाहिये कि मेरे साथ सेनापति प्रसन्न है। इससे सेनाका उत्साह बढता है और सैनिक अपनी पूरी शक्ति लगाकर लडते हैं। सेनाको प्रसन्न रखनेकी सूचना यहां मिलती है।

जनानां नृपातारः अवृकासः। ऋ. ७।७४।६

'लोगोंका संरक्षण करनेवाले आरक्षक (अ-वृकासः) हिंसाशील न हों।' वे क्रूर न हों।

उग्रा अयासुः युद्धेषु शवसा प्रमदन्ति।

ऋ. ७।५७।१

'लडनेवाले, आक्रमण करनेवाले शूरवीर अपने ही शक्तिसे आनंदित होते हैं।' अपने बलसे वे शत्रुपर आक्रमण करते हैं और उसीसे वे प्रसन्न होते हैं।

इमे रुक्मेभिः आयुधैः तनूभिः भ्राजन्ते।
समानं आञ्जि कं आशते। ऋ. ७।५७।२

'ये सैनिक (समानं आञ्जि) सबके सब एक जैसा गणवेश धारण करते हैं और सबके सब अपने शरीरोंपर समान अलंकारों और शस्त्रोंको धारण करनेसे सुशोभित दीखते हैं।' यह सैनिकोंका वर्णन है। सब सैनिकोंका गणवेष एक जैसा हो। इससे सैन्यका प्रभाव बढता है। ऐसी सेनाको देखते ही शत्रुपर प्रभाव विशेष पडता है, जिससे अपना विजय होनेमें सहायता होती है। अपनी सेनाका प्रभाव बढानेके लिये इस तरह प्रभावी गणवेष रखना अत्यंत आवश्यक है।

भीमासः तुविमन्यवः अयासः। ऋ. ७।५८।२

'आक्रमण करनेवाले वीर शरीरसे भयंकर दीखनेवाले हों और अत्यंत उत्साही हों।' ऐसे वीर ही शत्रुपर आक्रमण कर सकते और उनको पराभूत कर सकते हैं।

विश्वानि दुर्गा तिरः। ऋ. ७।६०।१२

'सब संकटोंसे मुक्त करके प्रजाजनोंकी सुरक्षा करो।' यहां सब कठिन प्रसंगोंसे जनता की मुक्ति करके उनको सुरक्षित करना रक्षकोंका कर्तव्य बताया है।

विश्वस्य स्थातुः जगतश्च गोपा। ऋ. ७।६०।२

'सब स्थावर जंगमका संरक्षण करनेवाला रक्षक हो।' शत्रुसे सबका संरक्षण होना चाहिये।

धृष्णोः शर्धस्य धुनिः॥ ७॥
उग्रः पृतनासु साळ्हा। ऋ. ७।५६।२३

'विजयी अथवा शत्रुपर आक्रमण करनेवाले संघका वेग प्रचण्ड होता है।' 'जो उग्र वीर है वह युद्धोंमें शत्रुके सैनिकोंका पराभव करता है।'

स्थिरधन्वने क्षिप्रेषवे स्वधाव्ने अषाळ्हाय सहमानाय वेधसे तिग्मायुधाय गिरः भरत।

ऋ. ७।४६।१

'जिसका धनुष्य स्थिर है टूटता नहीं, जो अतिशीघ्र बाण चलाता है, जो अपनी धारणाशक्तिसे रहता है, जो

शत्रुका पराभव करता है, परंतु कभी पराभूत नहीं होता, जो तीक्ष्ण आयुधोंसे शत्रुका वेध करता है, उस वीरकी प्रशंसा करो।' इस तरहके वीर रक्षणके कार्यमें नियुक्त करने चाहिये।

सहमान और असह्य

यहां 'सहमान और असह्य' ये दो पद हैं। ये दो पद ध्यानमें रखने चाहिये। विजय प्राप्त करनेके लिये ये दो प्रकारके बल प्राप्त करने चाहिये। एक 'सहमान' होना है। इसका अर्थ यह है कि शत्रुका आक्रमण हो जानेपर स्वयं अपने स्थानपर स्थिर रहना। शत्रुके आक्रमणसे पराभूत न होना और न भाग जाना। यह अपने स्थानपर स्थिर रहनेका जो बल है उसका नाम 'सहमान' है। दूसरा बल 'असह्य' पदसे बताया है, 'अ-षाळ्ह' भी इसीको कहते हैं। शत्रुके लिये असह्य आक्रमण करनेका यह बल है। अपना आक्रमण शत्रुपर होनेपर शत्रुको स्थान-भ्रष्ट होकर भाग जाना ही चाहिये। ऐसा जो बल है उसका नाम 'असह्य' है। ये दोनों बल व्यक्तिमें और राष्ट्रमें रहने चाहिये तब विजय मिलता है। विजय यौंही नहीं मिलता, उसके लिये प्रयत्न करना चाहिये, उसके लिये सामर्थ्य प्राप्त करना चाहिये। यह सब इन दो शब्दोंसे यहां सूचित किया है। जो अपने वैयक्तिक तथा राष्ट्रीय विजयके इच्छुक हों, वे इन सामर्थ्योंको अपनेमें बढावें।

राजाके संबंधमें

अब राजाके संबंधमें कुछ गुणोंका यहां थोडासा विचार करना चाहिये। उन गुणोंका वर्णन करनेवाले ये मन्त्र हैं-

अनुत्तमन्युः राजा। ऋ. ७।३१।१२

'राजा अप्रतिम उत्साह युक्त होना चाहिये।' निरुत्साह, निराशा, व्यग्रता उसके पास नहीं रहनी चाहिये। क्योंकि प्रजाका उत्साह बढानेवाला राजा होता है। यदि वही हतोत्साह हुआ, उदास हुआ, तो प्रजाका उत्साह कौन बढायेगा। इसलिये राजामें उत्साह अवश्य चाहिये अर्थात् राष्ट्रमें उत्साहपूर्ण वायुमण्डल रहना चाहिये। उत्साहसे शक्ति बढती है, उत्साहसे ही महान् कार्य किये जाते हैं। उत्साह ही विजय देता है।

राजा राष्ट्राणां पेशः, अनुत्तमं अस्मै क्षत्रं। ऋ.७।३४।११

सुक्षत्रः राजा। ऋ. ७।६४।१

'राजा राष्ट्रका स्वरूप है, सौंदर्य है। अतः इसके पास उत्तम क्षात्रबल रहना चाहिये। उत्तम क्षात्रबलसे ही राजा संमानके योग्य होता है।' अर्थात् जिस राजाके पास उत्तम क्षात्र बल रहता है वह राष्ट्रका वैभव बढाता है। निर्बल राजा राष्ट्रकी उन्नति नहीं कर सकता।

सुपारक्षत्रः राजा गंभीरशंसः। ऋ. ७।८७।६

'उत्तम रीतिसे प्रजाको कष्टोंसे पार करनेवाला राजा प्रशंसाके लिये पात्र होता है।' राजाका यह कर्तव्य ही है। 'सु-पार-क्षत्रः' उत्तम रीतिसे पार करनेमें दक्ष ऐसा राजा हो।

अदब्धस्य व्रतस्य स्वराजः राजानः महः ईशते ॥६॥

राजानः अनाध्यं क्षत्रं आशत। ऋ. ७।६६।११

'न दबते हुए उत्तम व्रतका आचरण करनेवाले तेजस्वी राजा महत्त्वका स्थान प्राप्त करते हैं।' 'उत्तम राजा दुष्प्राप्य क्षात्र बलको प्राप्त करते हैं।'

'वैदिक राष्ट्र शासन' के विषयमें परिपूर्ण रीतिसे विवरण करना बडे ग्रन्थका विषय है इस छोटेसे निबंधमें हमने संक्षेपसे बताया है कि, प्रजाद्वारा नियुक्त होकर ग्रामकी ग्रामसभा, राष्ट्रकी राजसमिति, राष्ट्रका नियमन करनेवाला मन्त्रीमण्डल और उसका अध्यक्ष राष्ट्राध्यक्ष किस तरह वैदिक राष्ट्रशासनमें बनता है, सुयोग्य शासकोंके ही दुराचारसे किस तरह राक्षस बनते हैं, राष्ट्राध्यक्षके लिये कौनसे आदेश दिये जाते थे, अनियमसे चलनेवाले राजाकी क्या गति होती थी? वेदमें कितने राष्ट्रशासन कहे हैं, उनमें कौनसा शासन श्रेष्ठ है? प्रजाके आधारसे राजा किस तरह रहता है। राष्ट्र रक्षणके लिये कीलोंकी रचना, सुवर्ण और दुष्टवर्गके लोगोंके रहनेके पृथक् स्थान, कीलेके संरक्षक अधिकारी कैसे हों, संरक्षक सेनामें किनकी भरती की जाय, पुरोहितका राष्ट्ररक्षणमें कर्तव्य, राजाका कर, संरक्षण और शत्रुका सामना करना, विजय देनेवाले दो गुण, राष्ट्र रक्षणकी तैयारी, राजाके कर्तव्य इत्यादि विषयोंका यहां संक्षेपसे विचार किया है।

इस लेखमें मुख्यतः 'बहुपाय्य स्वराज्य' का शासन और 'राष्ट्रका संरक्षण' इन दो विभागोंका ही विचार किया है। राज्यशासनके अन्यान्य विषयोंका विचार अन्य निबंधोंमें स्वतंत्र रूपसे किया जायगा। और ये सब निबंध मिलकर राज्य शासन विषयक वेदके आदेशोंकी कल्पना दे सकेंगे।

प्रश्न

१ राष्ट्रकी कल्पना ऋषियोंने उत्पन्न की इस विषयका वेद मंत्र देकर उसका अर्थ करो ।

२ वैराज्य, शासन ग्रामसभा, राष्ट्रसमिति मंत्रीमण्डल ये कैसे बनते हैं और इनके कार्य क्या हैं ?

३ अध्यक्ष, राजा, अनियंत्रित राजा, कैसे होते हैं ?

४ रक्षकोंके राक्षस किस तरह होते हैं ?

५ राज्याभिषेकके समय राजाको कौनसे आदेश देते थे ?

६ राष्ट्रहितकी प्रतिज्ञा कौनसी है ?

७ बुरे राजाको हटाकर अच्छे राजाको किस तरह राज्यपर बिठलाते थे ?

८ भोज्य, साम्राज्य, महाराज्य, आधिपत्यमय राज्य, सामन्तपर्यायी राज्य, जानराज्य, स्वराज्य इन शासनोंके लक्षण बताइये ।

९ सब पृथिवीपर एक ही राजा हो यह घोषणा किसने और किस समय की ?

१० राजाका आधार कौनसा है ?

११ राष्ट्रके साथ बढनेका उपदेश देनेवाला मंत्र कौनसा है ?

१२ कीलोंसे रक्षण करनेके आदेश देनेवाले मंत्र बताओ ।

१३ सुवर्ग और दुर्वर्गके लोकोंका पृथक् स्थान नगरमें करनेसे कौनसे लाभ हैं ? और हानि क्या है ?

१४ कीलोंके अधिपति कैसे हों ?

१५ सेनामें किन लोगोंकी भरती की जाय ?

१६ पुरोहितके कर्तव्य क्या हैं ?

१७ राजाको देनेका कर राजा कैसा वसूल करे ?

१८ शूरके लक्षण बताओ ।

१९ शत्रुके साथ सामना करनेका स्वरूप बताओ ।

२० राष्ट्रशासनमें जनताका कल्याण ही एकमात्र हेतु है, इसके वचन देकर उनका स्पष्टीकरण करो ।

२१ उत्तम राजाके गुणोंका वर्णन करो ।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

इस '**पुरुषार्थ-बोधिनी**' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गई है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंकेही सिद्धान्त गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस '**पुरुषार्थ-बोधिनी**' टीकाका मुख्य उद्देश्य है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता के १८ अध्याय तीन विभागोंमें विभाजित किये हैं और उनकी एकही जिल्द बनाई है। मू० १०) रु० डाक व्यय १॥)

भगवद्गीता-समन्वय ।

यह पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीताका अध्ययन करनेवालोंके लिये अत्यन्त आवश्यक है। '**वैदिक धर्म**' के आकारके १३५ पृष्ठ, चिकना कागज। सजिल्दका मू० २) रु०, डा० व्य० ।=)

भगवद्गीता-श्लोकार्धसूची ।

इसमें श्रीमद् गीताके श्लोकार्धोकी अकरादिक्रमसे **आद्याक्षरसूची** है और उसी क्रमसे **अन्त्याक्षरसूची** भी है। मूल्य केवल ।॥), **डा**० व्य० ≤)

सामवेद कौथुमशाखीयः
ग्रामगेय [वेय प्रकृति] गानात्मकः

प्रथमः तथः द्वितीयो भागः।

(१) इसके प्रारंभमें संस्कृत-भूमिका है और पश्चात् '**प्रकृतिगान**' तथा '**आरण्यकगान**' है। **प्रकृतिगानमें अग्निपर्व** (१८१ गान) **ऐन्द्रपर्व** (६३३ गान) तथा '**पवमानपर्व**' (३८४ गान) ये तीन पर्व और कुल ११९८ गान हैं। **आरण्यकगानमें अर्कपर्व** (८९ गान), **द्वन्द्वपर्व** (७७ गान) **शुक्रियपर्व** ८४ गान) और **वाचोव्रतपर्व** (४० गान) ये चार पर्व और कुल २९० गान हैं।

इसमें पृष्ठके प्रारंभमें ऋग्वेद-मन्त्र है और सामवेदका मन्त्र है और पश्चात् गान हैं। इसके पृष्ठ ४३४ और मूल्य ६) रु० तथा डा० व्य० ॥।) रु० है।

(२) उपर्युक्त पुस्तक केवल '**गानमात्र**' छपा है। उसके पृष्ठ २८४ और मू० ४)रु. तथा डा०व्य०॥)रु. है।

आसन ।

" योगकी आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति "

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है कि शरीरस्वास्थ्यके लिये आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यन्त सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्य भी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २॥) दो रु० आठ आने और डा० व्य० ॥) आठ आना है। म० आ० से २॥।≶) रु० भेज दें।

आसनोंका चित्रपट— २०"×२७" इंच मू० ।) रु., डा० व्य० ~)

मन्त्री— स्वाध्यायमण्डल 'आनन्दाश्रम' किल्ला-पारडी (जि० सूरत)

मुद्रक और प्रकाशक व. श्री. सातवळेकर, बी.ए., भारत-मुद्रणालय, किल्ला-पारडी (जि. सूरत)